नवरत्न

चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति। भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकींच गतिम्।।१।। निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः। सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति।।२।। सर्वेषां प्रभुसंबंधो न प्रत्येकमिति स्थितिः। अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिंता का स्वस्य सोऽपि चेत्।।३।। अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम्। यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना।।४।। तथा निवेदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे। विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः।।५।। लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति। पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः।।६।। सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया। अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्।।७।। चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति। तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंतां द्रुतं त्यजेत्।।८।। तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णःशरणं मम। वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।।९।।

।। इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितं नवरत्नं सम्पूर्णम्।।

प्रवचनकर्ता

गोस्वामी श्याममनोहर

प्रवचन दिनांक २३.८.८४

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीगोपीजनवल्लभायनमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्योनमः

चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यतिलौकिकींच गतिम्।।१।।
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति।।२।।
सर्वेषां प्रभुसंबंधो न प्रत्येकमिति स्थितिः।
अतोऽन्यविनियोगेऽपिचिंताकास्वस्यसोऽपि चेत्।।३।।
अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम्।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना।।४।।
तथा निवेदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे।
विनियोगेऽपिसा त्याज्या समर्थोहिहरिः स्वतः।।५।।
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति।
पुष्टिमार्गस्थितोयस्मात्साक्षिणो भवताखिलाः।।६।।
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्।।७।।
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंतां द्रुतं त्यजेत्।।८।।
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णःशरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः।।९।।

यह नवरत्न ग्रंथ ही नहीं, षोडशग्रंथोंका प्रत्येक ग्रंथ श्रीमहाप्रभुजी द्वारा अपने अनन्य सेवकोंको पुष्टिमार्गपर किस प्रकार चलना सरल हो, इस हेतुसे दिया गया उपदेश है. परन्तु महापुरुषोंकी वाणीमें, महानुभावोंकी वाणीमें यह गुण होता है कि वह कभी भी

कोई भी बात करें या समझायें और वह भले ही एक व्यक्तिको इंगितकी गई हो, उसका लाभ सभीको प्राप्त होता है. अलग अलग अधिकारानुसार अलग अलग व्यक्ति उसका लाभ ले सकते हैं. जैसे सागर किनारे कोई संध्या समय घूमने जाता है, कोई बच्चा खेलने जाता है, वहां घर बनाता है, किला बनाता है, पुल बनाता है, कोई ताजी हवा खाने जाता है, कोई कसरत करने जाता है, कोई अपना गुब्बारा अथवा भेलपूरी बेचने जाता है, कोई नित्य घोड़ेकी सवारी करने जाता है, कोई जेब काटने भी जाता है. सागरका किनारा तो बहुत विशाल है. प्रत्येक व्यक्ति सागरके किनारे घूम सकता है और जो घूमता है उसे कोई न कोई लाभ तो अवश्य मिलता है. परन्तु क्या लाभ मिलता है यह तो उस व्यक्तिके अपने अधिकार एवं भावनाका विषय है. इसलिये हमें इस विवेचनमें नहीं पड़ना है. परन्तु सागर जैसी ही विशालता महापुरुषोंकी वाणीमें भी होती है.

गीता भगवानने अर्जुनकी उस समयकी जो समस्या थी उसके समाधान रूपमें कही, और वह समस्या भी उसी समय उठी हुयी समस्या थी. एक प्रकारसे देखे तो अर्जुनको युद्ध करनेका प्रसंग पहले भी आया था और बादमें भी आया होगा और प्रत्येक युद्धके प्रसंगमें कोई गीताका उपदेश नहीं हुवा और आवश्यकता भी नहीं थी. परन्तु जो उपदेश अर्जुनको प्राप्त हुवा उसे हम देख सकते हैं कि कितना गंभीर है. हजारों वर्ष बीत गये, प्रत्येक आचार्यने उस पर भाष्य लिखा. आज भी गीतापर भाष्य, टीका, व्याख्यान, प्रवचन होते हैं. कोई भी मार्ग, कोई भी काल, कोई भी

समस्या ऐसी नहीं है कि जिसका समाधान हम गीतामें ढूंढ न सकें. ज्ञानमार्गीय आचार्योंको गीतामें ज्ञान दिखाई देता है, कर्ममार्गीय आचार्योंको कर्म दिखाई देता है, भक्तिमार्गीय आचार्योंको भक्ति दिखाई देती है, प्रपत्तिमार्गीय आचार्योंको प्रपत्ति दिखलाई देती है. जिसको जो चाहिये वह सब मिल सकता है, सागर है. अर्जुनकेलिए मुद्देकी बात कितनी थी ? यही ना कि मुझे महाभारतका युद्ध करना है या नहीं ? केवल इतना ही कहा होता कि **ले, तू युद्ध कर,** तो? बहुत विस्तारपूर्वक उपदेशकी, अठारह अध्यायोंकी अपेक्षा नहीं थी इसमें; परन्तु महापुरुषोंकी वाणीमें गांभीर्य होता है. एक ही बात कहते हैं पर वह एक बात ऐसी होती है कि सभीपर लागू होती है. कही एकके अर्थ परन्तु लागू सबपर होती है. कही तो एक देश, एक कालकेलिये और कही भी एक देश व एक कालमें परन्तु सर्वदेश, सर्वकालमें इसका लाभ मिलता है.

उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजीके अनन्य सेवकोंकी कुछ न कुछ समस्याऐं थीं और आपश्रीने उनके समाधानकेलिए षोडश ग्रंथमेंका एक एक ग्रंथ रचा. अगर वह संदर्भ देखें तो व्यक्तिगत दिखलाई देता है परन्तु जब उपदेश देखें तो बहुत व्यापक संदर्भ है.

मेरे इस कथनका आशय तुम इस प्रकार नहीं ले लेना कि नवरत्नग्रंथ, जिसका हम विचारकर रहे हैं, उसमें प्रत्येक चिंताके निवारणका कोई अचूक इलाज बताया गया ह. यह नवरत्न ग्रंथ किसी ऐसे इलाजका उपदेश नहीं है कि व्यवसाय नहीं चलता हो, कन्याको वर नहीं मिलता हो और चिंता होती हो और

हम नवरत्नका पाठ करने बैठ जायें तो पंचायत खड़ी हो जायेगी. इससे चिंता निवृत्त नहीं होगी परन्तु बढ़ जायेगी. इसलिए इस ग्रंथमें किस पकारकी चिंताका समाधान है उसका हमें विचार कर लेना चाहिये. इतना तो निश्चित है कि सर्वप्रथम महाप्रभुजीके वचन यह हैं कि **चिंता कापि न काया** किसीभी प्रकारकी चिंता नहीं करनी; किन्तु **कोई भी चिंता**में यह सारी चिंतायें नहीं आतीं. कोई कहे कि मैंने मटकेका नम्बर लगाया है वह आयेगा या नहीं? इसकी चिंता करनी या नहीं? हम कहें कि लो नवरत्नका पाठ करो. वहां भी नौ का आंकड़ा है और यहां भी नौ श्लोक हैं, नौ के आंकड़े पर लगा दो पैसा !!

इस प्रकारकी चिंताओंकी निवृत्तिका उपाय नवरत्न नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके ध्यानमें नवरत्नका उपदेश देते समय ऐसी चिंतायें होंगी ही नहीं. जिसे आप कह रहे हैं कि चिंता नहीं करनी वह कोई अधिकारी है, उसके अधिकारको अनुलक्षित करके आप यह उपदेश दे रहे हैं. हर प्रकारकी चिंताका निवारण नवरत्नग्रंथके पाठसे नहीं हो सकता. नवरत्नग्रंथ श्रीमहाप्रभुजीने गाविन्ददुबेके लिये रचा था. गोविन्ददुबेने श्रीमहाप्रभुजीको यह पत्र लिखा था कि **आपने मोकूं सेवा पधराई है पर मेरे मनमें चिंता, व्यग्रता बहुत रहत है, सो मैं कहा करूं?** श्रीमहाप्रभुजीने उत्तरमें नवरत्न लिख कर भेजा और आज्ञाकी कि इसका तू पाठ करना, तेरी सारी चिंता निवृत्त हो जायेगी. गोविन्ददुबेकी चिंता दूर हो गई. आज हमें लगता है कि प्रत्येक प्रकारकी चिंताका निवारण इसमें है. ऐसा कदापि

नहीं है. मुझे लगता है कि जिन चिंताओंके निवारणार्थ आज हम नवरत्नका पाठ करते हैं वह चिंतायें श्रीमहाप्रभुजीके विचारमें आयें तो निश्चयसे आपश्रीको चिंता होजाये कि यह क्या हो गया नवरत्नग्रंथके साथ? **चिंता कापि न कार्या** इन पंक्तियोंमें सुधार करनेकी इच्छा हो जाये. कौनसी चिंताकी निवृत्तिके उपायको कौनसी चिंताके अर्थ हम उपयोगमें ला रहे हैं !!

मैं कई बार एक बात कहता हूं कि मच्छर मारनेकेलिए फ्लिटका उपयोग होता है, मशीनगनका नहीं. मशीनगन चलानी हो तो सामने कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये कि जिसके ऊपर मशीनगन चल सके. मच्छरके ऊपर हम धांय धांय करेंगे तो उसका कोई अर्थ नहीं होगा. गोंलियां तो बेकार जायेंगी ही और मच्छर भी इससे नहीं मरेंगे. मच्छर भी समझ जायेंगे और पीछेसे हमको काटने लगेंगे. इसलिये मच्छर, जो कि फ्लिटसे मारा जा सकता है उसकेलिए मशीनगनका उपयोग उचित नहीं. उसी प्रकार जिस प्रकारकी चिंताके अर्थ हम आजकल नवरत्नका पाठ करते हैं, यह श्रीमहाप्रभुजीके अनुसार मच्छर जैसी चिंतायें हैं. और नवरत्नमें वर्णित उपाय मशीनगन जैसे हैं. अतः वह कोई इस प्रकारकी चिंताओंके अर्थ नहीं हैं.

एक समय मैं नवरत्नपर प्रवचन कर रहा था. पूरा होनेके पश्चात एक महिलाने आकर मुझसे कहा **महाराज, इतने दिन आपने प्रवचन किया किन्तु मुझे हो रही चिंताओंमेंसे एक भी चिंताकी निवृत्तिका इसमें उपाय नहीं है** मैंने कहा **मैंने तो ग्रंथमें जिन जिन चिंताओंकी निवृत्तिका उपाय था वह बताया है.**

तुम्हें कदाचित ऐसी चिंताऐं न होकर किसी दूसरे प्रकारकी चिंताऐं होंगी तो उसने कहा **तो आजकल इस नवरत्नग्रंथकी उपयोगिता कितनी?** मैंने कहा **जरा भी नहीं, सर्वथा निरुपयोगी ग्रंथ है यह आज. जो चिंता तुम्हें सता रही है उस चिंताके निवारणके अर्थ नवरत्न निरुपयोगी ग्रंथ है ऐसा कहनेमें मुझे जरा भी शर्म नहीं है. बल्कि मुझे तो गौरवकी अनुभूति होती है कि तुम्हारी क्षुद्र चिंताओंके निवारण अर्थ यह नवरत्नग्रंथ नहीं है. यह कोई बड़ा हथियार है, कोई फ्लिटका पंप नहीं है कि जिससे हम मच्छर मार सकते हों.**

आज तो स्थिति ऐसी हो गयी है कि किसी ज्योतिषीने हमें बताया कि तुमको सूर्यकी बाधा है, तुम्हें सूर्यका अनुष्ठान करवाना होगा. फिर हमें किसीने कहा **सूर्यका अनुष्ठान अपने यहां नही करवाते. रोज नवरत्नके पहले श्लोकका पाठ करो, सूर्यकी बाधा निवृत्त हो जायगी.** अरे ! यह नवरत्न कोई दूसरा रत्न है, किसी दूसरे प्रकारकी **ग्रह बाधाऐं** इससे दूर होती हैं. जो ग्रहबाधा, जो चिंता हम समझ रहे हैं उसमें नवरत्नग्रंथका कुछ भी उपयोग नहीं है यह स्पष्ट अपने हृदय पर अंकित करलो. तत्पश्चात तुम्हें नवरत्न सुननेकी इच्छा हो तो अवश्य सुनो.

तुम्हें ऐसी चिंता हो कि किसी साझेदारके साथ साझेमें इतना पैसा अटक गया है और छः महीने हो गये. लाभभी नहीं हो रहा और वह ठीक तरहसे जबाबभी नहीं देता. और उससे अलग होनेकी कहते हैं तो वह भी नहीं मानता, पैसा फंस गया है अतएव

चिंता कापि न कार्या नवरत्नका पाठ करना चाहिये. अरे भाई अगर वह पैसा दे देगा तो तुम्हारी लौकिक गति होगी और महाप्रभुजी कहते हैं **भगवानापि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्**. तुम्हारी लौकिक गति नहीं होगी और वह तुम्हें कभी भी पैसा न दे तो तुम क्या करोगे? पाठ करनेसे तो और ज्यादा ही नुकसान होगा. कहावत है **लेने गई पूत खो आई खसम**. ऐसी गति न हो, उसका हमें ध्यान रखना चाहिये. नवरत्नका ऐसी स्थितियोंमें कुछभी उपयोग नहीं है. नवरत्नमें बहुत गंभीर विषय हैं जिनको हमें समझनेका प्रयास करना है. हमें जो चिंतायें हो रही हैं उनका निवारण होना चाहिये, अवश्य होना चाहिये. नहीं होगा ऐसा तो हम कैसे कह सकते हैं? उनके भी निवारणका उपाय हमें अवश्य करना चाहिये परन्तु मुद्देकी बात यह है कि नवरत्नका पाठ या नवरत्नमें वर्णित सिद्धान्त उन चिंताओंके निवारणके उपाय कदापि नहीं हैं.

मैं एक समय एक गांवमें गया था. जहां ठहरनेकी व्यवस्था थी वहां हमारे साथ मुम्बईका एक भाई भी था. अब गांवके बिचारे सीधे साधे लोग शामको इकट्ठे हों, फिर मुझसे पूछें **महाराज, यमुनाष्टकका पाठ स्नान करे बिना करना चाहिये या नहीं ? और सर्वोत्तमका पाठ स्नान बगैर करना या नहीं? ठाकुरजी की सेवामें यह धरा जा सकता है या नहीं?** मुझे निश्चितही बहुत आनन्द आ रहा था उनके प्रश्नोंमें, प्रश्नोंके समाधान करनेकी मुझमें बहुत उत्कंठा रहती थी. अब यह भाई जो मुंबईसे साथ आये

थे, पहले दो दिन तो कहते रहे कि यह गांव बहुत सुंदर है, यहांका वातावरण बहुत सुखद है, परन्तु तीसरे दिनही मुझे कहने लगे **बहुत ही बेकारकी चिंतायें यह लोग करते हैं. नहाओ या मत नहाओ, पाठ करना हो तो करो न करना हो तो न करो. इसमें चिंता किस बातकी? यह लोग तो बहुत ही नासमझ हैं, बहुत ही बेकार निष्प्रयोजन चिंतायें करते रहते हैं.** कुछ बोलूं ऐसी स्थितिमें मैं नहीं था. ठीक है तुम्हें बेकार लगती होंगी. फिर मुझसे बोला **आप भी इन लोगोंकेलिये समय व्यर्थ करते हो**. मैंने कहा **भाई ऐसा है कि मुझे ता समय व्यर्थ होता है, ऐसा नहीं लगता. क्योंकि सरदी हो तब दवा नहीं देनी और कैंसर हो तब ही दवा देनी ऐसा तो कोई सिद्धान्त नहीं है. जो बीमारी हो उसीकी तो दवा करनी चाहिये. जिसको जैसी चिंता हो उसके निवारणका वैसा ही उपाय हमको विचारना चाहिये जो हमारे पास हो तो**. मुझे कहने लगा **अब तो मैं यहांसे** ऊब **गया हूं इनकी बातोंको सुनसुनकर**. मुझे लगा कि यह तो बहुतही चिंतासे परे व्यक्ति है. उसके बाद वह व्यक्ति मुंबई आ गया.

एक महीने बाद मैं मुंबई आया तो पता चला कि मुंबई आते ही उस भाईको व्यापारमें ऐसा घाटा लगा कि घर छोड़ कर भाग गया. मैंने सोचा व्यापारमें नुकसानसे ऐसी चिंता कि घर छोड़कर भाग गया? शूरवीरके शरीरके ऊपर कोई घाव लगे तो कहीं भागता है! वह तो सामनेसे लड़ता है. अच्छे अच्छे युद्धोंका वर्णन पढ़ो तो पता चलेगा कि छप्पन छप्पन घाव

तलवारोंके, तीरोंके होनेके उपरान्त भी शूरवीर तो लड़ता रहता था. क्षत्रिय शत्रुके शस्त्रों द्वारा घाव लगनेपर भी लड़ता रहता है. फिर व्यापारीका अर्थ क्या? जितना भी घाटा हो, जितनी भी पीड़ाहो सभीको झेलकर व्यापार संभाल लेना ही व्यापारीका लक्षण है. भाग जाये तो क्या व्यापारी कहलायेगा? मुझे लगा कि निश्चितही गांवके लोगोंको जो चिंताये होती थी वह जो स्वयं सेवा कर रहे हैं, स्वयं जो पाठ कर रहे हैं, उन्हें लगें ऐसी ही चिंतायें थी. भले ही यहां मुंबईके पढ़े लिखे लोगोंको लगे कि बेकार चिंतायें हैं. मुझे तो यह चिंता बेकार लगी कि व्यापारीको व्यापारमें घाटा हो और वह घर छोड़कर भाग जाये! उसके कुटुम्बी लोग मेरे पास आये कि यह भाई घर छोड़कर भाग गया कहां गया होगा? आपको कुछ पता है? मैंने कहा कि **वह तो कह रहा था कि सभी बेकार चिंतायें करते हैं. उसने ऐसी बेकार चिंता कैसेकी?** ऐसे कभी कबाद उल्टा हो जाता है.

मूलमें होता क्या है कि हमको जो चिंतायें होती हैं वह हमको बड़ी लगती हैं और दूसरोंकी जो चिंता है वह नगण्य लगती हैं. **इसमें चिंता करनी चाहिये क्या?** मैं एक समय प्रश्नोत्तरी कर रहा था तब एक भाईने मुझसे कहा **महाराज, इतन विस्तारसे उत्तर क्यों दे रहे हो प्रश्नोंके? एक दो पंक्ति बता दो न लोगोंको. मैं लेकर आता हूं प्रश्न आपके पास, उनका उत्तर देना विस्तारपूर्वक.** मुझे लगा कि यह तो बहुतही सिरफिरा है. दूसरेके प्रश्नोंका उत्तर विस्तारसे दूं तो समय व्यर्थ होता है और इसके प्रश्नोंका उत्तर

विस्तारसे दूं? इसी प्रकार लगता है कि हम जो करते हैं वह बड़ी चिंता है, दूसरा करे तो बेकार है. उसी प्रकार जो चिंतायें यहां वर्णित हुई हैं उसमें सहज सम्भव है कि आज कदाचित हमें लगे कि ऐसी बेकार चिंता भी करनी होती है भला? इतनी बेकार चिंताओंमें इतना समय व्यर्थ करना चाहिये भला?

बात तो सच्ची है, क्योंकि जो चिंता हमें नहीं सताती, वह तो हमें बेकार ही लगेगी, परन्तु जिसे सताती हो उसे? एक सामान्य बात कहूं, थोड़ी सहानुभूतिसे विचारो, कि जो व्यापारी भाई भाग गया उस बेचारेको नुकसानसे कितना दुख हुवा होगा! इसीलिये तो भाग गया होगा न! नहीं तो वह क्यों भागे? पर व्यक्तिका सहज स्वभाव है कि स्वयंको होती चिंता ही उसे बड़ी लगती है. स्वयंको दुख पहुंचे तो ही पीड़ा हो, दूसरेको नहीं. जैसे किसी परिवारका सदस्य चला जाये और सब गमगीन हों तो सभी ज्ञानी बन जाते हैं! जो वह रोवे तो कहते हैं **अरे यह तो जीवन है, जो आता है वह तो जाता ही है. इसमें रोना किस बातका?** अरे! तुम्हारे घरसे जब कोई गया था तब तुम रोये थे या नहीं? स्वयं भी ऐसे रोये होगे पर दूसरेके घरसे कोई चला जाये तो ज्ञान अवश्य झाड़ेगे कि जीवन तो क्षण भंगुर है. हममें परउपदेश पांडित्य बहुत ही आ जाता है. इसीलिये लगता है कि यह सभी चिंतायें बेकार हैं परन्तु सचमें ऐसा है नहीं. जो व्यक्ति भक्तिकी इच्छा करते हैं, जिन लोगोंको भक्तिमार्गपर चलना है उनकेलिये इस मार्गपर चलनेमें आती हुवी चिंतायें बहुत बड़ो चिंतायें हैं. आज हमें भक्ति करनी ही नहीं है,

भक्तिमार्गपर अच्छी तरहसे चलना ही नहीं है तो इन लोगोंकी चिंतायें हमें बेकार लगती हैं, यह सहज संभव है.

इतना खुलासा इसलिये कर रहा हूं कि हमको इस नवरत्नमें वर्णित कोई चिंता बेकार लगे तो यह विचारणीय रहे कि भक्तिमार्गपर चलनेकी तत्परता हममें है या नहीं? तत्परता न होनेसे ही तो हमें लगता है कि यह बेकार चिंतायें हैं? जिन चिंताओंके निवारणका उपाय श्रीमहाप्रभुजीने इसमें बताया है ऐसी चिंतायें किसीभी भक्तिमार्गपर चलने वालेको सहज रीतिसे हो सकती हैं और ऐसी कोई भी चिंता बेकार नहीं है.

हम यह भी नहीं कह सकते कि लौकिक चिंतायें बेकार हैं क्योंकि वह भी तो होती ही हैं, इससे इन्कार तो नहीं किया जा सकता. परन्तु विवेचन करके इतना तो निश्चित समझना ही पड़ेगा कि लौकिक चिंतायें जो हैं वह आधिभौतिक चिंतायें हैं और उनमें तथा आधिदैविक चिंताओंमें कुछ भेद है.

एक भाई एक समय कह रहा था कि रामायणमें वनमेंसे सीताजीका रावणने हरण कर लिया था. और हम कहते हैं कि कलियुगमें ही सभी घोटाले होते हैं पर रामायण पढ़ें तो पता चलता है कि त्रेता युगमें भी ऐसा घोटाला होता ही था. त्रेतायुगमें भी सीताजीको रावण हर कर ले गया था तो फिर त्रेतायुग व कलियुगमें भेद क्या? मैंने कहा कि भेद यह कि रामचन्द्रजीकी सीताको रावण हर ले गया तो उसकी रामायण बन गई और वह आज तक गाई जाती है.

और आजकलका अखबार पढ़ो तो अनेकों सीतायें हर रोज हरी जाती हैं परन्तु इनकी रामायणतो नहीं होती. क्योंकि सभीको लगता है कि सीतायें होती ही हरनेकेलिये हैं. तो त्रेतायुग व कलियुगमें इतना भेदतो निश्चितही है. एक ही सीताका हरण हुवा और उसकी इतनी बड़ी रामायण आज तक चल रही है पर पूरी नहीं होती, और हररोज समाचार पढ़ते हैं कि हर दिन एक न एक सीता तो कहीं न कहीं हरी ही जाती है और कोई रामायण नहीं बनती. क्योंकि सभीको सीताहरणकी आदत पड़ चुकी है. इतना अन्तर तो हमें त्रेता और कलियुगमें करना ही पड़ेगा. इसी प्रकार जो चिंतायें भक्तिमार्गमें होती हैं वह, और जो लौकिक चिंतायें हमको होती हैं वह, दोनों ही में इतना भेद तो मानना ही पड़ेगा, और भक्तिमार्गमें होती चिंताको बड़ा मानना ही पड़ेगा. भक्तिमार्गपर चलते हों या प्रपत्तिमार्गपर, प्रभुको सभी समर्पित कर दिया हो. **अहं मद्रक्षणभरो मद्रक्षणफलं तथा न मम श्रीपतेरेवेत्यात्मानं निक्षिपेद्बुधः। न्यस्याम्यकिंचन श्रीमन्ननुकुलोन्यवर्जितः। विश्वासः प्रार्थनापूर्वं आत्मरक्षाभरं त्वयि ।।**

मेरा रक्षण और मुझे होते लाभ या हानि मेरे विषय नहीं हैं. भक्त कहता है, तेरे विषय हैं. तुझे जो करना हो वह कर. इसमें मुझे विचारने या चिंता करने जैसा क्या है? ऐसा भक्त जिसने आत्मसमर्पण किया हो, जिसने आत्मनिवेदन किया हो, जिसे किसी प्रकारकी चिंता ही नहीं, उसको यदि भक्तिमार्गपर चलते हुये चिंता होती हो तो यह कितनी

बड़ी चिंताका विषय है. निश्चयही रामचन्द्रजीकी सीता हरण जैसा गंभीर विषय है.

परन्तु आज हमें भक्तिमार्गपर चलना ही नहीं है. हमको प्रभु पर विश्वासका प्रश्न बहुत बड़ा नहीं लगता. विश्वास हो तो ठीक न हो तो ठीक. धंधा बराबर चलता है या नहीं? हमारे यहां एक भाई आता था. वह पूछ रहा था **महाराज घरमें किरायेदार बहुत घुस गये हैं उन्हें भगानेकेलिये कोई मंत्र हो तो बताओ.** अब किरायेदार भगानेकेलिये मंत्र कहांसे आयेगा? इसलिये ऐसी चिंता होती हो कि मकानमालिक किरायेदारको भगानेका मंत्र मांगे और किरायेदार मकानमालिकको भगानेका मंत्र मांगे तो भाई ऐसा मंत्र तो नहीं मिलेगा. उसकी चिंता होती हा तो नवरत्न बहुत लाभदायक सिद्ध नहीं होगा. ऐसा दिखाई देता है कि हमको नवरत्नग्रंथकी चिंताओका गांभीर्य समझमें नहीं आया.

जो चिंतायें, जिन्होंने आत्मसमर्पण किया है उन भक्तोंको होती हैं; जिसने भक्तिमार्गपर, शरणागतिमार्गपर चलनेका निर्धारण किया है ऐसे भक्तको जो चिंतायें होती हैं; वे लौकिक चिंतायें नहीं हैं, आधिभौतिक चिंतायें नहीं हैं. विस्तार रूपसे यह आध्यात्मिक चिंता भी नहीं है वह तो सारी आधिदैविक चिंतायें हैं, भगवद्संबंधी चिंतायें हैं. और जो भगवद्संबंधी चिंतायें हों और वह भगवदसेवाम बाधा डालती हों तो उनका निवारण श्रीमहाप्रभुजी नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? इस प्रकार इस संदर्भमें ऐसी चिंताओंके निवारणार्थ नवरत्नग्रंथकी रचना हुई है.

हमको थोड़ा धीरज धरकर यह भाव समझनेकी आवश्यकता है. तुम कहोगे **महाराज हमें भक्तिमार्गपर चलनेको चिंता ही नहीं होती, भक्तिमार्गपर चल सकें तो चलें नहीं तो नहीं. हम क्या कर सकते हैं? आखिर हैं तो जीव, सामर्थ्य ही कहां है चलनेकी, यह तो भगवदकृपाका मार्ग है. वह चलायेगा तो चलाये, नहीं तो बैठे बैकुंठमें, हम तो यहीं ठीक हैं.** उसमें नवरत्न किस प्रकारसे सहायक हो सकता है? लेकिन बात ऐसी नहीं है, थोड़ी सावधानीसे समझो.

हम ऐसा समझते हैं कि रामायणमें रामके चरित्र पढ़नेसे हमारा उद्धारहो जायेगा, पर ऐसा नहीं है. प्राचीन रामायण तुम पढ़ोगे तो प्रत्येक चरित्र, वह फिर रामका हो, रावणका हो, लक्ष्मणका हो या कुंभकर्णका, जो जो चरित्र रामायणमें वर्णित हुवा है वह हमें किसी न किसी प्रकारसे लाभ देने वाला चरित्र है. वह किस प्रकार? आजकी भाषामें कहें तो किसी चरित्रसे हमारे भीतर Positive Ideal विधानात्मक आदर्श प्रकट होते हैं तो कोई चरित्र हमारे हृदयमें निषेधात्मक आदर्शको स्थिर करनेका प्रयास करता है. जैसे रामचन्द्रजीका चरित्र हम समझें तो अपने हृदयमें अहोभाव जागता है कि राम पिताके कितने आज्ञाकारी थे. ईश्वर होनेके उपरान्त भी उनके हृदयमें ऋषियोंके प्रति कितना आदर भाव था. वचनके कितने पक्के थे, कैसे एक पत्नीव्रत थे. ऐसे सभी आदर्श अपने हृदयको स्पर्श करते हैं. तो फिर रावण किसलिये? रावण कोई साधारण व्यक्ति नहीं था, ज्ञानी था. इतना ही नहीं बलवान भी था, समृद्धिशाली भी था, ऐश्वर्यवान था.

इतना होनेपर भी एकआध अवगुण हमें कितना नुकसान पहुंचा सकता है. इसलिये अपने ज्ञानपर, बलपर, एश्वर्यपर, अधिक भरोसा नहीं रखना चाहिये. सद्वृत्तियोंके उपयोगमें भी इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये. यह निषेधात्मक आदर्श रावणके चरित्र सुननेसे स्फुरित होते हैं. यह पाठ हमें रामचन्द्रजी नहीं समझा सकते. वह पाठ तो हमें रावणही समझा सकता है. इसलिये रावणका चरित्र भी अपनेको शिक्षा देनेमें बहुत उपयोगी चरित्र है जैसा कि रामका चरित्र है. वैसे रामायणका प्रत्येक पात्र कोई न कोई आदर्श सिखाता है, कोई विधानात्मक रूपमें तो कोई निषेधात्मक रूपमें. उसी प्रकार षोडशग्रंथमें भी दोनों ही प्रकारके उपदेश हैं. सिद्धांतमुक्तावली, भक्तिवर्धिनी वगैरह ग्रंथोंमें श्रीमहाप्रभुजीने हमको विधानात्मक उपदेश दिये हैं जैसे कि हमें सेवा करनी चाहिये, भक्तिको दृढ़ करनेकेलिये घरमें सेवा करनी चाहिये और प्रभुके चरित्रका श्रवण, कीर्तन, स्मरण करना चाहिये वगैरह वगैरह. साथ साथ ही नवरत्न जैसे ग्रंथोंमें निषेधात्मक उपदेश भी हैं कि चिंता नहीं करनी. यह समझना भी भक्तिको समझनेकेलिए सहायक है. भक्तिके बारेमें अथवा भक्तिमार्गके बारेमें ऐसी चिंतायें न हों ऐसा अगर हम समझ लें तो भक्तिका स्वरूप समझा कहा जायेगा. जैसे पेंटिंगमें ऐसा एक नियम होता है कि रेखा खींच कर आकृति स्पष्टकी जाती है और बादमें उसमें रंग भर दिये जाते हैं. इसके अतिरिक्त एक ऐसा नियम भी होता है कि आकृतिको उभारनेकेलिये रेखा खींचनी आवश्यक नहीं होती; थोड़ेसे हल्के और गहरे रंगके शेड्स्को इस

प्रकार खींचो कि रेखा अपने आप ही स्पष्ट हो जाये. हम फोटोग्राफ देखें तो उसमें रेखा खींचकर फोटोग्राफ नहीं लिया जाता. हल्के एवं गहरे, काले और सफेद शेड्स्के मिश्रणसे आकृति स्वयंही उभर कर आती है. इसी प्रकार भक्तिमार्गमें हमें क्या करना अथवा क्या नहीं करना ऐसा ब्लैक और व्हाइट कलरका सही मिश्रण हम कर दें तो भक्तिकी आकृति बिल्कुल ठीकसे समझमें आ जायेगी.

आकृतिको उभारनेमें दोनोंही रंग आवश्यक हैं. हम कहें कि फोटोग्राफमेंसे काला रंग पूरा निकाल दो, सफैदको ही रखो, तो फोटो फोटो नहीं रह जायेगा, खाली कागज रह जायेगा. फोटोमें जितनी महत्ता सफैद रंगकी है उतनीही काले रंगकी भी है. दोनों रहेंगे तो ही फोटो फोटो कहलायेगा. उसी प्रकार क्या करना एवं कौनसी चिंता अथवा कार्य नहीं करना यह हम समझें तो ही भक्तिकी आकृति स्पष्ट होगी. क्या करना चाहिये यह भक्तिके फोटोका सफैद रंग है और क्या नहीं करना चाहिये यह काला रंग है. भक्तिके फोटोको बनानेमें दोंनोका ही बराबरका योग दान है. इसलिये मनमें द्वैत भाव नहीं लाना चाहिये.

बहुतसे व्यक्ति कहते हैं कि केवल Positive ही समझाओ. परन्तु सभी Positive ही समझने जायेंगे तो बात ठीकसे समझमें नहीं आयेगी, पूरा Blank हो जायेगा. काले व सफेद रंगका जो सही मिश्रण है उसका बहुत अधिक महत्व है. परन्तु आज हम सभी लोगोंपर अद्वैतवादका ऐसा भूत चढ़ गया है कि हमको लगता है कि यह सब गलत है. अरे तब तो भगवान भी गलत हो

जायेगा, क्योंकि भगवान भी किसी न किसी भक्तके संदर्भमें भगवान होता है. स्वयंमें भगवान होता नहीं है, भगवानको भी कोई भक्त चाहिये. कोई ईशितव्य हो तो ही कोई ईश्वर होगा, शिष्य होगा तो ही तो गुरु होगा. हम कहें कि ना दो चाहियें ही नहीं, द्वैतको हटा दो. तो भगवान भगवान नहीं रह जायेगा, गुरु गुरु नहीं रह जायेगा, उपदेशक उपदेशक नहीं रह जायेगा, क्योंकि उपदेशकको भी कोई सुनने वाला है तभी उपदेशक है, नहीं तो हिमालयके शिखरपर बैठकर कोई क्यों नहीं उपदेश देता? इसलिये प्रवचनकेलिये भी श्रोता व वक्ता दोनोंका द्वैत आवश्यक हैं. इसलिये ब्रह्मांडमें केवल अद्वैतका कोई अत्याग्रह अथवा दुराग्रह कहीं दिखता नहीं है. यहां तो सभी कुछ एक जैसा ही है. जितना कालेका रोल है उतना ही सफेदका भी है. जितना द्वैतका है उतना ही अद्वैतका भी रोल है. ब्रह्ममें द्वैत-अद्वैत सभी समान हो जाता है. **सर्वेहोतारो यत्रैकनीडं भवन्ति समानसीनो आत्मा जनानाम्.** जैसे पक्षी सांझसमय तक अपने खानेपीनेकी तलाशमें फिरता है लेकिन सांझ होतेही अपने घोंसलेमें आकर बैठ जाता है वैसेही ब्रह्म एक ऐसा घर है जिसमें सभी प्रकारके द्वैतके पंछी, ज्ञानके, कर्मके, भक्तिके, पुष्टिके, मर्यादाके, सत्के, असत्के, दैवीके, आसुरीके, चिंताक, निश्चिंतताके, विरक्तिके, अनुरक्तिके, संसारके, मुक्तिके- सभी पक्षी आरामसे ब्रह्ममें रहते हैं, वहां किसी प्रकारका खटराग नहीं है, ब्रह्म सभीको अपनेमें समा सकता है.

किसी एकको न समावे उसका अर्थ यह है कि उतने अंशमें वह ब्रह्म नहीं है और यह कदापि संभव

नहीं है. इसलिये ऐसे अति अद्वैतवादकेलिये ही कभी कभी सारी वस्तुएं समझमें आनी बंद हो जाती हैं. ब्रह्मका सच्चा रूप समझना हो तो ब्रह्ममें सभी कुछ संभव है क्योंकि जो ब्रह्ममें न समावे तो यह सृष्टि कहांसे उत्पन्न हुई? सृष्टि उत्पन्न हुई है विभिन्न द्वैत और अद्वैतको लेकर सत् असत्के, सुंदर असुंदरके, चिंता निश्चिंतताके, विरक्ति अनुरक्तिके, संसार मुक्तिके द्वैतको लेकर सृष्टि प्रकट हुई है. वह ब्रह्मके बाहरसे तो प्रकट नहीं हुई है ना? सृष्टिका कोई ऐसा कोना तो नहीं हो सकता ना कि जहां ब्रह्म न हो? ऐसा कोई भी कण नहीं हो सकता कि जिसमें कृष्ण न हो, कण कणमें कृष्ण है, तो फिर संसारका कण हो या मुक्तिका, सुंदर सुरूप कण हो या कुरूप कण हो, सभी कण अंततः तो ब्रह्मरूप ही हैं. और सभी कण ब्रह्मरूप हैं इसलिये ऐसे अतिशय अद्वैतका सिद्धांत टिक नहीं सकता.

इसलिये नैगेटिव और पौजिटिव दोनों एकही वस्तुके दो पहलू हैं. उपनिषदमें कहा है **द्वे वावब्रह्मणो रूपे मूर्त चैव अमूर्त च मर्त्यं चैव अमृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।** जो कोई साकार है और जो कोई निराकार है, जो कोई शाश्वत है और जो कोई क्षणभंगुर है यह दोनों ही ब्रह्मके रूप हैं.

एक कथामें आता है कि एक गुरुके दो शिष्य थे. दोनोंही गुरुजीकी सेवाके अति आग्रही. अब पंचायत यह हुई कि रातको गुरुजी सोने लगे तो एक शिष्य बोला कि मैं चरणसेवा करूं और दूसरेने कहा कि मैं करूंगा. गुरुजीने कहा **झगड़ा मत करो, दोनों**

एक एक चरणकी सेवा करो. ऐसे झगड़ा निपट गया और गुरुजीको प्रगाढ निद्रा आ गई. अब हुवा यह कि नींदमें गुरुजीका एक पैर दूसरे पैरपर आगया. इस तरफ जिस पैरकी जो शिष्य सेवा कर रहा था उसने दूसरे पैरकी सेवा करने वाले शिष्यसे कहा **भाई जिस पैरकी तुम सेवा कर रहे हो उसे हटाओ.** दूसरा शिष्य बोला **भाई पैर तो गुरुजीका है मैं कैसे हटाऊ?** पहला शिष्य बोला **पैर चाहे किसीका भी हो, मैं जिस पैरकी सेवा कर रहा हूं उसपर दूसरा पैर नहीं होना चाहिये.** दूसरे ने कहा **भाई मैं कैसे पैर हटाऊ. जब गुरुजीकी इच्छा होगी हटालेंगे.** ऐसे दोनों शिष्य झगड़ने लगे. अन्तमें पहले शिष्यने डंडा लाकर ऊपर वाले पैर पर जोरसे दे मारा. बेचारे गुरुजीकी नींद उड़ गई कि क्या घोटाला हुवा? शिष्यने उत्तर दिया **जिस चरणकी सेवा मैं कर रहा था उस पर आपका दूसरा चरण आ गया था. अरे पर चरण किसका? तुम्हारा कि मेरा?**

हमलोग भी कुछ इस तरहही लड़ते झगड़ते हैं. साकारवादी ब्रह्मके निराकारपक्ष वाले पक्षपर डंडा मारा करते हैं और निराकारवादी ब्रह्मके साकार पक्षपर डंडा मारते हैं, पर दोंनों पक्ष हैं किसके? **द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे** वह दोनोंही ब्रह्मके रूप हैं, सभी ब्रह्मके ही रूप हैं. मायाभी अंतमें तो ब्रह्मका ही रूप है, ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता और यदि हो तो ब्रह्म ब्रह्म नहीं कहलायेगा. जिसमें सभी कुछ समा जाये उसका नाम ही ब्रह्म है. जो अचल है, जो चलायमान है, जो प्रकट है जो अप्रकट है वह सभी कुछ ब्रह्म है.

अब यदि सभी कुछ ब्रह्म है तो जो भक्ति है वह भी और जो चिंता है वह भी तो ब्रह्मका ही स्वरूप है. इसलिये हम चिंताका उपदेश दें अथवा भक्तिका, अंतमें तो हम यही उपदेश दे रहे हैं कि ब्रह्मको स्वीकारना किस प्रकार? जानना किस प्रकार? और ब्रह्मका आनन्द लेना किस प्रकार? यहां ब्रह्मके अलावा दूसरा कोई उपदेश नहीं दिया जा रहा, यह स्पष्ट रूपसे समझ लो. चिंता न करनेका उपदेशभी महाप्रभुजी दे रहे हैं, नहीं दे रहे ऐसी बात नहीं है. जिन लोगोंने ब्रह्मसंबंध लिया है वह लोग भली प्रकार जानते होंगे कि यह ताप क्लेशका उपदेश है. अब यदि ताप क्लेश दोनों हो तो चिंता होगी अथवा नहीं? सो वह तो सौ प्रतिशत होगी. अतएव चिंता करनेका उपदेशभी ब्रह्मके अर्थ है एवं चिंता न करनेका उपदेशभी ब्रह्मके अर्थ ही है, क्योंकि सभी कुछ तो ब्रह्म है. षोडशग्रंथमें ब्रह्मके सिवाय दूसरा कुछ कहनेमें आया ही नहीं है.

परन्तु षोडश ग्रंथ ब्रह्मको जाननेका उपदेश नहीं है, ब्रह्मके आनन्दको लेनेका उपदेश है, यह समझना चाहिये. ब्रह्मको जाननेका उपदेश उपनिषदोंमें है. श्रीमहाप्रभुजीने भी तत्वार्थदीप निबंध, अणुभाष्य आदि ग्रंथोंमें ब्रह्मको जानना किस प्रकार इसका उपदेश दिया है परन्तु षोडशग्रंथोंका मुख्य उद्देश्य ब्रह्मका आनन्द लेना है ब्रह्मको जानना नहीं.

केवल ब्रह्मको माननेकेलिये ही नहीं मानना है. ऐसा मत समझ लेना. केवल माननेकी ही बात नहीं है, आनन्द लेनेकी बात है. आनन्द मतलब इसका मजा किस प्रकार लें और मानना मतलब इसको स्वीकारें

किस प्रकार? तो यहां स्वीकारने की चर्चा नहीं है मजा लेनेकी बात है. ब्रह्मका आनन्द लेने यदि तुम बैठे हा तो तुम्हें क्या करना चाहिये एवं क्या नहीं करना चाहिये इसका यहां उपदेश है. उदाहरणके तौर पर यदि किसी संगीत सम्मेलनमें गये हों और कलाकार गा रहा हो और हम बातें करने लगें तो संगीतका आनन्दले सकेंगे भला? नहीं ले सकेंगे. इसलिये तुमको कहना पड़ेगा कि संगीत सुनना हो तो चुप बैठो. वाणीका निग्रह करो तो ही तुम आनन्द ले सकोगे. बातही करनी थी तो घर क्या बुरा था? घर बैठकर अच्छी तरहसे बात हो सकती है. पर जान बूझ कर संगीतके कार्यक्रममें बात करनी अथवा खुर्राटे लेनेसे तो सारा आनन्द ही समाप्त हो जायेगा.

एक हालके बाहर मुझे एक भाई मिल गया. उसने कहा महाराज चलो बिस्मिल्लाखांकी शहनाई सुनने. मेरे पास टिकिट नहीं थी तो वह अपनी दूसरी टिकिटपर मुझे अंदर ले गया. बैठनेके बाद इसने चालू कार्यक्रममें खुर्राटे भरने चालू कर दिये. सब लोग मेरी तरफ देखने लगे. यह तो सो रहा था इसलिये इसकी ओर तो कोई देखता नहीं था. और साथमें होनेके कारण मुझे बहुत शर्म आई. तब मैंने एक उपाय विचारा कि अच्छा हो न हो जोर जोरसे वाह वाह करने लगा कि जिससे उस भाईकी नींद उड़ जाये. शोरके कारण वह झट जाग गया और कहने लगा **क्या गजबका काबू है फूंकके ऊपर.** मैंने कहा **न न भाई श्वासके ऊपर उससे भी अधिक काबू है. हां यही तो** यह कहकर वह फिर सो गया और जोर जोरसे खुर्राटे

चालू कर दिये. आखिरकार मुझे वहांसे उठकर किसी दूसरी सीटपर जाना पड़ा. संगीतका मजा इस प्रकार नहीं लिया जा सकता. इसी प्रकार ब्रह्मका आनन्द यदि हमें लेना हो तो एक प्रकारकी सावधानी हमें रखनी पड़ेगी और उसहीका उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने षोडशग्रंथमें हमें दिया है. भक्तिमार्गीय रीतिसे ब्रह्मका आनन्द यदि लेनेमें तत्पर हो तो एक सावधानी रखनी पड़ेगी कि कौन सी चिंता करनी और कौन सी चिता नहीं करनी, कौन सी भक्ति करनी और कौन सी भक्ति नहीं करनी. इन सभीका विवेक श्रीमहाप्रभुजी हमें षोडशग्रंथमें समझाना चाह रहे हैं.

उसमें भी विशेषतया नवरत्नमें भक्ति करते करते अथवा भक्ति करनेकेलिये जो कोई भी चिंता हमको होती है उसकी निवृत्तिका उपाय है. **चिंता हुइ** एवं **चिंता की** इसमें थोड़ा अंतर है. कुछ चिंतायें हम करते हैं और कुछ चिंतायें हमको हो जाती हैं अर्थात् वह चिंता अपने वशमें नहीं है, स्वत: हो जाती हैं. चिंता करनेका अर्थ क्या कि चिंता होती न हो, रोना आता न हो पर किसी दूसरेको देखकर कि चिंता करके रोता है सेवामें, तो अपनभी सेवामें झूठमूठ रोना चालू कर दें. तो इस प्रकार झूठमूठ रोनेसे कोई भक्ति सिद्ध नहीं होगी. तुम्हें सहज रोना आता हो तो रोओ, झूठमूठ रोनेसे क्या लाभ? किसी भाईने प्रवचनमें कह दिया कि भक्तिका अर्थ यह है कि हृदय गदगद हो जाये, और आंखें अश्रुपूरित हो जायें, तो हम जोर लगाकर आंसू निकालें, पर ऐसे आंसू कोई भक्ति होनेका प्रमाण नहीं हैं, भगतिका प्रमाण हैं. इसलिये सीमामें रहकर

हमको भक्ति करनी चाहिये, ऐसी सावधानी रखनी चाहिये कि जिससे भक्ति भगति न होकर भक्ति ही रहे. यह सभी कुछ श्रीमहाप्रभुजी षोडशग्रंथमें हमको समझाना चाह रहे हैं क्योंकि हम पुष्टिमार्गमें ब्रह्मका आनन्द लेनेकेलिये ही आये हैं और जब आनन्द लेने बैठे हैं तो बातचीत करनेपर अथवा खुर्राटे भरनेपर मजा नहीं ले सकेंगे.

श्रीमहाप्रभुजी यह नहीं कहते कि यही एक उपाय है. श्रीमहाप्रभुजीका स्पष्ट सिद्धान्त है कि यदि भक्तिका उपाय तुमसे नहीं बनता हो तो कोई बात नहीं, तुम समर्पण कर दो, समर्पण भी नहीं होता हो तो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि चलो तुम मर्यादाभक्ति करो, मर्यादाभक्तिका उपाय न होता हो तो ज्ञानमार्गपर चलो, ज्ञानमार्गपर नहीं चल सकते तो कर्ममार्गपर चलो. सभी मार्ग ब्रह्मकी ओर लेजाने वाले हैं एवं सभी मार्ग शास्त्र द्वारा प्रतिपादित हैं. यहां नवरत्नके उपक्रममें भावप्रकाशमें श्रीहरिरायजी यही बात बता रहे हैं. **तातें जैसे मनुष्य गैल चलिवे वारेको दस मार्ग बतावें परन्तु जाकों जा गाम जानों होय सोई गाम जात है, तैसेही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसो अधिकारी तैसो संग पाय उही मार्गमें भाव वाकों दृढ़ होत है. सो गोविन्ददुबेको श्रीरणछोड़जीमें भाव दृढ़ भयो.** कहनेका अर्थ क्या कि यदि मनुष्य चलनेको उद्यत हो तो सभीको अपने अपने मार्ग बतानेकी इच्छा हो जाती है कि तुम यहां आओ. अरे कोई मार्ग बंद नहीं है सभी खुले हैं. पर व्यक्ति किस मार्गपर चल सकता है? तो अपने यहां स्पष्ट

खुलासा है कि तुम उस मार्गपर चल नहीं सकते जहां तलक तुमसे मिलने ब्रह्म उसी मार्गपर आता न हो. जब ब्रह्म तुमसे मिलने भक्तिमार्गपर चलनेको अग्रसर हो तबही तुम उस भक्तिमार्गपर चल सकोगे. यदि वह तुमसे भक्तिमार्गपर नहीं मिलना चाह रहा तो तुम भक्तिमार्गपर चल ही नहीं सकोगे. ऐसी कोई न कोई बाधा उत्पन्न हो जायेगी मार्गमें अथवा कोई न कोई ऐसा संग मिल जायेगा कि तुम्हें भक्तिमार्गसे किसी दूसरे मार्गपर ही ले जाया जायेगा, भले ही तुमने कंठी क्यों न बांधी हो गलेमें.

आज अपने यहां एक महान कौभांड मच गया है कि हमें ब्रह्मसंबंध लेकर कंठी पहन लेनी चाहिये. अरे किसलिये? **क्योंकि हमारे बड़ोंने महाराजसे ब्रह्मसंबंध लिया था. हमारे मां बाप, जिसने कंठी न ली हो उसके हाथका पानी भी नहीं पीते, इसलिये मां बाप हमारे हाथका पानी पी सकें इसलिये ब्रह्मसंबंध लेना आवश्यक है.** पर सिद्धांत तो यह है कि ब्रह्मसंबंध मां बापको पानी पिलानेकेलिये नहीं, ठाकुरजीकी झारी भरनेकेलिये, ठाकुरजीकी सेवाकेलिये लेना चाहिये एवं देना चाहिये. मां बापका व्रत उन्हें ही निभाना चाहिये. तुम्हें क्यों उनकेलिये ब्रह्मसंबंध लेना चाहिये? ब्रह्मसंबंधकी गरिमा क्या रह गयी फिर? ब्रह्मसंबंध भगवदसेवार्थ न लेकर इसलिये लें तो यह तो ब्रह्मसंबंधकी हमने अवनति कर दी. ब्रह्मसंबंध लेना चाहिये भगवदसेवा अधिकारकी सिद्धिके अर्थ, भगवदसेवामार्गमें प्रवृत्त होनेके अर्थ. आज हम विचित्र विचित्र हेतुओंसे ब्रह्मसंबंध लेते हैं. **चालीस दिन**

व्रजयात्रा चलेगी तो उसमें चौबीस बैठकोंमें झारी भरनेकेलिये ब्रह्मसंबध लेना चाहिये. क्या जीवनमें केवल चालीस दिन झारी भरनेकेलिये ब्रह्मसंबंध लेना उचित है? यह सब पाखंड है. इन हेतुओंसे तो ब्रह्मसंबंध न तो दिया जाना चाहिये और न ही लेना चाहिये. परन्तु आज देनेवालोंमें और लेनेवालोंमें, दोनोंमें सिद्धांतकी बेजबाबदारी, बेदरकारी घर कर गयी है. ब्रह्मसंबंध लेनेका एकही हेतु है, भगवद सेवाधिकार. भगवदसेवा तुम्हें करनी हो तो ही ब्रह्मसंबंध तुम्हें लेना चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी स्वयं अन्य हेतुओंसे ब्रह्मसंबंध नहीं देते थे, तो आज हम चालू खातेमें ब्रह्मसंबंध कैसे ले दे सकते हैं? ऐसा ब्रह्मसंबंध ब्रह्मसंबंध नहीं, भ्रमसंबंध है. हमको व्यर्थका भ्रम हो गया है कि हम पुष्टिमार्गमें हैं अतएव हमें ब्रह्मसंबंध तो ले ही लेना चाहिये. सेवा तो करनी नहीं; जो सेवा नहीं करनी तो ब्रह्मसे संबंध किस प्रकार हुवा? जो कुछ तुम्हें हो रहा है वह भ्रमसंबंध है. तुम महाप्रभुजीके अनुयायी होकर भ्रमसंबधं क्यों लेते हो यह समझमें नहीं आता.

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **चिंता कापि न कार्या** परन्तु ब्रह्मसंबंधके बदले हम भ्रमसंबंध न लेने लग जायें उसकेलिये थोड़ी थोड़ी तो चिंता करनी ही पड़ेगी. वह तो चिंता करनेका विषय है. **चिंता कापि ना कार्या** का विषय नहीं है. उसकी चिंता नहीं करेंगे तो मुसीबतमें पड़ जायेंगे, मार्ग मुश्किलमें पड़ जायगा. ऐसी चिंताको हम चिंता नहीं कहते चिंतन कहते हैं. चिंतन अर्थात क्या अच्छा है क्या बुरा है, श्रीमहाप्रभुजीका क्या अभिप्राय है, क्या नहीं है इसको

समझनेका प्रयास करना, विचार करना. यह स्पष्ट समझ लो कि भ्रमसंबंध लेकर हम पुष्टिमार्गपर नहीं चल सकते, प्रवाहमार्गपर ही दौड़ेगें. पुष्टिमार्गपर चलना है तो ब्रह्मसंबंध लेना ही होगा और ब्रह्मसंबंध तभी है जबकि हम उसे सेवाकेलिये लें. आजकल सभी अपने घरमें कोई न कोई सुवाक्य टांगते हैं तुम भी तुम्हारी इच्छा हो तो टांग लेना **सेवा करनेकेलिये लिया गया ब्रह्मसंबंध है और हेतुसे लिया गया भ्रमसंबंध है**. प्रतिवर्ष ऐसी शुभेच्छा व्यक्त करते हुवे ग्रीटिंगकार्ड भेजने चाहियें कि **भगवान करे कि तुम्हारा यह वर्ष भ्रमसंबंधमें न जाय, ब्रह्मसंबंधमें जाये**.

इसलिये सभी कुछ भगवद्इच्छानुसार हो रहा है, पर हमें चिंतन तो करना ही पड़ेगा कि सिद्धान्तकी दृष्टिसे क्या ठीक है और क्या गलत है. चिंता भले ही न करें पर चिंतन तो आवश्यक है.

oooooooooooooooooooo

प्रवचन दिनांक २४-८-८४

कल नवरत्नकी पृष्ठभूमिका रूपमें मैंने कुछ बातें आपको समझाई थी कि यह कोई आधिभौतिक चिंताको निवृत्त करनेका मंत्र या ग्रंथ नहीं है. भक्तिमार्गपर हम भली प्रकारसे किस प्रकार चल सकते हैं उसका उपाय समझाने एवं भक्तिमार्गपर चलते हुवे जिस प्रकारकी भी चिंता भक्तके हृदयमें उद्भव होती हो तो उसकी निवृत्तिके अर्थ किया गया ग्रंथ है. भक्तिमार्गीय चिंताओंका विचार हमें उतनी ही सावधानीसे करना

चाहिये कि जितनी सावधानीसे भक्तिके विधानात्मक साधनोंका हम विचार करते हैं. जितनी सावधानीसे इन साधनोंको अपनाते हैं उतनी ही सावधानीसे इसके मार्गमें आते विघ्नोंको दूर करनेका उपाय भी करना चाहिये. मार्गपर चलनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि सभी सावधानियोंके साथ चलना. कोई अपनेसे टकरा न जाये, हम किसीसे टकरा न जायें ऐसी सावधानी रखें, योग्य दिशामें योग्य गतिसे चलें तो मार्गपर चल सकेंगे. यह कोई टहलनेकी या मटरगश्ती करनेकी बात नहीं है, मार्ग पर चलनेकी बात है. इसीलिये अनेक सावधानियां हमको श्रीमहाप्रभुजी षोडश ग्रंथमें समझाते हैं. कल मैंने तुम्हें यह भी समझाया था कि षोडशग्रंथोंमेंसे प्रत्येक ग्रंथ श्रीमहाप्रभुजीने भक्तिमार्गपर चलते हुवे व्यक्तिके कुछ न कुछ कष्टके निवारणकेलिये उन उन भक्तोंको उपदेश रूपमें कहा है.

आज कितने हो लोग ऐसा कहते हैं कि जो ज्ञानी हैं उनकेलिये ज्ञानमार्ग और जो ज्ञानी नहीं हैं उनकेलिये है भक्तिमार्ग. ऐसा श्रीमहाप्रभुजीका मत तो नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके मतानुसार ज्ञानमार्ग कदाचित ज्ञानीओंकेलिये होगा, कर्ममार्ग कदाचित कर्म परायणोंकेलिये होगा परन्तु भक्तिमार्ग ता सभीकेलिये है. इसीलिये ऐसा कहनेमें आया है कि **अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दंभदर्प निवृत्तये ब्रह्मज्ञेमुक्तये मुक्ते भक्त्यर्थं भक्तिरिष्यते**. जिस वस्तुका ज्ञान मिलता है उस वस्तुमें, उस उस शास्त्रमें, और उपदेशकमें भक्ति न हो तो

ज्ञान नहीं मिलता, अपना अज्ञान निवृत्त नहीं होता, अर्थात भक्तिकी आवश्यकता है, **अज्ञे ज्ञानाय.**

परन्तु हमने सारा शास्त्र पढ़ लिया, जान लिया इसके पश्चात भक्तिकी आवश्यकता है या नहीं ? है ही, क्योंकि शास्त्र जाननेके पश्चात जो हृदयमें भक्ति प्रकट नहीं हुई तो शास्त्रका ज्ञान अपने दंभमें अथवा दर्पमें पर्यवसित हो जायेगा. इसलिये जिस ज्ञानका, शास्त्रका हमने अध्ययन उपार्जित किया है वह ज्ञान दंभ अथवा दर्पमें पर्यवसित न हो जाये इसकेलिये भक्तिकी आवश्यकता है. भक्ति होगी तो हमें बचायेगी. अपने ज्ञानको दंभ अथवा दर्पमें पर्यवसित नहीं होने देगी. शास्त्रसे आगेकी कक्षा ब्रह्मज्ञानीकी है. इसे भी भक्तिकी आवश्यकता है. भागवतमें जोर देकर कहा गया है कि बहुत उपायोंसे ज्ञान, वैराग्यतपसे जो ब्रह्मको जान लेता है, परन्तु जाननेके बाद ब्रह्मसे अगर उसे स्पर्धा हो जाय तो उसे मुक्ति नहीं मिलती. इसलिये ब्रह्मज्ञको भी मुक्त होना है तो उसे भक्तिकी आवश्यकता है.

अपने यहां एक ऋषिकी वार्तामें ऐसा आता है कि उसने पानीमें डूबती हुवी एक चुहियाको बचा लिया. बचानेके बाद उसे लगा कि उसके पीछे बिल्ली लगनेके कारण उसे पानीमें कूदना पड़ा, इसलिये उसने उसे बिल्ली बना दिया कि जिससे दुबारा ऐसा न हो. पर बिल्लीको भी कुत्तेका भय तो था ही तो उस कुत्ता बना दिया. परन्तु कुत्तेको भी किसी न किसीका भय तो होता ही है अत: अंतत: उसे बाघ बना दिया. तो बाघ बनते ही उसने ऋषिपर ही धावा बोल दिया. ऋषिने कहा **पुनर्मूषिका भव** फिरसे चुहिया बन जा.

शास्त्रमें कहा है कि **अहंबह्मास्मि**की उपासना करते करते जीव उपासनाके बलपर **ब्रह्मविदबह्मव भवति** ब्रह्मज्ञान मिलने पर स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है. सत्यत: तो ब्रह्म बनता नहीं है क्योंकि ब्रह्म ही तो सब कुछ बना है. जो हम नहीं हैं वह क्या कभी बन सकते हैं और जो हैं उसका बनना क्या, उसे तो केवल जानना ही होता है. अर्थात हम तो ब्रह्म हैं ही, जगतका कण कण ब्रह्मके नाम रूपका ही तो विस्तार है. इसीलिये हम ब्रह्मकी हकीकतको जान सकते हैं, ब्रह्म बनने जैसा तो कुछ है नहीं. मैं **अहंब्रह्मास्मि** की उपासना करुं और मुझे ऐसा लगे कि **लो अब मैं ब्रह्म बन गया** तो उसमें कोई बुराई नहीं है क्योंकि सत्य वास्तवमें ब्रह्म ही तो है.

छोटा बच्चा पिताकी या दादाकी टोपी, लकड़ी और जूते पहन कर चलता है. किसी समय उनकी कुरसी पर जाकर बैठ भी जाता है और कहता है **मैं बापूजी बन गया** तो प्रसन्नता होती है, क्रोध नहीं आता. उसी प्रकार हम कहें कि **मैं ब्रह्म हूं** तो ब्रह्मको अपनेपर प्यार आये कि देखो मरे साथ कैसा अभेद मान रहा है. **ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्** पर इसकी सीमा होती है. बालक कहे कि मैं बापू बन गया तो प्यार आता है परन्तु ऐसा कहे कि **चलो तुम सब घरसे निकलो, आजसे मैं ही सर्वेसर्वा हूं** तो दो थप्पड़ लगाने पड़ते हैं. तब प्यार नहीं आता. उसी प्रकार **अहंब्रह्मास्मि** की उपासना करते करते हमें लगे कि अब तो ब्रह्म है ही नहीं, मैं ही ब्रह्म हूं, तो ब्रह्मको कहना पड़ेगा कि **पुनर्मूषिका भव! पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि**

जननी जठरे शयनं. इसीलिये श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं कि **गोविन्दं भज मूढ़मते**. जो ब्रह्मके साथ तू स्पर्धामें पड़ गया तो ब्रह्मज्ञानसे काम नहीं बन सकता. ब्रह्म तेरा रूप बना है. इस रूपको मुक्त रखना कि संसारमें रखना, नर्कमें रखना अथवा स्वर्गमें रखना यह सभी ब्रह्मकी इच्छाकी बात है. जो हम ब्रह्मके साथ स्पर्धा करना चाहें कि **मेरे सिवाय कोईब्रह्म नहीं है मैं ही ब्रह्म हूं** तो फिर कहना पड़ेगा कि अभी गोविन्दको अच्छी तरहसे भज जिससे **अहं ब्रह्मास्मि**के सच्चे भावका तू गलत मतलब न समझ ले. जैसे **अहं ब्रह्मास्मि** बात सच्ची है, उपदेश सच्चा है पर भार ब्रह्मपर न होकर **अहं**पर आने लगे तो फिर चुहिया हो जा! गाड़ी दौड़ेपर उसमें क्लच, ब्रेक या गियरके कन्ट्रोल सिस्टम ता होने चाहियें न. इसलिये जिस समय हमारी अभेदानुभूतिकी गाड़ी बहुत जोर शोरसे दौड़ रही हो कि ब्रह्म **मैं ही हूं मैं ही** ब्रह्म **हूं**, उस समय उसमें ब्रेक, क्लचके कन्ट्रोल सिस्टम जरूरी हैं. और वह सिस्टम हमें भक्ति प्रदान करती है. ब्रह्मके प्रति जो भक्तिभाव होगा तो अहंबह्मास्मि बोलते हुवे भी अपना भार अहंपर नहीं होगा, ब्रह्मपर रहेगा. इसीलिये कहा है ब्रह्मज्ञे **मुक्तये** जो ब्रह्मज्ञ है उसे भी मुक्त होनेकेलिये भक्तिकी जरूरत है. पर विचार करो कोई मुक्त हो भी गया, फिर? तत्पश्चात भी भक्तिकी जरूरत है. मुक्तको भी भक्तिकी आवश्यकता है पर किसो दूसरे हेतुसे नहीं. मुक्त मनुष्यको बराबर समझमें आ सकता है कि भक्ति भक्तिकेलिये ही है, भक्ति किन्ही दूसरे हेतुओंकेलिये हो ही नहीं सकती.

आजकल तो श्रीनाथजीका माहात्म्य इतना बढ़ गया है कि सभी लोग श्रीनाथजीकी मानता मानते हैं. वैष्णव जाये तो जाये, जैन भी जाते हैं. एक जैन भाई मेरे पास आये और कहने लगे **आप किसके भक्त हैं**? मैंने कहा **हम तो कृष्णके भक्त** हैं. उसने पूछा **यह जो श्रीनाथजी नाथद्वारामें हैं यह कौन** हैं? मैंने कहा **यही तो कृष्ण** हैं. तो बोला हां, **मैं भी श्रीनाथद्वारा हो आया**. मैंने कहा **बहुत अच्छी बात ह**. फिर बोला **पर एक बात पूछूं महाराज**? मैंने कहा **पूछो भाई.** तो बोला **इन कृष्णको आप मानते हो पर उन्होंने महाभारतकी हिंसा करायी तो वह नरकमें नहीं जाय**? मैंने कहा **कदाचित हो भी सकता है नरकमें, परन्तु इसमें परेशानीकी कोई बात नहीं है. परन्तु तुम नाथद्वारा जाकर प्रसाद ले आये तो नरकमेंसे लेकर आये या स्वर्गमेंसे**? एक तो प्रसाद ले आये, जाकर दर्शन करके आये, अब तुम्हें चिंता हो रही है कि यह किसका दर्शन कर आये, किसका प्रसाद ले लिया. अरे भाई तुम अपने महावीरस्वामीजीका दर्शन क्यों नहीं करते, व्यर्थ ही यहां वहां क्यों जाते हो? पर आजकल सभी अंधे बहरे हो गये हैं कि सभी लोग सभी ठिकानोंपर जा रहे हैं. यह पता ही नहीं होता कि हम स्वर्गमें जा रहें हैं या नर्कमें. दरवाजा खुला देखा तो बस घुस पड़ो अंदर, फिर मंदिर हो कि मस्जिद **ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान**. ऐसा हो गया है. जानेसे पहले थोड़ी तो सावधानी रखनी चाहिये. मैंने कहा **हमारेलिये कृष्ण नरकमें हो तो भी परेशानीकी बात नहीं है. इसके उपरान्त भी हम**

कृष्णका ही भजन करेंगे. हमें कृष्णको छोड़ना नहीं है. उसने महाभारत कराया हो तो भी भजेंगे और सुलह कराई हो तो भी भजेंगे क्योंकि हम कृष्णके भक्त हैं. कुछ पानेकेलिये भजन नहीं करते. हमारे यहांका सिद्धान्त है कि भक्ति भक्तिकेलिये ही है, भक्तिसे कुछ मिलना नहीं है. जिस दिन भक्ति कुछ पानेकी इच्छासेकी जायेगी उस दिन समझ लेना कि भक्ति भक्ति न होकर भगती हो गयी है. यह कोई भागती मनोवृत्ति है अपनी, फिर भक्ति नहीं है, जब हम भक्तिसे कुछ मांगने लगेंगे. इसीलिये मुक्ति भी हम भक्तिसे नहीं मांगते. भक्तिसे हम केवल भक्ति ही मांगते हैं. इसीलिये कहा है **मुक्ते भक्तयर्थं भक्तिरिष्यते**. जो मुक्त जीवात्मायें हैं उनको किसलिये भक्ति करनी? क्योंकि मुक्त जीवात्माको ही समझमें आयेगा कि भक्ति इतनी सुंदर है कि भक्तिसे कुछ पानेकी आवश्यकता है ही नहीं. यह तो बहुत ऊंची कक्षाकी बात है, मुक्त मनुष्य ही समझ सकते हैं. इसीलिये भागवतमें कहा है **आत्मारामश्च मुनय: निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे. कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं ईत्थंभूत गुणोहरि:**. जो आत्माराम मुनि हैं, जो निर्ग्रन्थ मुनि हैं, जिनकी संसारकी वासनाकी, अहंताकी, ममताकी - प्रत्येक गांठ टूट गयी है ऐसे लोग ही भगवानकी अहैतुकी भक्ति करते हैं. अहैतुकी अर्थात्? कोई हेतु नहीं, कोई सौदेबाजी नहीं कि मेरा धंधा चले इसलिये मैं भक्ति करता हूं, एक राजभोग आरोगा दूं, एक पलनेका मनोरथ करा दूं, मेरा और मेरी घरवालीका झगड़ा खत्म हो जाये तो ठाकुरजीका विवाहोत्सव

कराऊं. ऐसा कुछ भी भक्ति नहीं तमाशा है. इसको भक्ति मत समझना. भक्ति तो बहुत उत्कृष्ट वस्तु है. और ऐसी भक्ति करते हुवे होने वाली चिंता भी कोई उत्कृष्ट कक्षाकी चिंता है. यह कोई हल्की कक्षाकी चिंता नहीं है.

आजकल हमारे यहां जिस तरहका जीवन चल रहा है विशेषकर शहरोंमें और शहरोंके आसपासके गांवोंमें भी उसके कारण भक्तिकी मनोवृत्तिपर बहुत दबाब आ रहा है. एक महिलाको मैंने ब्रह्मसंबंध दिया एवं ठाकुरजी भी पुष्ट करके पधराये. बादमें उसे कहा कि अब आनन्दसे सेवा करो. वह कहने लगी कि ऐसे तो मैं सेवा करूंगी परन्तु बाहर जाऊं तब कैसे करना? मुझे लगा कि इसे ऐसा उत्तर दूं कि चोट सीधी हृदय पर लगे. मैंने कहा **अपने बच्चों का क्या करती हो जब बाहर जाती हो?** वह बोली **उनको तो मैं आया के पास छोड़ जाती हूं, कहां साथ लेकर** जाऊं? मैंने कहा **बस ऐसे ही ठाकुरजी को साथ पधरा कर ले जाओ**. उसने कहा **लेकिन इतनी बड़ी झांपी प्लेनमें किस प्रकार पधराकर ले** जाऊं. मैंने कहा **तुम्हारे बालक जब छोटे थे तो किसतरह उन्हें गोदमें लेती थी**? वह बोली **सच कहूं महाराज, आज तलक मैं अपने बच्चेको गोदीमें लेकर घरके बाहर नहीं निकली. जब बाहर जाना होता है तो आयाको साथ लेकर जाती हूं**'. मैंने कहा **तो भक्तिका उपदेश तुम्हें कैसे दिया जाय? जब अपने बालकको ही स्नेह करना न आए तो किस प्रकार समझाया जाय कि बालभावसे सेवा करो.** इसलिये कुछ आता हो, हृदयमें प्रेमका संचार होता हो तो

भक्तिका उपदेश दिया जा सकता है. स्नेहका उपदेश किस प्रकार दिया जाय? भागवतमें कहा है **याप्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वां अनुस्मरत: सा मे** हृ**दयान्मापसर्पतु।।** जो ऐसा कहते हैं **मुझे कहीं भी स्नेह नहीं, कारण कि प्रत्येक वस्तुमें मुझे दोष ही दिखाई देते हैं'** तो दलपतराम भाई कहते हैं **अन्यनुं तो एक बांकू आपना अढार छ** तुम्हारेमें तो फिर भक्तिकेलिये अवकाश ही नहीं है, ऐसा व्यक्ति भक्ति नहीं कर सकता. कारण कि भक्तिकी पहली शर्त है कि हम दोष नहीं देखें, गुण ही देखें. ज्ञानकी पहली शर्त है दोष देखना. इसलिये संस्कृतमें ज्ञानीको दोषज्ञ कहा गया है. अपने संप्रदायमें भी कई दोषज्ञ घुस जाते हैं. जो केवल दोष ही देखते रहते हैं. **यह झारी ऐस कैसे पधराई, यह वस्त्र कैसे उढ़ाया, गैंद यहांके स्थान पर वहां कैसे पधराई, मुकुट सीधा क्यों धरा, टेढ़ा धराना चाहिये था.** क्योंकि ज्ञानी हो गये हैं. ज्ञानीकी बड़ी पंचायत यह है कि आतेके साथ ही उसको ठाकुरजीके दर्शनोंकी बजाय दोष ही के दर्शन होते हैं. इसलिये जितने ज्ञानी होते हैं उन्हें जगतमें दोष ही दिखाई देते हैं कि यह जगत मायाने बनाया है, माया जाल है दुखरूप है. भ्रमणा है. और भक्तको गुण ही गुण दिखाई देते हैं कि यह भगवानकी लीला है, भगवदानंदकी अभिव्यक्ति है.

अरविन्द महर्षि बहुत सुंदर बात कहते हैं. What is world ? An eternal child playing an eternal game in an eternal garden. एक शाश्वत बालक, एक उद्यानमें जो शाश्वत क्रीड़ा कर रहा है वह ही यह जगत है. जगत भक्तको भगवानकी क्रीड़ा ही दिखलाई देता है,

दूसरा कुछ भी नहीं. इसका कारण ज्ञान नहीं, इसका कारण भक्ति है. भक्ति होनेसे इसे सर्वत्र गुण ही गुण दिखलाई देने लगते हैं. ज्ञान भक्ति मिश्रित होंगे तो गुण दोष दोंनों दिखलाई देंगे और केवल ज्ञान होगा तो केवल दोष ही दिखलाई देंगे. इसलिये सेवामें दर्शन करते हुवे किसीको दोष ही दिखलाई देते हों ता समझ जाना चाहिये कि सेवाकी पुस्तक इतनी घोटली है कि सेवामें केवल दोष ही दोष दिखलाई देते हैं, गुण दिखते ही नहीं हैं. और जिन्हें आतेके साथ ही ठाकुरजी दिखलाई देते हैं, दोष न दिखें, जिन्हें कुछ समझ ही न पड़े कि दोष कहां हैं उनको समझना कि सेवाकी पुस्तक बांची नहीं है, हृदयमें शुद्ध भक्ति ही भक्ति भरी है. जिन्हें गुण दोष दोनों दिखलाई देते हैं उन्हें समझना कि थोड़ी पुस्तक भी बांची है एवं थोड़ा स्नेह भी है. सीधी गणितकी बात है. तो अपने ठाकुरजीके दर्शन करानेमें भी सावधानी रखनी चाहिये. आज तो अपने पुष्टिमार्गमें मेला लगाकर ठाकुरजीके प्रदर्शन करनेके शौकीन हो गये हैं पर सचमें सिद्धांतानुसार इस प्रकार ठाकुरजीका प्रदर्शन हो नहीं सकता. हमें ठाकुरजीकी सेवा अपने घरमें गुप्ततासे करनी चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **गुप्तोहि रसः रसत्वं आपद्यते, प्रकटस्तु रसाभास एव**। अपने प्रभुका स्वरूप रसात्मक स्वरूप है, अपने प्रभुकी सेवा रसात्मिका सेवा है, अपना प्रभुके साथ संबंध भक्ति रसात्मक संबंध है और यह संबंध गुप्त रखनेसे ही स्थिर रहता है. रस गुप्त है इसलिये ही रस है. जैसे ही प्रकट हुवा उसी समय रसाभास हो गया. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जहां तक

हृदय भक्ति रससे रिक्त न हो जाय वहां तक हम अपने ठाकुरजीकी नुमाइश कर ही नहीं सकते. ठाकुरजीकी नुमाइशकी वृत्ति तब ही प्रकट होगी जब कि हृदय खाली हो गया हो. महाप्रभुजी बहुत सुंदर उदाहरण देते हैं कि पात्रमें जो पानी भरा है वह कभी पात्रसे बाहर नहीं आ सकता ऐसी पात्रकी मर्यादा है. पर जो उसमें कोई छिद्र हो, या उसे हम उल्टा कर दें तो पानी बाहर गिर जाता है और पात्रकी गति फिर समझ जाओ कि पात्र खाली हो गया. ऐसे ही हृदयमें जो भक्तिरस है वह वहां तक भरा रहता है कि जहां तक उसे उल्टा नहीं करते जनताके सामने. खुलेमें उल्टा किया तो देखने वालेको तो मजा आयेगा कि **ओहो, खूब पानी निकला पात्रमेंसे पर पात्रकी गति विचार लेनी कि नुमाइश करनेमें हृदय भक्तिसे रिक्त हो गया**. **प्रकटस्तु रसाभास एव** यह ही श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं. इसलिये जहां तक तुम्हार हृदयमें भक्ति है वहां तक तुम ऐसा कुकृत्य कर ही नहीं सकते. भक्तिरस न हो तो इससे भी अधिक कुकृत्य हो सकता है, हम ठाकुरजीको भी बेच सकते हैं. मेरे साथ एक विद्यार्थी पढ़ता था. वह जिस मंदिरमें नौकरी करता था उस मंदिरमें एक हजार शालिग्रामजी बिराजते थे. मै तब छोटा ही था दस ग्यारह बरस का. मैंने उससे पूछा **तू एक हजार शालिग्रामजीको कैसे स्नान कराता है, कैसे चंदन लगाता है?** वह बोला **तुझे देखना हो तो किसी दिन सुबह आ जा**. मैंने कहा **ठीक, आऊंगा एक दिन**. एक दिनमें देखने गया तो वह क्या करता था कि एक तसलेमें पानी भरता. एक कपड़ेमें सभी

शालिग्रामजीको पधराता और बादमें कपड़ेको तसलेमें हिलाता, बस हो गया स्नान. फिर सभी शालिग्रामजीको लाइनसर बैठाकर चंदन छिडक दे. मैंने कहा **भाई यह पूजा गजब है तेरी** वह बोला **इसमें पूजा ही क्या करनी है, मुझे तो नौकरी करनी है. मंदिरके महंतजीने कहा है कि सभी शालिग्रामजीपर चंदन चढ़ना चाहिये तो वह चढ़ा रहा हूं.** इसको अभ्यास इतना कि सभी शालिग्रामजीपर एक आध छींटा तो पड़े ही चंदनका. कभी महंत देखने आये तो शिकायत न कर सके कि किन्हीं शालिग्रामजीका पूजन नहीं हुवा. पर बड़े होकर इसने क्या किया कि सभी शालिग्रामजी बेचकर खा गया. भक्ति न हो तो ऐसा हो सकता है. ऐसी दुर्गति करने वाला भाव भी जाग सकता है कि चलो भाव बहुत बढ़ गया है बेच खाओ सभीको.

इसलिये हम ऐसे प्रदर्शनोंको भक्ति समझते हैं पर वह भक्ति नहीं है. भक्तिका मार्ग बहुत धैर्यका व शौर्यका मार्ग है. यह छलकने वाला नहीं है. हैदराबादका राजकुमार लिखता है:

हम तो शजि यह समझे हैं, दामनको जो भिगो दे पानी है.

आंसू तो वही है एक कतरा, पलकोंमें जो तडपे बह न सके..

अर्थात् आंखमेंसे जो छलके उसे तो मैं पानी ही गिनता हूं, आंसू नहीं. बहे वह तो पानी है, किसी शारीरिक या मानसिक रोगसे भी बह सकता है. पलकोंके भीतर तड़पता रहेपर बाहर न आयें तो वह आंसूकी बूंद और आये तो फिर पानी ही है, अश्रु नहीं,

ऐसा यह कहता है. बस इसीमें ही अपन भक्तिका स्वरूप थोड़ा समझ सकते हैं कि आंखकी पलकोंके टेरेके बाहर जो भक्ति छलकी तो फिर भक्ति नहीं है, किसी प्रकारकी भगति है. इस भगतिको हम भक्ति न समझ लें, भक्तिकी गरिमाको हम अच्छी तरह पहचान लें कि कितनी बड़ी साधना प्रणाली श्रीमहाप्रभुजीने हमें बताई है और उसको भली प्रकार जीवनमें अमलमें लानेका प्रयास करें तो हमें पता चलेगा कि भक्तको कैसी चिंता होती है. पर जो यह भक्ति ही अपने हृदयमें न हो तो फिर हमें बिल्कुल ही समझ नहीं आयेगा कि भक्तको कैसी चिंता हो रही है और श्रीमहाप्रभुजीको उसके निवारणकी उतावली किसलिये है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **तुम भक्त हो, भक्तकी लौकिक गति किस प्रकार हो सकती है**? कितना अधिक आत्मविश्वास है श्रीमहाप्रभुजीके हृदयमें कि जिसने आत्मनिवेदन प्रभुको किया है उसकी लौकिकगति किसप्रकार हो सकती है! पर जो हम ठाकुरजीका प्रदर्शन कर रहे हैं तो अपनी लौकिकगति हो रही है. जो हम ठाकुरजीको मेलेमें बैठावेंगे तो लौकिकगति ही हो रही है अपनी.

भक्ति एकांतनिष्ठा है. जो तुम मुझसे पूछो तो सीधी भाषामें मैं तुम्हें यह कहूंगा कि विवाहके समय तो वर सजकर गांवमेंसे निकलता है पर सुहागरात या हनीमून गांवमें नहीं मनाई जाती. इसकेलिये तो सभी ऐसे स्थानोंमें जाते हैं कि जहां एकांत मिले.

आजकल तो कितने ही लोग विवाहके तुरन्त बाद नाथद्वारा जाते हैं. नाथद्वारामें जो एक पांचतारा होटल

बन जाये तो मुंबईके सभी नवविवाहित उसमें उतरें. हमने श्रीनाथजीका एक दूसरा उपयोग ढूंढ निकाला!

ऐसा भक्तिका एक विकृत रूप अपने भीतर जो पनप रहा है उसे तो दबाना ही पड़ेगा. निंदाके रूपमें नहीं कहता हम सभी वैष्णव हैं और महाप्रभुजीके पुत्र हैं. महाराज लोग वंशसंतति हैं तो वैष्णव ज्ञानसंतति हैं. इसलिये हम सभीको विचारना ही होगा कि ऐसा घोटाला श्रीमहाप्रभुजीके या भक्तिके नाम पर क्यों हो रहा है? जिसने भी ऐसे तमाशेकी छूट दी हो वह अपने नामपर करता है तो ठीक है कोई परेशानी नहीं है पर श्रीमहाप्रभुजीके नामपर तो ऐसा तमाशा नहीं होना चाहिये. भक्तिकी जो गरिमा श्रीमहाप्रभुजीने मानी है उस गरिमाको जानना व मानना आना चाहिये. अपने यहां भक्तिमें एकाग्रता और एकांतका कैसा आग्रह है कि प्रभुकी कोई सेवा अपने यहां टेरेके बिना नहीं होती और दर्शनोंमें भीड़ अधिक हो जाय तो सेवा प्रणालीमें ऐसा है कि ठाकुरजीका राईनौन उतारना चाहिये, किसलिये? श्रीठाकुरजीको नजर न लग जाये. ऐसा अपना भाव होना चाहिये. ठाकुरजी एकांतमें रखने हैं, जरा जो भीड़ बढ़ गई और वह तुम्हें अच्छा लगा तो तुम भक्तिके अधिकारी नहीं हो. पत्नि या पतिके साथ हम प्रेमालाप करें और जनताको देखने देनेकी छूट यदि हम देते हों तो निश्चय ही तुम तुम्हारे ठाकुरजीका तमाशा करो जनतामें, नहीं तो हम कोई भवैया नहीं कि ठाकुरजी झूला किस प्रकार झूलते हैं और किस प्रकार भोग आरोगते हैं वह जनताको दिखायें. ठाकुरजीके साथ अपना भक्तिमय संबंध है और बहुत

नाजुक संबंध है. इतने अधिक भारको वह झेल नहीं पायगा, टूट जायगा, भक्तिरस नही रह जायगा, रसाभास हो जायगा, भक्तिका संबंध तितर बितर हो जायगा, इसलिये अतिशय सावधानी रखनेकी आवश्यकता है इस संबंधमें. उपनिषद कहते हैं कि तुम सभी अमृतके पुत्र हो, तुम इस अमृततत्वके प्रति आदर रखो. ऐसे ही मैं कहता हूं कि हम सब श्रीमहाप्रभुजीके, भक्तिके पुत्र हैं, भक्ति अपनी माता जैसी है, माताकी गरिमा खंडित नहीं होनी दे वही पुत्र है अन्यथा नहीं. तो श्रीमहाप्रभुजीकी भक्तिको दी गई गरिमाका हम खंडन करेंगे तो कुपुत्र कहलायेंगे.

नवरत्नकी भूमिकाको इतना लम्बा करने की मुझे कोई जरूरत नहीं थी परन्तु नवरत्नसे पूर्व हम सिद्धान्तमुक्तावली समझें कि सेवा अपने तन, मन और धनसे करनी है. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेदसे समझें कि पुष्टिसृष्टि प्रभुके स्वरूपका आनन्द लेनेकेलिये प्रकट हुई है. आत्मोद्धार या संसारके बंधनों में बंधे रहनेकेलिये प्रकट नहीं हुई है. सिद्धान्तरहस्यमें समझें कि **सेवकानां यथालोके व्यावहारः प्रसिद्धयति** तो समझमें आयेगा कि पुष्टिजीव भगवत्सेवाका कभी भी तमाशा नहीं कर सकता. जिसने प्रभुको सर्वस्व निवेदन कर दिया है वह कभी प्रदर्शन कर सकता है? जीव और प्रभुके बीच एकांतमें होता संबंध ही भक्तिका संबंध है.

किशनगढ़में एक भाईने मुझसे कहा **हिप्पी भी तो सार्वजनिक रूपसे प्रेमालाप करते हैं, टेरेके बिना ही सब कुछ करते हैं**. मैंने कहा **तुम और तुम्हारे साथी**

हिप्पी हो सकते हैं कदाचित, पर मैं तो कदापि हिप्पी नहीं बन सकता, मुझे तो अपने प्रभुके साथ टेरा चाहिये, चाहिये और चाहिये ही. टेरेके बिना हिप्पी कर सकते हैं. तुम हिप्पी हो तो हिप्पीमार्ग चलाओ, जितना चाहिये उतना तमाशा करो, मुझे कोई परेशानी नहीं है. बुद्धि प्रेरक कृष्णस्य पाद्पदमम् प्रसीदतु जो सभीको बुद्धि देता है वह ही तुम्हें भी बुद्धि देगा. वह जो खेल खेलेगा उसे तो मैं मान लूंगा परन्तु सिद्धान्तका तो सिद्धान्तके तरीकेसे ही विवेचन करूंगा और समझूंगा. यहां प्रश्न किसी व्यक्ति या समुदायकी निंदाका नहीं है, प्रश्न है सिद्धान्तका. बाकी तो जिसे प्रभु जैसी बुद्धि देंगे उसीके अनुसार वह करेगा.

अपना कर्तव्य है कि मरने जाते हुवेको समझाना कि मरो नहीं. पर कोई कहे कि ना, मुझे तो मरना ही है तो हम क्या कर सकते हैं? कितनी माथा फोड़ी कर सकते हैं? पर वह मरता हो और हम बगलमें खड़े हों तो पुलिस हमसे भी पूछताछ तो करेगी कि जब वह मर रहा था तो तुम भी तो वहां खड़े थे? तो श्रीमहाप्रभुजीके पंचनामें में अपना नाम व्यर्थमें न आये उसकेलिये जब भगवानका ऐसा तमाशा होता हो तो अपनेको वहांसे खिसक लेना चाहिये. फिर जिसे मरना होगा वह तो मरेगा ही. जिसे भक्तिमार्गमें जीना हो उसे हम भली प्रकार सहकार देंगे, उसके लिये हम मर भी जायें तो थोड़ा है, क्योंकि भक्तिमाग इतना उत्कृष्टमार्ग है. पर जिसे भक्तके तरीकेसे जीना न हो, जिसे भक्ति अपने जीवनमें जीनी ही न हो और मरना ही हो तो उसे हम क्या सहयोग दे सकेगें? हमें वहांसे खिसक ही

जाना चाहिये, जिससे श्रीमहाप्रभुजीके सामने पंचनामा हो तो उस समय अपना नाम न आये कि जिस समय भगवानका तमाशा हो रहा था तो उस समय यह भी तो वहां खड़ा था.

इसलिये चुपचाप हमको वहांसे खिसक ही जाना उचित है. एक बार कहना कि ऐसा भगवानका तमाशा करना उचित नहीं है फिर तुम्हारी इच्छाकी बात है. प्रभु सभीकी बुद्धिके प्रेरक हैं. हम किसीकी बुद्धि या कृतिका ठका नहीं ले सकते. हमें ऐसा अहं भाव रखना ही नहीं चाहिये कि सबको मैं सुधार लूंगा परन्तु हमें इतना ममभाव तो श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोमें रखना पड़ेगा, रखना पड़ेगा और रखना ही पड़ेगा जो हमने कंठी ली हो तो. हमें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोको समझनेका अच्छी प्रकारसे प्रयास करना चाहिये और इतना ही नहीं, इन्हें भली प्रकार जीनेका भी प्रयास करना चाहिये. प्रभु कृपासे हमें वह जितनी भी सामर्थ्य दें उतना सिद्धान्तानुसार जी सकें; नहीं जी सकें तो अपना दुर्भाग्य है, परन्तु अपना प्रयास, अपना भाव, अपनी भावना ऐसी होनी चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि आओ भक्तिका भाव तुम्हारे हृदयमें हो तो फिर तुम्हें चिंताकी कोई जरूरत नहीं है, फिर तुम्हारे भावका कोई खंडन नहीं कर सकता.

श्रीमहाप्रभुजीने सुबोधिनीजीमें ब्रजमें जितने भी असुर हुवे उनका एक विलक्षण स्वरूप समझाया है और वह इस प्रकारसे कि दूसरे मार्गोंमें उदाहरणकेलिये ज्ञानमार्गमें रही हुई जो अविद्या है उसे मारनेका प्रयास हमें करना पड़ता है, शास्त्रका अभ्यास करके गुरुके

पास जाकर. पर इस मार्ग (पुष्टिमार्ग) में ऐसा नहीं है, प्रभु स्वयं अविद्या दूर कर देते हैं. राजा आसकरणदास जब मानसी करते थे और कढ़ी भोग धरते थे और धक्का लगा तो कढ़ी गिरी तो बाहर गिरी, मानसीमें तो नहीं गिरी. तो जीवके अल्पशक्तिवाले मनसे करी हुई सेवामें जो इतना सामर्थ्य हो तो प्रभु जिस समय मानसी सेवा करें कि ब्रजभक्तोंकी अविद्या मैं दूर कर देता हूं उस समय अविद्या हारेगी कि नहीं? विचार करो. जैसे कालीनाग है वह इन्द्रियाभिमान है, किसी प्रकारका राजसाभिमान है, किसी प्रकारका तामसाभिमान है, कुछ देहाध्यास है, कोई प्राणाध्यास है, कोई अंत:करणाध्यास है ऐसे एक एक असुरका स्वरूप श्रीमहाप्रभुजीने सुबोधिनीजीमें समझाया है कि किस असुरको मारते समय प्रभुने किस प्रकारकी मानसीसेवा करी. और इस मानसी सेवाका प्रभाव ब्रजभक्तोंमें कितना सुदृढ़ हुवा कि **तन्मनस्का तदालापा तद्विचेष्टा तदात्मिका तद्गुणानेव गायन्त्यो: नात्मागाराणि सस्मरु:**. भागवतमें कहा है कि इनकी प्रपंचासक्ति ऐसी निवृत्त हुयी कि इनका मन, वाणी, इन्द्रियां, प्राण, आत्मा, घर, परिवार सभी भगवन्मय हो गये. अर्थात कि कोई भी प्रापंचिक विषय इनकी भक्तिमें रोड़ा अटका न सके ऐसी स्थिति इनकी हो गई.

ब्रजभक्तोंने कौनसा त्याग किया था, कौनसी तपस्याकी थी? भागवतकार कहते हैं बिल्कुल **नहीं**. **न स्वाध्याय तपस्त्याग: नेष्ठा पूर्त न दक्षिणा** इन्होंने किसी शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था, कोई व्रत नहीं किया था, कोई तप नहीं किया था. भागवतकार स्पष्ट

समझााते हैं कि ब्रजभक्तोंकी दिनचर्या ऐसी थी कि **अहन्यापृतं निशिशयानम्** यह लोग दिनमें ग्वालियाका काम करते थे और रातको थक कर सो जाते थे. दिनमें काम करें और रातमें सो जावें, ऐसे संसारी लोगोंको भगवदासक्तिकी सिद्धि कैसे प्राप्त हुई? ऐसी चित्तकी एकाग्रता कृष्णमें कैसे हुई कि जो हजार हजार साल तपस्या करनेके उपरांत भी ऋषिमुनियोंको प्राप्त नहीं हुई. उसका एक ही कारण था कि उन्होंने निश्छल जीवन कृष्णके साथ जीया था. सुबह जागे तो कृष्णके साथ, नहाये तो कृष्णके साथ, खाया तो कृष्णके साथ, कृष्णको खिलाकर खाया और सोये तो कृष्णको गोदमें लेकर. इसीसे इनका संसार भी भक्तिमय हो गया. इनको दूसरी किसी साधनाकी जरूरत ही नही पड़ी. रवीन्द्रनाथ टैगोरने कहा है:

वैराग्य साधनेर मुक्ति से अमार नय,
असंख्य बंधन मांझ महानंदमय।
लभिव मुक्तिर स्वाद, ऐ्ई वसुधार,
पात्र खानि भरि बारंबार।
तोमार अमृत डाल दिबे अविरत ,
नाना वर्ण गंध मय प्रदीपेर मतो।
समस्त संसार मोर वृक्ष वर्तिकाय,
ज्वालाय तुलिबे आलो तुमार शिखाय।
तोमार मंदिर मांझ इन्द्रियेर द्वार,
रुद्ध करि योगासन से नहे अमार।
जे किछु आनन्द आछे द्रश्ये गंधे गाने,
तोमार आनन्द रवे तार मांझ खाने।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिवे जवलिया,

प्रेम मोर भक्तिरूपे रहिवे अलिया।

वैराग्य साधनसे जो कोइ मुक्ति मिलती हो तो मुझे नहीं चाहिये प्रभु. असंख्य जो मेरे बंधन हैं उन बंधनोंमें मैं बंधा रहूं पर एक शर्त पर कि उन बंधनोंमें तू भी मेरे साथ बंधा हुआ हो. अपने बाहुडोरसे मैं तुझे बांधे रखूं. हम दोनों इस संसारमें बंधे रह कर रहें. तू बैकुंठको छोड़कर थोड़ी देर यहीं आ जा, मेरे सांसारिक बंधनोंमें तू भी बंध जा. जो मैं भोजन करूं तो मेरे साथ आरोग और मैं सो जाऊं तो तू भी पौढ़ जा, जब जागूं तू भी जाग जा, फिर वैराग्य साधनासे मिलती मुक्ति मुझे नहीं चाहिये. मैं किसलिये विरक्त बनूं इस संसारसे कि जिस संसारमें मेरे साथ तू बंधा हुवा हो? किसी ज्ञानीको मुक्त होना हो तो हो जावे, मुझे मुक्त नहीं होना, मैं तो मुक्तिका स्वाद इस धरापर ही लेना चाहता हूं. **ब्रज वहालुं रे बैकुंठ नहीं आवुं, त्यां नंदनो कुंवर क्यां थी लावुं**. भूतलपर भगवद्‌भक्तिका स्वाद ले सकुं तो मुझे क्यों मुक्ति चाहिये, कौनसी मुक्ति चाहिये? मुझे संसारकी कैसी चिंता जबकि तू मेरे साथ संसारमें बंधा हुवा है.

अहन्यापृतं निशिशयानमति श्रमेण लोकं विकुंठमुपनेष्यति गोकुलम् स्वयं संसारमें बंधे हुवे भक्तोंको प्रभुने बैकुंठका अनुभव कराया वह साधनके बलसे नहीं कराया. प्रभुने मानसी सेवाकी थी. अपने मार्गमें जो राग, द्वेष, संसार, आसक्ति, अज्ञान, दंभ, दर्प इत्यादि जो असुर हैं उन्हें मारनेकी जबाबदारी हमपर न छोड़कर प्रभुने ले ली लेकिन शर्त यह है कि ब्रजभक्तोंने जैसे निश्छल भावसे प्रभुको अपने संसारमें

पधराया वैसे ही निश्छल भावसे तुम प्रभुको अपने संसारमें पधराओ तो. तुम उनकी नुमाइश लगाओगे, उनका धंधा करोगे तो भक्तिमें काम नहीं चलेगा कारण कि यह कोई दूसरी ही रामायण हो गयी. इस कथा व उस कथामें बहुत अंतर है.

श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं **कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्** कौण्डिन्य और गोपिका हमारे गुरु हैं. उन्होंने भगवानको जिस तरह माना व समझा उस तरह हम मानें तो अपना यह संसार मुक्तिसे भी दुर्लभ हो जावेगा. हमारे इन गुरुओंने कोई भक्तिका धंधा नहीं किया था, भक्तिका तमाशा नहीं किया था. अपने स्वरूपका मेला नहीं लगाया था. प्रत्येक भक्त यही आग्रह रखता था **रहिये मेरे ही महल पिय, अनत न जइये**. मेरा घर छोड़कर कहीं और न जाना, गांवमें अपना प्रदर्शन करने न जाना. मेरे ही घरमें रहना. **शैया सामिग्री वसन आभूषण सब विधि राखूंगी टहल. पिय अनत न जइये.** यह भाव ब्रजभक्तोंका भाव है. इस भावसे अपने हृदयको पूरित करेंगे तो संसार किसी दिन भी चिंता नहीं करा सकता. श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं **भगवानापि पुष्टिस्थौ न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्**.

भगवान पुष्टिस्थ हैं इसका अर्थ क्या? श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीजीमें समझाते हैं कि कोई मनुष्य कुएमें डूबता हो और हमें जो उसके प्रति स्नेह न हो तो हम उसे बचानेकेलिये रस्सी फेकेंगे, टायर फेकेंगे कि जिसे पकड़कर वह बच जाये. लेकिन हमारा कोई बहुत स्नेही डूबता हो तो हम रस्सी या टायर नहीं ढूंढते.

उसे बचानेकलिये हम स्वयं कूद जाते हैं. उसी प्रकार यह संसार कुंआ है और इस संसार रूपी कुएमें जो हम डूबते हों तो प्रभु हमारे ऊपर ऐसी पुष्टि करते हैं, ऐसे पुष्ट होकर हमारे संसारमें पधारते हैं कि जिस संसारमें तुम बंधे हो, जो दिनचर्या तुम्हारी है उसमें वह साझेदार बन जाते हैं. एक बार प्रभु संसारमें, जीवनमें साझेदार बन जायें फिर कोई मुश्किल नहीं. लेकिन यदि हम उन्हें साझेदार नहीं बना सके तो यह संसार निश्चित रूपसे अविद्या है. फिर ज्ञानीओंको देखनेकी इच्छा होगी कि इसमें दोष है. उसकी क्षणभंगुरता तुच्छता, मायाममता यह सब देखना पड़ेगा. पर एक बार भक्त हृदयसे, भगवानको यहां बुलाओ और आमंत्रित करो और उस रसात्मक प्रभुको रस भावसे अपने घर पधराओ. बादमें देखो कि तुम्हें कभी भी लौकिक गतिकी चिंता नहीं होगी. कारण कि **ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मानैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वात् भक्तानाम् तु विशेषत:। सर्वेन्द्रियै तथा चान्त:करणै: आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानाम् गृह एव विशिष्यते** ।। श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि जो ज्ञानी मुक्त होते हैं उन्हें अपनी आत्मासे ही केवल ब्रह्मकी अनुभूति होती है पर भक्तकी एक विशिष्टता है कि यह अपने घरमें ही ब्रह्मको पधरा लेता है और अपनी प्रत्येक इन्द्रियसे उसको ब्रह्मका स्वाद लेनेको मिलता है. आंखोंसे वह ब्रह्मका दर्शन कर सकता है, जीभसे प्रसाद ग्रहण कर सकता है. वाणी कर्णसे यह भगवद्गुणोंका कीर्तन श्रवण कर सकता है, हाथसे

भगवानकी सेवा कर सकता है, पैरसे यह भगवदसेवार्थ जा सकता है.

लेकिन एक बार आत्मनिवेदनपूर्वक तुम घरमें प्रभुको पधरावो, तुम्हारा सारा संसार ब्रह्मात्मक बन जायगा. इसीलिये कहते हैं **सर्व खलु इदं ब्रह्म** यह जो कुछ भी है वह ब्रह्म है. तुम जो देखते हो वह भी और जो नहीं देखते हो वह भी. इस प्रकार तुम्हें ध्यान होगा कि हम सेवामें किसी वस्तुको लाते नहीं, पधराते हैं. इसका सीधा सीधा मतलब यही कि वह ब्रह्मात्मक हो गयी. **गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वेन निरुप्यास्यात् तद्वदत्रापि चैवहि**. श्रीमहाप्रभुजी समझाते हैं कि कोई नाला या छोटी नदी जो अपनी क्षुद्रता लेकर बहती हो वह एक बार गंगामें मिल जाए तो बादमें उसका विवेचन करनेमें नहीं आता. कारण कि गंगामें मिलनेके बाद नाला नदी नहीं रह जाते गंगा ही हो जाते हैं. इसी प्रकार भक्तिमें मिलनेके बाद हमारे संसारकी प्रत्येक वृत्ति भक्ति है. सोना भी भक्ति है, जागना भी भक्ति है, खाना भी भक्ति है, सब भक्ति है.

जब सभी कुछ भक्ति है तो लौकिकगति होनेकी चिंता तुम्हें किसलिये? संसारमें जिस लौकिक गतिकी ज्ञानी चिंता करते हैं (भागते हैं) उसकी तुम्हें किसी दिन चिंता नहीं होगी कारण कि तुम्हारा समस्त संसार भक्तिमय बन गया, ब्रह्ममय बन गया. तुमने आत्मनिवेदन किया है, प्रभुभक्तिकी एक ऐसी गंगामें अपने आपको डुबो दिया है कि तुम्हारी प्रत्येक सांसारिक वृत्तियोंमें ऐसी पावनता, ऐसी शुद्धता आ गयी है जो पावनता, शुद्धता मुक्तिकी ही हो सकती है.

और सच कहें तो मुक्तिसे भी अधिक है कारण कि मुक्ति केवल आत्मासे अनुभूत होती है और भक्ति तो सर्व इन्द्रियोंसे अनुभूत होती है. देहसे, आत्मासे अनुभूत होती है और इतना ही नहीं आचार्यचरण आज्ञा करते हैं **परिजनोपि कृतार्थो भवति** परिवारजन भी भगवदसेवामें विनियोग पाकर कृत कृत्य हो जाते हैं, कतार्थ हो जाते हैं. इसलिये आप आज्ञा करते हैं कि कभी तुमसे साक्षात प्रभुकी सेवा न होती हो तो कोई मुश्किल नहीं, घरमें जो व्यक्ति सेवा करता हो वह सेवा करे उसको फूलमाला धरानेकेलिये चहिते फूल तो तुम बाजारसे ला सकते हो? लो, तो तुम्हारी सेवा हो गयी. तम कहो कि यह तो मै नहीं कर सकता तो भी मुश्किल नहीं, सेवामें संसार चलानेकेलिये जिस द्रव्यकी जरूरत है वह द्रव्य तो तुम अर्जित कर रहे हो न ? बस तो तुम्हारी सेवा हो गयी. यह सेवा नहीं परिचर्या है. सेवककी सेवा है. इस प्रकार एक साक्षात प्रभुकी सेवा करे वह सेव्यकी सेवा और एक जो ठाकुरजीकी सेवा कर रहा हो उसकी सेवा करे वह सेवककी सेवा. उसे परिचर्या कहते हैं. इस प्रकार साक्षात सेवा नहीं तो परम्परासे जो व्यक्ति कमा रहा है वह भी ठाकुरजीकी सेवा कर रहा है. मराठीमें कहावत है कि **बाप बताओ नहीं तो श्राद्ध करो** तुम दिखाओ कि घरमे सेवा चल रही है कि नहीं ? सेवा चल रही है तो घरके सभी लोग सेवक ही हैं. साक्षात प्रभुकी सेवा करता हो तो भी और नहीं करता हो तो भी. कारण कि उस संसारमें यह साझेदार है कि नहीं जहां प्रभु बिराजते हैं? बस तो यह भी सेवा कर रहा है. कारण कि संसार तो ऐसे ही

चलता है. गाड़ीमें सभी सीट बनना चाहें तो नहीं चल सकता. किसीको टायर भी बनना पड़ेगा, किसीको चेसिस, किसीको स्टेयरिंग भी बनना पड़ेगा. किसीको पैट्रोल बनकर फुंकना भी पड़ेगा कारण कि गाड़ी तो तभी चलेगी. सभी सीट बन जाऐं तो गाड़ी नहीं चलेगी.

कांकरौली वाले महाराजश्रीने मुझे एक बात बताई कि एक बार वह सूरत पधारे. वहां एक नावमें ठाकुरजीका वैष्णवोंने मनोरथ किया. सभी वैष्णवोंका यह आग्रह कि जिस नावमें महाराजश्री बिराजें उसी नावमें हमारे ठाकुरजी बिराजें. तो झांपी पर झांपीजी बढ़ती चली गई. आखिरमें महाराजश्री और झांपीजी सभी नदीमें. महाराजश्रीने कहा **मैं तो जैसे तैसे तैरकर बाहर आगया पर जो जगतके तारनहार हैं उनमेंसे कितने बाहर आये यह खबरनहीं लगी**. इसलिये ऐसा मेला करनेमें जो तारनहार है उसीको हम डुबो देते हैं. तारनहारका मेला मत करो. तारनहारको तुम घरमें ही पधराओ. आनन्दसे सेवा करो बादमें देखो महाप्रभुजीका नवरत्न ग्रंथ तुम्हें कितना समझ आता है ! महाप्रभुजी एक शब्द उच्चारते हों तो तुम्हें दो भाव समझ आयेंगे. पर जो इस प्रकार माननेकी तुम्हारी तैयारी नहीं है तो महाप्रभुजी नौ श्लोक उच्चारें तब भी तुम्हें एक बात भी समझमें नहीं आयेगी. तुम्हें कहना पड़ेगा कि **महाराज सुन्यो पर समझयो नहीं**. कभी ऐसा भी हो कि तुम्हें नवरत्न सुनते सुनते नींद ही आजाए. **अदभुत निद्रा आई मंडलीमें, अदभुत निद्रा आई.** तुम्हें शायद ऐसा लगे कि यह चिंताकी पंचायत कहांसे खड़ी हो गई? हमें तो मनोरथके दर्शन करने थे प्रसादके

लड्डू चाहियें थे, यह सब कहांसे आ गया? हमारे काकाजी कहते हैं कि जहां पब्लिक अपने बसमें न आती हो वहां लड्डुओंका एक एक हैंडग्रेनेड फेंको, सब वशमें आ जायेंगे. लेकिन ऐसे हैंडग्रेनेडोसे बसमें आते लोग सभी वैष्णव हैं कि नहीं, इसकी चिंता मुझे होती है. यह सब मोदक भट्ट होंगे. पुष्टिभक्त हैं कि नहीं यह शंकास्पद है. ऐसे प्रसादी भगत भक्त नहीं हो सकते. इसीलिये प्रसाद और स्वाद इन दोनोंका विवेक थोड़ा समझमें हमें आना चाहिये. प्रसाद वह है जो हम निश्छल भावसे ठाकुरजीको भोग धरते हैं. और मेला लगायें तो वह प्रसाद नहीं स्वाद है. प्रसादसे हमारा उद्धार हो सकता है प्रसादसे हमारे अंदर भक्तिका भाव वृद्धिगत हो सकता है पर स्वादसे तो संसार ही वृद्धिगत होगा. यह बात नहीं भूलनी चाहिये. प्रसाद और स्वाद का विवेक समझेंगे तो हम नवरत्न समझनेके अधिकारी बनेंगे.

oooooooooooooooooo

प्रवचन २५.८.१९८४

पुराने जमानेमें लोग एक गांवसे दूसरे गांव चलकर जाते थे तो बीस पच्चीस दिनमें पहुंचते थे. जिसके यहां मेहमान बनकर जाते वह दस पन्द्रह दिन रोक भी लेता था तो कोई घबराहट नहीं होती थी क्योंकि रास्ता चलनेमें ही महीना बीत गया हो तो पांच दस दिन

रुकनेमें क्या बिगड़ जायेगा? पर आज जो लोग यात्रा करते हैं उन्हें मालूम होगा कि किसी स्टेशनपर ट्रेन एक घंटा रुक जाय तो ऐसा लगता है कि रेलवेका संपूर्ण तंत्र ही बिगड़ गया है. यह कोइ व्यवस्था है? हमको घबराहट होती है, चिंता होती है कि कब पहुंचेंगे? जब पैदल जाते थे तब ऐसा नहीं लगता था. एक घंटा तो जानेवाला देरसे पहुंच ही सकता था.

हमने दादाजीके मुखसे सुना था कि हमारी दादीजी जब व्रजयात्राको पधारे वापिसीमें तो १८ दिन तक ट्रेनम बिराजनेका अवसर ही नहीं आया. मथुरासे सवाई माधोपुर जानेकी ट्रेन रोज छूट जाती. अंतमें भरतपुर महाराजके सैनिकोंको बुलाना पड़ा कि पूरे स्टाफको जो जिस हालतमें हो, नहाते हों या खाते हों, उसी हालतमें उठाकर ट्रेनमें डाल दो तभी सब सवाई माधोपुर आर वहांसे पैदल चांपासैनी पहुंचे.

इस प्रकार एक डेढ़ घंटा देर हो जानेको देर माननेकी पद्धति उस समय नहीं थी. पर आजकल जो लोग विमानमें यात्रा करते हैं उन्हें पता होगा कि २० मिनट अगर विमान देरसे उड़े तो सभी बेचैन हो जाते हैं. कोई घड़ी देखता है, कोई पखा करता है, कोई एयर होस्टेसको बुलाकर पूछता है क्या बात है? क्यों देर हो रही है? क्या गड़बड़ है? कितनी अधिक चिंता, कितना अधिक उद्वेग एक विमानके बीस मिनट देरसे उड़नेपर हो जाता है. क्या हमने किसी दिन विचार किया? इसका कारण यह है कि हमारा मन अतिशय वेगवाला है और इतना वेगवाला कि शरीरके वेगसे दुगना वेग मनका हो जाता है. शरीर जो पैदल चल कर जाता है

तो मन इतना अधिक वेगवान नहीं होता. पंद्रह दिन रुकना हो तो भी हमको ऐसा नहीं लगता कि हमें देर हो गयी. लेकिन ट्रेनमें दो दिनमें पहुंचना है इसलिये शरीरमें वेग बढ़ता है और अनुपातत: मनका वेग भी बढ़ जाता है और एक घंटा देर होते ही चिंता हो जाती है. अगर डेढ़ घण्टेमें बम्बईसे देहली पहुंचना हो तो शरीरका वेग और बढ़ जाता है तथा मनका वेग उससे चार गुना बढ़ जाता है. तभी हमें लगता है कि **२० मिनट प्लेन देरसे उडा. व्यवस्था बिगड़ गयी है**. तो मनका वेग हमेशा शरीरके वेगसे अधिक होता है इसीलिये जब मनका वेग बढ़े और शरीर साथ न दे तब हमें चिंता होती है, उद्वेग होता है, अकुलाहट होती है कि क्या हो रहा है? किसी दिन समुद्र किनारे घूमने जाओ, एक दो मील चलो तो भी ऊब नहीं होती. कारण कि मन फुरसतमें होता है. कहीं पहुंचना नहीं सिर्फ घूमना है. पर जब ट्रेन पकड़नी हो और केवल १५ मिनट ही चलना हो तो भी tension हो जाती है और बीच रास्तेमें कोई पूछे **क्यों भाई क्या हाल है?** तो हमें लगता है कि अरे अभी मत पूछो कल पछना, अभी तो ट्रेन पकडनी है. क्योंकि मनमें वेग आ जानेके कारण कोई हमारे हालचाल भी पूछे तो चिंता, उद्वेग हो जाता है हमें. अपनी अधिकांशत: चिंतायें, लौकिक व्यवहारमें, शास्त्रीय व्यवहारमें या भक्तिमें, इन्हीं गड़बड़ियोंके कारण होती हैं. शरीरका वेग बढ़ात समय हमें ध्यान नहीं आता कि हम क्या घोटाला कर रहें हैं. पर उसका असर मनपर तो पड़ता ही है. मनका वेग चारगुना हो जाता है और शरीर उस वेगसे न चले तो

घर्षण हुवे बिना नहीं रहता, शरीर और मनके बीच और फिर चिंता, उद्वेग वगैरह सभी तकलीफें हमको हो जाती हैं.

तुम जंगलके जानवरोंको देखो. सवेरेसे अपनी खुराककी खोजमें निकलते हैं तो शाम तक किसी समय खुराक मिलती है किसी समय नहीं भी मिलती लेकिन उनको कोई चिंता नहीं होती, बहुत धीरज होता है. पर आज प्रैशर कुकर आनेसे उसकी सीटी बजती है तो हमारे अंदर पहले ही भूखकी सीटी बजने लगती है कि खानेमें देर क्यों हो रही है? तो शरीरका वेग बढ़ा उससे मनका वेग दुगना बढ़ गया और चिंता, उद्वेग, हायपर- टैंशन, हार्टअटैक सभी होने लगे एकके बाद एक. अधिकांश चिंताओं और उद्वेगोंका मुख्य कारण यह है कि मनकी गति और शरीरकी गतिका जो संतुलन हमको जानना चाहिये वह संतुलन हम जान नहीं पाते हैं. आज हम देखते हैं कि जितना उद्वेग शहरमें रहने वाले मनुष्यको होता है, जितना ब्लडप्रैशरका मरीज शहरका मनुष्य है, उतना गांवमें रहने वाले मनुष्यका नहीं होता. क्या कारण? क्योंकि गांवमें रहनेवालोंके शरीरमें इतना वेग नहीं आया इसलिये उनके मनका वेग भी उतना ही कम है. और शहरमें रहने वालोंके शरीरमें वेग आ गया है कि बस पकड़नी है, ट्रेन पकड़नी है, यह करना है, वह करना है, तो मनमें उससे चारगुना वेग आ गया है. बॉलबियरिंगको सहज धक्का मारनेसे चार चक्कर घूम जाता है. इसी प्रकार मनमें भी ऐसा कोई बॉलबियरिंग है कि थोडा धक्का

मारनेसे चारगुने वेगसे चलता है और फिर शरीर साथ नहीं देता, तो चिंता होती है.

कालमैन नामक एक बड़ा मनोवैज्ञानिक हुवा है. उसने Abnormal Psychology की शुरुआतमें पहला वाक्य यह लिखा है कि युरोपमें १७वीं शताब्दी ज्ञानकी थी, १८वीं शताब्दी तर्क व शंकाकी थी, १९वीं शताब्दी विकासकी कहलायी एवं २०वीं शताब्दी वह कहता है कि Tension और Hypertension की शताब्दी है. प्रत्येक मनुष्य Tension में है. मुंबईमें तो मुझे लगता है कि भिखारो भी Tension में है! दो चार बार तुम्हारे पास मांगेंगे और न दो तो गाली देकर दूसरी गाड़ीमें बैठे हुवेको पकड़ेंगे. उनको भी फुरसत नहीं है दो चारसे अधिक बार तुम्हारे पास मांगनेकी. कारण कि दूसरी गाड़ियोंमें बैठे हुवे छूट जायेंगे ग्रीन सिगनल होते ही. पहले जमानेमें भिखारी भी एक एक दिन एक एक घरके पास बैठे रहते थे मांगना होता था तो. आज तो दो तीन मिनटसे अधिक समय मांगनेमें वह नहीं बिगाड़ते एक गाड़ीपर. सिगनलपर कभी भी जाकर देख लेना. हम सभीका सारा जीवन एकदम टेंशनका है इसलिये जितने पागलखाने और पागलोंके डाक्टर बढ़े हैं इतने पहले कभी नहीं थे. और इतने पागल भी पहले थे या नहीं यह एक विचारणीय विषय है.

पुराने जमानेमें पता ही नहीं चलता था कि कोई वस्तु कहां पैदा हुई. उसकी जानकारी होनेमें हमको बीस पच्चीस साल लग जाते थे. आजकल एक दिन कोइं वस्तु नई निकलती है तो दूसरे दिन टी.वी. में हम देख लेते हैं और तुरंत हमको वह लेनेकी इच्छा हो

जाती है. यातायात भी बढ़ गये हैं. वस्तु बैलगाड़ीमें नहीं पर प्लेनसे या ट्रेनसे तुरंत आ जाती है. घर बैठे मिल जाती है. इससे हुवा क्या? मैंने एक घरमें देखा तो मुझे बहुत आश्चर्य हुवा. मंजन करनेके ब्रशमें मशीन लगी थी. ब्रश नहीं चलाना पड़े हाथमें मशीन पकड़कर रखनी और ब्रश अपने आप दांतोपर चलेगा. मुझे लगा ऐसी नाजुक कसरत करनेमें भी जो हमको दिक्कत होती है तो यह शरीर क्या करेगा? शरीरको कुछ काम ही न रहेगा. पंखा हाथसे करते थे सो सीलिंगफैन आ गया. जल भरने जाते थे सो अब नल आ गया. हमको कुछ करना बाकी ही न रहा. नित्य नवीन वस्तुओंकी खोज होती रहती है. हमारे किशनगढ़ जिलेमें जहां बिजली नहीं हैं पर वहां भी मैं गया तो देखा कि बैलके सींगपर ट्रांजिस्टर बज रहा था. इस प्रकार हर वस्तु हर जगह जब चाहिये तब मिल जाती है.

गीतामें एक बहुत सुंदर वस्तु समझाई गई है कि **संगात संजायते काम:** जिस वस्तुका संग होता है उस वस्तुकी हमको कामना पैदा होती है. आज टी.वी., रेडियो और अखबारमें आती सार्वजनिक खबरोंसे हमको हरेक वस्तुका संग होता है. इस संगको हम टाल नहीं सकते. एक योगीकी आत्मकथामें मैंने पढ़ा तो मुझे बहुत आश्चर्य हुवा. यहां मुंबईमें ही किसी आश्रममें वह रहते हैं. उनसे साक्षात्कारमें पूछा गया कि तुम्हारी चित्त एकाग्रता कैसी है? उन्होंने कहा **चित्तकी एकाग्रताका प्रश्न ही कहां खड़ा होता है. मैं सवेरे ध्यान लगाकर गायत्री जपने बैठता हूं तो वहां रेडियो बजता है और पहले ही 'दिल का खिलौना हाय टूट गया'**

बजने लगता है तो दिल भगवानमें कहांसे लगेगा? और संग तो निरंतर रहता ही है तो चित्त किस प्रकार भगवानमें एकाग्र हो! संग होता है वह तो समझमें आया संगसे काम होता है वह भी समझा. कामको हम वशमें ला सकते हैं परन्तु ही वह वस्तु हमको थोड़े प्रयाससे मिल जाती है. दुकानमें ऑर्डर लिखा दो तो घरमें सारा माल देकर जाते हैं, लेने जानेकी तकलीफ भी हमको नहीं करनी पड़ती. ऐसी स्थितिमें जब इस प्रकार सप्लाई हो तो संतोषकी स्थिति नहीं आ सकती क्योंकि मनमें जिस तरह संतोषकी भूख रहती है और जो इतनी जल्दी संतोष मिल जावे तो मन दूसरी वस्तुओंको ढूंढनेका प्रयास करता है.

क्या तुम जानते हो कि इन व्रजयात्राओंमें क्या हो रहा है? यात्राके विज्ञापनोमें आता है कि तुम्हें ढोकला मिलेगा, फाफड़ा मिलेगा. तो हमें लगता है कि यह यात्रा बहुत अच्छी है, इसमें ही नाम लिखवाना चाहिये, सभी कुछ मिलेगा. मैं एक बार यात्रामें गया तो तंबूके बाहर ही कोकाकोलाकी बोतल बिकती हुई मैंने देखी. आजकल लोग फोल्डिंग पलंग और रेडियो भी लेकर जाते हैं यात्रामें. अर्थात यात्रामें जानेपर वहां यह सब चीजें तलाशते हैं और समुद्र किनारे जाते हैं तो वहां मूंगफली, चना खाते हैं, रेतीमें लोटते हैं. अरे भाई मूंगफली और चना खाकर यात्रा करो न और यह सब समुद्र किनारे घूमने जाओ तब खाओ. पर सब कुछ उल्टा हो गया है. यहांका वहां करते हैं और जो वहां करना है वह यहां करते हैं, क्योंकि वस्तुकी सप्लाई इतनी बढ़ गई है कि मुंबईमें हमको इनकी इच्छा ही

नहीं होती. यहां हम वेरायटी या कि बदलावकेलिये चने खाते हैं. यात्रामें जायें तो लगता है कि यहा कौन खिलायेगा घरकी खुराक? इसलिये यात्राकी एजेंट कम्पनीको कह देते हैं कि तुम्हें सारी व्यवस्था करनी पड़ेगी. वह सभी वस्तुऐं सप्लाई करता है तभी हमको यात्रा करनेमें आनन्द आता है, इतना ऊटपटांग हो गया है.

जो बड़े बड़े वैरागी हैं उन लोगोंमें भी ऐसा ही हो गया है कि हिमालयमें जाना अच्छा नहीं लगता, वैराग्य त्यागकर मुंबईमें रहने आ जाते हैं. और मुंबईके संसारी लोगोंको पूछो तो कहते हैं **हिमालयमें घूमने जायें, वहां बहुत शांति मिलती है चित्तको** ऐसा सभी उल्टा चल रहा है आजकल. हिमालयमें जिसको रहना चाहिये वह मुंबईमें आ जाता है और मुंबईमें जिसे रहना चाहिये वह हिमालय जा रहा है. तुम यदाकदा समाचारमें पढ़ते होगे कि जितने पांचतारा होटल हैं उनमें शरीर सौष्ठवकेलिये योगके व्यायाम कराते हैं, और यह भी पढ़ते होगे कि योगी लोग गनफैक्टरी चला रहे हैं. सभी कुछ उल्टा सीधा हो गया है. सभी वस्तुऐं सभीको प्राप्त हैं इसलिये खबर ही नहीं पड़ती कि क्या करना और क्या नहीं करना? पांचतारा होटलमें जाकर व्यक्ति आसन करने लग जाता है और योगीको गनफैक्टरीका लाइसेंस मिल जाता है. कालकी इस गतिको वापिस तो नहीं किया जा सकता, पर यह विचारणीय है कि हमें क्या करना चाहिये कि जिससे चिंता, उद्वेग, frustration के चक्करमें न फंस जायें? क्योंकि भगवानने गीतामें कहा है कि **न जातु काम**

कामानां उपभोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव अभिवर्धते जितना तुम कामको उपभोगसे शांत करनेका प्रयास करोगे उतना ही यह बढ़ेगा, शांत नहीं होगा. जैसे आगमें घी झोंकनेसे आग बुझती नहीं, अधिक भड़कती है.

हम पातंजली (एक ऋषि) से पूछें तो वह कहते हैं **योगः चित्तवृत्ति निरोधः** पर फ्रायडसे पूछें तो वह कहते हैं **रोगः चित्तवृत्ति निरोधः** चित्तवृत्तिका निरोध करना उसका नाम ही रोग, दूसरा कोई रोग होता ही नहीं है. क्यों इतना अन्तर आगया? क्योंकि सभी वस्तुऐं पातंजलीके समयमें सहज उपलब्ध नहीं थी इसलिये उस स्थितिमें चित्तका निरोध हम कर सकते थे. जैसे कि मैं पैदल चलूं और मुझे रुकना हो तो पहले नहीं तो दूसरे कदम पर मैं रुक सकता हूं. पर कोई गाड़ी तेज जाती हो और उसको एक फुटके अन्तरमें रोकनेका प्रयास करेंगे तो वह पलट जायगी. विमान उससे भी तीव्रगति से चलता है इसलिये उसको एक मील लम्बा रनवे चाहिये. अर्थात जितना वेग बढ़े उसी अनुपातमें निरोध करने या रोकनेके लिये अन्तर चाहिये. वाहनको इसीलिये इतना समय और अन्तर देनेमें न आवे तो कहनेके साथ वह रुकेगा नहीं. हम क्या करते हैं कि उल्टा उपाय करते हैं. मुंबईमें रहते हैं, सारे दिन टी. वी. देखते हैं रेडियो सुनते हैं और बादमें कहते हैं कि थोड़ी देर ध्यान धरिये, योग करिये. तो जब तुम आंखें मीचोगे तब टी.वी. की कोई खबर तुम्हारे कानमें गूंजेगी और आंखमें दिखाई देगी. जब कामनाकी वृत्ति हमने इतनी बढ़ा दी है तो एक क्षणमें निरोध होना

शक्य नहीं. इतना समय और अन्तर मनको रोकनेके लिये देना होगा नहीं तो योगके बदले राग हो जायेगा.

कई लोग अपनी वृत्तियोंका दमन करते हैं उनको इसकारण रोग हो जाता है, हिस्टीरिया हो जाता है, sadistic tendency हो जाती है. इसका कारण यही है कि हमारी चित्तवृत्तियां इतनी तीव्र हो गयी हैं कि उनको सहसा रोकना शक्य नहीं. जो जो चित्तकी आवश्यकता है वह तुरन्त पूरी हो जाती है कोई प्रयास नहीं करना पड़ता. ऐसी स्थितिमें किसी वस्तुकी सप्लाईमें थोड़ी भी तकलीफ हो तो हमें tension हो जाती है. ऐसी स्थितिमें अपनी भक्तिके साथ उसको किस प्रकार एडजस्ट करना यह निश्चित विचारनेकी बात है, हंसनेकी नहीं. यह शताब्दी tension की है संपूर्णतया ऐसा कहनेसे बातका निराकरण नहीं हो जाता. उसका उपाय लाना होगा. शास्त्रके पास उसका उपाय है या नहीं यह हमको विचारना होगा.

जैसे जैसे जनसंख्या बढ़ती है वैसे वैसे वस्तुओंको प्राप्त करनेकी स्पर्धा बढ़ती है. स्पर्धा बढ़ती है तो वैसे वैसे वैमनस्य बढ़ता है, चित्तकी अशांति बढ़ती है. चिंता, उद्वेग, कलह सभी बढ़ता है. और तो और धर्मोपदेशक भी इस स्पर्धाकी वृत्तिका शिकार हो गये हैं. धंधेमें स्पर्धा तो समझमें आती है पर यह तो भक्तिमें स्पर्धा, ज्ञानमें भी स्पर्धा. ज्ञानीको लगता है कि मैं सबको ज्ञानी बना दूं. भक्तको लगता है कि मैं सबको भक्त बना दूं, वैरागीको लगता है कि मैं सबको सिर मुड़ाकर वैरागी बना दूं. आजकी संस्कृतिमें, आजकी नई सभ्यतामें, हमारी इच्छाओंमें और इच्छाओंके विषयोंमें और उनसे

संतोष प्राप्त करनेमें इतना वेग बढ़ गया है कि वैरागी निश्चितता से वैरागी नहीं होता, आश्रममें टी.वी. वीडियो रखता है. और बहुतसे संसारी ऐसे भी हैं कि जो वीडियोसे भी ऊब जाते हैं. ऐसे उल्टे क्रममें केवल वैराग्य, ज्ञान या भक्तिसे बातका निराकरण नहीं होता. कारण कि उपदेशक भी इस स्पर्धाका शिकार हो गये हैं जिसकी सामान्य जनता शिकार है. डाक्टरोंमें मरीजोंकी झड़पाझड़पी, दुकानोंमें ग्राहकों की, वैसे ही धर्मोपदेशकोंमें श्रोताओंकी छीनाझपटी. ऐसी स्थितिमें चिंतासे छुटकारा पाना सरल नहीं.

शायद किसीको मेरी बात कड़वी लगे, परन्तु इसका उपाय क्या? करला तो कड़वा ही लगेगा. उसके ऊपर शक्कर लगाकर भी परोसूं तो भी भीतरसे तो कड़वा ही होगा. इसलिये चिंताका कारण, स्वरूप और उसका उपाय यह बातें मीठी हो ही नहीं सकती, कड़वी ही होंगी. पर विचारें तो ही समझमें आयेगा कि यह निंदास्तुतिका प्रश्न नहीं है. अपने समाजकी वस्तुस्थितिका प्रश्न है.

किस प्रकार हम भक्ति करें कि इस चिंता और स्पर्धाके विषय चक्रसे हम बाहर आ सकें? इसका एक ही उपाय श्रीमहाप्रभुजी बताते हैं कि **ब्रह्मभावात्तु भक्तानां ग्रह एव विशिष्यते**. तुम घरमें थोड़ा ही करो तो तुम स्पर्धाके शिकार नहीं बनोगे और जैसे ही तुम बाहर भक्ति करोगे, जैसे ही तुम बाहर ज्ञान बखानोगे, तो तुम स्पर्धाके शिकार हुवे बिना नहीं रह सकते. घरमें स्पर्धा नहीं होती, स्पर्धा बाहर ही होती है. अपनी प्राचीन प्रणाली कितनी सुन्दर थी, कि प्रत्येक वैष्णव

रात्रिमें वार्ताका, शिक्षापत्रका, षोडशग्रंथका स्वयं बांचन, मनन करता था; इसमें कोई स्पर्धा नहीं होती थी, कोई किसीको छेदता नहीं था, कोई किसीको डगमगा नहीं सकता था. परन्तु आजकल तो ऐसा है कि कोई प्रवचनकार यदि काला चश्मा या काली शाल पहन ले तो दूसरे भी उसका अनुकरण करने लगते हैं. कहते ह **तुम बड़े तो हम छोटे, पर हैं तो हम भी ऐसे ही. मेरे बापने मेरा ऐसा ही नाम रखा तो मैं इसमें क्या करूं**? लो भगवदकथामें भी स्पर्धा चालू हो गई.

एक भाईने मुझसे कहा कि अपने पार्लामें कथा चलती है, आप भी महाराज कथा करो. मैंने कहा **ठीक है, परन्तु अभी नहीं, थोड़े दिन बाद करेंगे.** तो बोला **इस पंडालमेंसे सब चले जायेंगे फिर कथा करनेमें क्या मजा आयेगा? सांझको इसकी कथा चलने दो, सुबह हम इसके श्रोताओंका लाभ ले लेंगे**. मैंने कहा **ऐसी कथासे क्या लाभ? इसने हमारा क्या बिगाड़ा है कि हम इसके साथ स्पर्धा शुरु कर दें? इसको इसकी कथा करने दो, हम अपनी कथा करेंगे फुरसतसे.** पर प्रत्येक बातकी स्पर्धा है. किसी धर्म या संप्रदाय की movementes में १००० व्यक्ति इकट्ठे हुवे ऐसा सुनकर मनुष्यकी अपने धर्ममें निष्ठा डगमगा जाये? इतनी हल्की बातोंपर यदि हमारे धर्मकी निष्ठा आधारित है तो धर्म हमें किस प्रकार उबार सकता है? धर्मका अर्थ है ९९ आदमी एक तरफ हों पर तुममें निष्ठा होनी चाहिये कि मुझे मेरा धर्म जीना है, फिर आनन्दसे देखो कि तुम्हारा धर्म तुम्हें कैसी शांति प्रदान करता है! पर यदि तुम ऐसा कहते हो कि फलानेके भाषणमें एक

लाख लोग इकट्ठे हुवे और अपनेमें केवल ५००० ही, तो तुम्हें पर्चे छपवाने पड़ेगे, प्रचार करना पड़ेगा और टेन्शन तो फिर बढ़ेगी ही.

मुझसे एक व्यक्ति बोला कि **महाराज प्रचार करो**. मैंने पूछा **किस प्रकार प्रचार करूं?** वह बोला **प्रत्येक होटलमें जाकर अपना विजिटिंग कार्ड छोड़ दो कि भारतीय दर्शनकी कोई भी जानकारी प्राप्त करनी हो तो मिलो या लिखो श्यामुबाबा टे॰ न॰** ....' मैंने कहा **कोई शराब पीकर मेरे घर आजाये तो मुझे ऐसी स्थितिमें क्या करूंगा? यदि ऐसे सभी आ जायेंगे तो मैं पागल नहीं हो जाऊगा क्या?** इसलिये ऐसी स्पर्धा, ज्ञानोपदेश, भक्त्युपदेश, मनोरथोंमें हो गई है कि पड़ोसके गांवमें मनोरथ हुवा तो हम उससे बड़ा मनोरथ करें. उन्होंने चार मन लड्डू भोग धरे तो हम छः मन लड्डू भोग धरें. अंतमें जो धर्म तुम्हें ऐसी चिंता, उद्वेग, टेन्शनसे छुटकारा दिला सकता था उसी धर्मको तुमने चिंता, उद्वेग, टेन्शनका हेतु बना लिया.

हमारे राजस्थानमें एक कहावत है **हाडा ले डूबी गणगौर**. यहां महाराष्ट्रमें गणपतिके विसर्जनका आयोजन होता है उसी प्रकार वहां गणगौर होती है. तो एक समय जो हाडा राजपूत गणगौरका विसर्जन करने गये थे वह स्वयं ही पानीमें विसर्जित हो गये और गणगौर किनारे पर रह गयी. बस ऐसा ही हो गया है कि हम धर्मसे सभीका निराकरण करने जाते हैं और धर्म करनेमें ही हमको टैन्शन हो जाती है, स्पर्धा उठ खड़ी होती है. चिंताका विसर्जन करते करते धर्म स्वयं विसर्जित हो जाता है और चिंता वहीं किनारे पर खड़ी

रह जाती है कि उसके यहां एक लाख लोग और मेरे यहां केवल पांच हजार ही? अरे! हजार हों या लाख, तुम्हें तुम्हारे धर्ममें निष्ठा है कि नहीं? तुममें निष्ठा हो तो बात पूरी हो गई, बादमें कौन किसके पीछे है या नहीं इसकी तुमको क्या चिंता? जिस धर्मको पालनेमें दूसरोंके सिर गिनने पड़ें तो वह धर्म मेरा धर्म नहीं है.

श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु ग्रहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:** तुम्हारे हृदयमें रहा हुवा बीज भाव कब दृढ़ होगा? एक ही शर्त है कि अपने घरके दरवाजे बंद करके सेवा करो, कर सकते हो कि नहीं? कर सकते हो, तुम्हारा मन लगता हो तो समझो कि तुम पुष्टिमार्गीय हो. पर यदि तुम्हें ऐसा लगे कि दूसरेको नाचता देखूं तो मुझे नाचनेकी इच्छा होती है. मतलब कि तुममें बंदरकी सी नकल करनेकी प्रवृत्ति है. तुम्हारे भीतर अभी भक्तिका बीज भाव रोपित नहीं हुवा. किवाड़ बंद करके देखो कि तुम्हारे प्रभुके सामने तुम्हें नाचनेकी इच्छा होती है अथवा नहीं? प्रभुको रिझानेकी इच्छा होती है कि नहीं? प्रभुको रिझानेकी इच्छा है तो भक्ति है नहीं तो नहीं. तो तुम स्पर्धामें मत आओ, नहीं तो स्पर्धामें आकर कोई झांझ बजायेगा तो तुम्हें उससे अधिक आवाजमें झांझ बजानेकी इच्छा होगी. एक कथाकार कथा कहते हुवे रो रहा था तो श्रोता उससे भी जोर जोरसे रोने लगे. तो कथाकारने परेशान होकर कहा, **भाई शांत हो जाओ, मुझे ही रोने दो, तुम मत रोओ.** अरे ! रोनेमें भी स्पर्धा ! ऐसी स्पर्धाके चक्करमें हम फंस जायेंगे तो भक्ति नहीं होगी. इसीलिये

भगवानने गीतामें कहा है कि **विविक्त सेवी**. सचमें यदि तुम्हें कोई साधना करनी हो फिर वह कर्मकी हो, ज्ञानकी हो, भक्तिकी हो, योगकी हो, तपकी हो या कि वैराग्यकी हो इस कसौटीके पत्थर पर इसको घिसकर देख लो कि तुम्हें एकान्तमें साधना करनेकी इच्छा होती है तो वह ही तुम्हारा भाव है, उस धर्मको करनेका तुम्हारा अधिकार है. उस धर्मको स्वीकारनेका बीज भाव तुम्हारे भीतर प्रभुने स्थापित किया है. परन्तु इस साधनाको अगर एकान्तमें करनेकी इच्छा न होती हो तो समझ लो कि तुम किसीके अनुकरणसे, किसीकी स्पर्धा करनेके भावसे यह साधना कर रहे हो. एकान्तमें करनेमें तुम्हारा मन नहीं लगता तो उस धर्मको करनेका तुम्हारा अधिकार नहीं है. मैं एकान्तमें भक्ति करता होऊं **एकांतभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदिक्षणं** तो ही मैं भक्तिका अधिकारी हूं. एकान्तमें मुझे ज्ञानकी साधना भली लगती हो तो मैं ज्ञानका अधिकारी. पर थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर भीड़ इकट्ठी कर प्रवचन करनेकी अगर मुझे इच्छा होती हो, कि **बाबा बना तो हिन्दी तो बोलेगा ही** तो फिर ज्ञानका अधिकारी मैं नहीं, बड़बड़ाध्यायका अधिकारी एक बार नहीं सौ बार, पर ज्ञानका अधिकारी नहीं. क्योंकि मुझे ज्ञानकी उल्टी आ रही है, ज्ञान मुझे पचा नहीं. तुम्हें परोसूं और हो सकता है कि तुम्हें पच जाये, पर मुझे नहीं पचा क्योंकि मुझे ज्ञानकी साधना एकांतमें करनी नहीं आती. इसी पकार मुझे यदि भक्तिकी साधना एकान्तमें करनी अगर अच्छी नहीं लगती हो तो मैं भक्तिका कदापि अधिकारी नहीं हो सकता.

यह कसौटीका पत्थर शास्त्र हमको देता है, कि जो साधना तुम्हें करनी है उस साधनाको तुम एकान्तमें कर सकते हो कि नहीं? एकान्तमें कर सकते हो तो तुम्हें किसीसे पूछनेकी, किसीसे सर्टिफिकेट लेनेकी आवश्यकता नहीं है कि तुम इस साधनाके अधिकारी हो या नहीं; निश्चय ही तुम अधिकारी हो. पर आजकल कितने योगी भूगर्भसमाधि लेते हैं उसका विज्ञापन समाचार पत्रोंमें आता है कि कल समाधि होगी आप सब देखने पधारें. यह योग नहीं है, योग साधना नहीं है, योग प्रदर्शन है. साधना और प्रदर्शनमें एक मौलिक अन्तर है और वह यह कि साधना एकांतमें ही हो सकती है. एकान्तमें साधना करके देखो कि चित्तवृत्ति अवश्य शांत होगी. किसी समय अपनाकर तो देखो. यह तो नगद सौदेकी बात है, किसी उधार उपदेशकी बात नहीं कर रहा.

एक सामान्य बात कहूं, हम जब अपने नोट गिनते हों और उस समय मेहमान आ जाये तो अच्छा लगेगा हमें? खिड़की परदे सभी बंद करके ही नोट गिनते हैं. उस समय कोई घरकी घंटी बजावे तो गुस्सा आता है हमको **कहांसे आ गया इस समय** अथात् कितना एकान्त हमको चाहिये जब हम नोट गिनते हैं. ऐसे ही एकान्तमें योगसाधना, ज्ञानसाधना अथवा भक्ति साधना हम करें तो आत्म विकासकी एकके बाद एक सीढ़ी हम चढ़ पायेंगे. पर यदि हम परदा नहीं करेंगे, खिड़की खुली रखेंगे और कहेंगे कि **आओ भाई, हम योग कर रहें हैं, हम सेवा कर रहें हैं, देखलो, दर्शन कर लो**. तो तुम नोट नहीं गिन रहे हो, कुछ दूसरा ही घोटाला

कर रहे हो या तो नोट सच्चे नहीं हैं या फिर कुछ और बात है. सच्चे नोट होंगे तो इस तरह नहीं गिनोगे, बंद कमरेमें ही गिनोगे. इसलिये यह एक कसौटीका पत्थर है कि तुम किस साधनाकेलिये बने हो और कौन सी साधना तुम्हारे लिये है. इस कसौटीको हर समय उपयोग कर देखलो और फिर साधना करो. कोई जल्दी नहीं है. कोई भी साधना, संप्रदाय नरकमें ले जाने वाला नहीं है, कोई भी संप्रदाय हमको चोरी करना तो नहीं सिखाता. सभी मार्ग आत्मोद्धारक ही हैं. आत्मोद्धारकेलिये ही भगवानने भिन्न भिन्न प्रकारसे स्वरूप धारण किये है. पर प्रश्न इसका नहीं है, प्रश्न इसका है कि तुम किसके लिये हो? तुम किसे मान सकते हो जल्दबाजी बहुत ही नुकसानदायक है. क्योंकि डाक्टर कहदे कि शरीर बढ़ गया ह, वजन कम करो. इस कारण भूखा रहे, डाइट करे, कसरत करे और इतना अधिक घबरा जाय कि शरीर घटानेमें ही मर जाय तो? परन्तु मैंने ऐसा भी सुना है. अर्थात् हम बहुत जल्द ही उत्तेजित हो जाते हैं. मनकी गतिसे शरीरको ले जानेका प्रयास करेंगे और शरीर पहुंचेगा नहीं तो ऐसा ही घोटाला होगा. इतने वेग और आवेगोंको लेकर साधनामें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये.

एक सामान्य उदाहरण देता हूं. शरीर शास्त्रमें कहा जाता है कि अपने दिमागके भीतरकी संरचना इतनी कोमल है कि जरा सी भी चोट लगे तो मनुष्य पागल हो जाय. विचित्र विचित्र परिणाम उसके संभव हैं. इसलिये दिमागको सुरक्षित रखनेकेलिये प्रकृतिसे हमको इतनी मजबूत हाड़ (खोपड़ी) मिली है कि जिसपर

एकाध डंडा पड़ भी जाये तो भी दिमाग पर उसका असर न हो, खोपड़ीका हाड़ उसको झेल ले. इस प्रकार जहां जहां संरक्षणकी आवश्यकता है वहां वहां ऐसा हाड़का आवरण दिया गया है प्रकृतिके द्वारा. इसी प्रकार धर्म, जो अपना मर्मस्थल है, अपने चित्तको शांत करनेकेलिये, आत्माको संतुष्ट करनेका, अपने अन्दर रहे हुये बीज भावको प्रस्फुटित करनेका जो उपाय है, चाहे तो फिर योग हो, ज्ञान हो या भक्ति हो, उसकेलिये सरंक्षणकी आवश्यकता है; आवरणकी, टेरेकी आवश्यकता है, वह संरक्षण देकर साधना करो, फिर देखो कि चित्त शांत होता है कि नहीं, आत्मा संतुष्ट होती है कि नहीं, बीज भाव वृद्धिगत होता है कि नहीं; अवश्य होगा.

परन्तु हम ऐसे ऐसे नये प्रयोग करते हैं. काप्लान करक एक विचारक हुये हैं. उन्होंने बहुत ही सुन्दर बात कही है. इसको वह Law of instrument कहते हैं कि किसी भी बालकको तुम एक instrument दे दो तो बालक उसका सभी पर उपयोग करेगा. बालकका बालभाव ही ऐसा है कि उसको यदि हथौड़ी दें तो सभी पर हथौड़ी चलादे. पैन्सिल देदें तो दीवार पर, सोफेपर, तकियेपर, गद्दीपर सभी स्थानोंपर लाइन खींच दे, विवेक नहीं रखता. इसलिये अपने हाथमें instrument लेते समय यह विचार कर लेना चाहिये कि कौनसा instrument अपने हाथमें लेना चाहिये. साथवाला जिस वस्तुको एक रुपयेमें बेचता हो तो वह हमें पचास पैसेमें बेचनी चाहिये, पर भक्तिमें यह instrument काममें नहीं आयेगा. स्पर्धा और अनुकरणकी वृत्तियोंको अपने

हृदयमेंसे फेंक दो; भक्तिको एकान्तके साथ अपनाओ तब ही तुम्हें पता लगेगा कि भक्ति कितनी आल्हादकारिणी है, चित्तको शांत करनेवाली है. पर इस प्रकार अपनाओगे ही नहीं तो भक्तिका माहात्म्य किस प्रकार समझ आयेगा? लोग कहते हैं कि आजकल नास्तिकता बढ़ गई है. परन्तु निश्चयसे नास्तिकता बढ़ी नहीं, आस्तिकता बढ़ गई है लोगोंमें; क्योंकि लोग बहुत टेन्शनमें हैं. प्राचीन लोगोंको इतना टेन्शन नहीं था. प्राचीन लोगोंको धर्मकी उतनी भूख नहीं होती थी जितनी आज लोगोंको है. क्योंकि उन लोगोंका जीवन धर्ममय होता था. तत्पश्चात अधिक धर्म करनेकी उनको गरज नहीं थी. आज जीवनसे धर्म विदा ले रहा है और जब विदा ले रहा है तो धर्मकी भूख बढ़ गई है. जैसे हम सारे दिन खाते रहें तो भूख कम लगेगी, पर दिनमें एक ही बार खायें तो भूख भी अधिक लगेगी. सारा दिन तुम आराम करो तो नींद इतनी अच्छी नहीं आयेगी, पर सारे दिन जागकर मेहनत करो तो पलंगपर पड़ते ही नींद आ जायेगी. इसी प्रकार आज लौकिक व्यवहारोंमें परिश्रम अधिक हो रहा है अत: धार्मिक शांतिकी आवश्यकता अधिक है लोगोंको आजकल, कम नहीं. अतएव निश्चित ही आस्तिकता बढ़ी है, परन्तु कहां गड़बड़ हो गई अपनी पसन्दगीमें, अपने चुनावमें; और वह गड़बड़ यह हुई कि जिस प्रकार हम लौकिक व्यवहार करते हैं उसी प्रकार हम धार्मिक व्यवहारको करना चाहते हैं. धार्मिक व्यवहारको उस प्रकार नहीं करना चाहिये. धार्मिक व्यवहारकी गरिमा कुछ अलग प्रकारकी थी. इन संबंधोंको इस

गरिमासे जानोगे तो भाव निश्चित ही बढ़ेगा, चिंता, उद्वेग निश्चित ही घटेगा.

हम इस गरिमाको न जानकर लौकिक व्यवहारकी तरह प्रभुके साथ व्यवहार करेंगे तो उससे उद्वेग उल्टा बढ़ेगा. हमको महाप्रभुजी एक बार नहीं अनेक बार बहुत स्पष्ट शब्दोंमें चेतावनी देते हैं **यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथंचन तदा काल प्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत: सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान इति मतिर्मम। न लौकिक प्रभु कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्** तुम ठाकुरजीकी सेवा, ठाकुरजीका मनोरथ जिस समय ठाकुरजीको रिझानेकेलिये नहीं करते, लोगोंको रिझानेकेलिये करते हो तो उस ही समय तुममें बहिर्मुखता आ गई, भगवदभिमुखता नहीं रही, अर्थात भक्तिकी बैटरी डिस्चार्ज हो गई. फिर तुम कितनी ही भक्ति क्यों न करो सात दिन तक अखंड कीर्तन करो, चौबीस घंटे सेवामें ही क्यों न तत्पर रहो **तदा काल प्रवाहस्था देहचित्तादयोप्युत: सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान इति मतिर्मम।** कालके प्रवाहमें बहती तुम्हारी देह, इन्द्रियां ही तुम्हें, अजगर जैसे मेंढकको खा जाता है वैसे ही, कच्चा चबा जायेंगी. क्योंकि तुमने कृष्णके साथ लौकिकवत् व्यवहार किया. **न लौकिक प्रभु कृष्ण: मनुते नैव लौकिकम्।** कृष्ण लौकिक नहीं है, इसलिये तुम्हारी भक्तिकी कोई भी लौकिक प्रणाली वह नहीं स्वीकारेंगे. तुमने धन इकट्ठा करनेकेलिये कृष्णका उपयोग किया, कोई अपनी कलाकृतियोंकी नुमाइश लगाता है, कोई साड़ियोंकी नुमाइश लगाता है शोरूममें, उसी प्रकार तुम मंदिरमें या बाहर कृष्णकी भक्तिकी

नुमाइश करते हो. कृष्णको एक नुमाइशकी चीज बना दिया. ऐसा बिकता हुवा कृष्ण या बिकती हुई भक्ति अलौकिक हो ही नहीं सकती, तुम्हें भक्तिका आनन्द दे ही नहीं सकती. उसके बाद तुम कितनी ही भक्ति क्यों न करो, कोई फायदा नहीं होगा. महाप्रभुजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि **लोकार्थी चेत् भजेत्कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा।** लोकार्थितासे जो तुम कृष्णका भजन करोगे तो तुम्हारा कृष्ण भजन क्लेशयुक्त ही होगा. जितना अधिक कृष्ण भजन करोगे उतना परिवारमें क्लेश बढ़ेगा, समाजमें क्लेश बढ़ेगा, इन्कमटैक्सके छापे बढ़ेगें, क्योंकि तुमने कृष्णभजन लोकार्थितासे किया.

कृष्णको अलौकिक प्रकारसे treat करो. कृष्ण भजन कृष्णार्थ करो. **भावस्तत्रापि अस्मदीयसर्वस्वश्चैहिकश्च स परलोकश्च तेनायं सर्वभावेन सर्वथा सेव्य स एव गोपीशः।** कृष्णको मुझे भजना है कृष्णके अर्थ. मेरे पास पानीका गिलास हो तो पानीका गिलास भोग धरकर भजूं और रसगुल्ला हो तो रसगुल्ला भोग धरकर भजूं, पर कृष्णको मुझे इसलिये नहीं भजना कि कृष्णको भजनेसे मेर घर रसगुल्ला बने. रसगुल्ला हो तो कृष्णको धरना चाहिये. कृष्णको धरनेके लिये मैं कृष्णके नामपर रसगुल्ला कहींसे इकट्ठा करूं तो फिर लौकिकता आ गई, लोकार्थिता आ गई. वार्तामें आता है कि जब सात स्वरूपके मनोरथकी गिरिधरजीने आज्ञा मांगी तब श्रीगुसांईजीने आज्ञा नहीं दी. दूसरी बार मांगी तब भी नहीं दी. तीसरी बार मांगी तब श्रीगुसांईजीने कहा कि लौकिकता बढ़ जायेगी, करना हो तो करो.

भारतको आजाद करनेकी चर्चा जब चली तब देशके विभाजनका प्रस्ताव आया, तो जिसको नेतागिरीकी इच्छा थी वह सभी सहमत हो गये कि **हां-हां विभाजन कर दो** उस समय गांधीजी एक कोनेमें बैठे थे. तत्पश्चात सभीको ख्याल आया कि हमने हां तो करदी पर बापू तो कुछ बोले नहीं? सभीने जाकर बापूसे पूछा तब गांधीजी बोले **जहरका प्याला है, तुम्हें मरना हो तो पीकर देख लो**. ऐसे ही लोकार्थितासे कृष्णका भजन करना जहरका प्याला है, पीना हो तो पीयो.

जी नहीं सकते तो मर जाना चाहिये, पर जीना हो तो इस जहरके प्यालेको कभी भी नहीं पिया जा सकता. कृष्ण कभी भी लौकिक नहीं है और इस कारण वह हमारी लौकिक वृत्तियोंको कभी भाव नहीं देते. तुम्हारी भक्तिमें निरंतर क्लेश ही बढ़ेगा. जैसे जीवनमें संसारकी सहजता है वैसी ही सहजतासे, बगैर बनावट निश्चलभावसे कृष्णको स्वीकारो फिर कृष्ण तुम्हारा संसार कूपसे उद्धार करेंगे. बिजलीका झटका एक को लगे और दूसरा उसे पकड़े तो दूसरेको भी बिजलीका झटका लगेगा. उसी प्रकार कृष्ण भक्तिका सहज भाव ऐसा है कि एक करे तो दूसरेको भी उसकी चेंप लगे बिना रह नहीं सकती. इसीलिये दयारामभाई कहते हैं कि **तुज संगे कोई वैष्णव थाय तो तू वैष्णव सांचो. तारा संग नो रंग ना लागे त्यां सुधी तू कांचो**. यह संग तब लगेगा कि जब निश्छलतासे हम भक्तिको अपनावेंगे ता.

परन्तु जब हम ही ऐसा उल्टासुल्टा करेंगे तो फिर अपने संगका रंग किसीको कैसे लग सकता है? क्योंकि मनपर ऐसा आवरण चढ़ जाता है कि उसका justification निश्चय ही अपने मनमें नहीं होता कि हम भक्ति किसलिये कर रहे हैं, गुस्सा आता है त्रास होता है. जो सेवा नहीं करता वह प्रसन्न दीखता है और जो सेवा करता है वह क्रोधी दिखता है, किसलिये? क्योंकि हम निश्छलतासे, सहजतासे सेवाको नहीं स्वीकारते. जीवन जीनेके ढंगके तरीकेसे सेवा करनी चाहिये, पर जो हम ऐसे बनावटी कर्मकांड तरीकेसे जीवेंगे तो उसको अपनानेमें क्रोध आयेगा, आयेगा और आयेगा ही; क्योंकि जीवनपर सेवाका भार लादेंगे तो पसीना तो छूटेगा ही. **सहज प्रीत गोपालहि भावे** तुम सहज रीतिसे, जीवन प्रणालीके तरीकेसे सेवा करो; फिर तुम्हें कभी कोई तकलीफ नहीं होगी, यह श्रीमहाप्रभुजीका दिया हुवा आश्वासन है.

हम सेवाको सहजतासे नहीं स्वीकारते इसीलिये हमको चिंता, उद्वेग होता है. जो एक बार सहजतासे स्वीकारेंगे तो कभी गड़बड़ नहीं होगी. परन्तु हम अनुकरण करेंगे; स्पर्धा करेंगे, और फिर दोष ढूंढने जावेंगे कि इसकेलिये यह हुवा, वह हुवा, उसकेलिये ऐसा हुवा. चिकित्साको चिकित्साकी तरह करेंगे तो ही इसका लाभ होगा. पेनिसिलीन दवाओंके बारेमें ऐसा कहा जाता है कि प्रारम्भमें एक गोली लो, फिर दो गोली लो, फिर तीन गोली लो जैसे जैसे दवाकी गोलियां लेते जाओगे वैसे वैसे शरीर उसका अभ्यस्त होता जाता है और एक दिन वह असर ही करना बंद कर देती है. अंतमें पन्द्रह

गोली भी लाभ नहीं करती और जिस दिन रोगका हमला होता है उस दिन तक शरीर इस दवासे बिल्कुल बेअसर हो जाता है. उसी प्रकार भक्ति, जो कि प्रत्येक रोगकी दवा है, उसे जो हम इस प्रकार immune होकर लेंगे जीवनमें लौकिकवृत्तिके साथ, फिर यह तुम्हारे रोगका किसप्रकार निराकरण करेगी? इससे immune मत हो जाओ, इसको इस प्रमाणसे लो कि जिससे तुम अपने रोगपर काबू पा सको; परन्तु इसीको यदि लौकिकताके साथ immune कर लिया तो फिर भक्ति गरीब क्या करेगी? इसे जैसे लेना चाहिये उस प्रकारसे तो तुमने लिया नहीं, तो फिर भक्ति immune हो गई लौकिकके साथ.

तुम्हारे मनमें फिर एक ऐसा adjustment हो जाता है कि बस एक बार जाकर दर्शन करलो. **अरे वह तो बहुत बड़ा भक्त है, क्यों? मंदिरमें दर्शन करे बगैर खाना नहीं खाता**. ऐसे तो कितने ही हैं कि क्लबमें खेले बिना खाना नहीं खाते. केवल क्या इसीसे कोई भक्त कहला सकता है? नहीं, इससे तो नहीं कहला सकता. हमारे बड़े मंदिरमें मैं देखता था कि बहुतसे लोग गिरिराजजीकी परिक्रमाके लिये आते हैं, तो फटाफट परिक्रमापर परिक्रमा करते हैं. हेतु यह कि रातको भोजनके बाद मरीनड्राइव तक घूमने जायें ता दूर पड़ता है, गिरिराजजी पास ही मिल गये भूलेश्वरमें. परिक्रमा धड़ाधड़ करें, फिर सब कुछ पच जायगा. अरे गिरिराजजी तुमसे परेशान कि यह भोजन पचानेवाले भगत कहांसे मिल गये? किसी किसी समय तो सचही मंदिरमें देखने वाला दृश्य होता था. ऐसी परिक्रमासे

कोई लाभ नहीं मिलेगा. इससे अच्छा तो तुम मरीनड्राइवपर जाकर घूमो तो शुद्ध हवा तो मिलेगी कमसे कम. ऐसी परिक्रमा समयकी बरबादी है. **वैष्णव नथी थयो तुं र** ऐसे सभी उपद्रव हम भक्तिके नाम पर करेंगे तो उससे वैष्णवता नहीं मिलेगी. वैष्णवता तो एकांत भक्तिसे जागेगी. भक्ति एकांतमें प्रभुके साथका अपना संवाद है, उसमें कोई अंतराय मत खड़ा करो. फिर देखो कि प्रभु तुम्हारे साथ बोलते हैं कि नहीं.

कल एक भाई मुझसे पूछ रहा था कि प्रभु बोलते क्यों नहीं? अरे बोलें कैसे, इनको एकांत तो दो तुम. मानसिक एकांत दो, हार्दिक एकांत दो, बाह्य एकान्त दो, तब ही तो प्रभु बोलेंगे. परन्तु हम इनको भीड़में ही फंसा कर रखेंगे तो फिर कैसे बोलेंगे? और किसके साथ? हम दवाखाने जायें और कंपाउडर व्यस्त हो और उससे पूछें कि **डाक्टर साहब कहां है?** तो कहेगा **लाइनमें बैठ जाओ**. क्योंकि उसे बोलनेकी फुरसत नहीं है. और डाक्टरसे कहें कि यहां नहीं, यहां दर्द हो रहा है तो कहेगा **चुप रहो, डाक्टर तुम हो कि मैं?** यहां तक सुननेमें आया है कि टी.बी. का मरीज हल्ला मचाता रहा और डाक्टरने उसके टॉन्सिल्स्का ऑपरेशन कर डाला. एकांत नहीं है न. एकांत नहीं है इसीसे व्यक्तिको विचारनेकी फुरसत नहीं है, धड़ाधड़ काम, दूसरी बात ही नहीं. अर्थात बहुत व्यस्त होनेमें भी हानि है, थोड़ीसी शांतिसे भक्ति करो, नहीं तो ऐसा ही घोटाला होगा.

हमारे एक अधिकारीजीने अधिक मासमें एक नियम लिया कि इतनी माला फेरनी हैं. अब मंदिरमें वैष्णव

हर समय मनोरथ लिखाने आते रहते थे तो माला पूरी नहीं होती थी, और नियम यह है कि जब तक उतनी माला नहीं करेंगे तब तक भोजन नहीं करेंगे. तो फिर क्या करें? इसलिये फिर अंतमें मुट्ठी भरभर कर सारी मालायें कर डालें. नियम पूरा हो जाय, पर भाई ऐसी माला करनेसे चित्तको तो कुछ शांति मिलती नहीं, भगवानमें तो चित्त चौंटेगा नहीं. अगर चित्त चौंटाना है तो चाहे दस बार ही नाम लो, पर एकांतमें लो. यदि चित्त न चौंटे तो कमसेकम तुम्हें पता तो चले कि चित्त नहीं चौंट रहा. बात करते जायें और माला फेरते जायें तो यह भी खबर नहीं पड़ेगी. आजकल व्यस्तता इतनी बढ़ गयी है कि कितनी बार लोग कहते हैं कि पता नहीं आज खाकर भी निकले थे कि नहीं. क्योंकि इतनी उतावली होती है कि खाया या नहीं, ध्यान ही नहीं रहता. इतनी जल्दी दुनियांमें तो कर सकते हो, पर **एक घर तो डाकन भी छोड़ देती है** भक्तिका घर छोड़ दो. थोड़ी सी फुरसत, थोड़ासा समय, थोड़ीसी शांति भक्तिकेलिये रखो, फिर देखो कि भक्ति तुम्हारी सारी चिंताओंका निवारण किसप्रकार करती है. तबही तुम भक्तिका मजा ले सकते हो, नहीं तो कदापि नहीं ले सकते.

यह मैं इसलिये कह रहा हूं कि हमें भक्तिमार्गपर चलना है तो चलनेमें इतनी सावधानी तो जरूरी है कि भक्ति फुरसतमें करनी चाहिये, एकांतमें करनी चाहिये, जल्दबाजीमें नहीं करनी चाहिये, चित्तकी प्रेरणासे और सहजतासे करनी चाहिये. **सहज प्रीत गोपालहि भावे**. सहजतामें तुम्हें और प्रभुको दोनोंको ही भक्तिका

आनन्द आयेगा. अनुकरणसे करोगे तो टेन्शन बढ़ेगा ही और बढ़ते बढ़ते एकसमय भक्ति इम्म्युन हो गई चिंताके साथ तो फिर तुम जितनी अधिक भक्ति करोगे उतनी चिंता बढ़ती ही जायेगी. इन एन्टीबायोटिक दवाओंकी तरह तुमको फायदा नहीं पहुंचायेगी, क्योंकि तुमने चिंता और भक्तिको साथमें साध लिया. जैसे हम सभी तीर्थमें जायें तो मनमें अति शुद्ध भाव आता है, आध्यात्मिकताका संचार होता है, पर तीर्थमें रहनेवाले गौर महाराज पंडे वहां रहकर सारे पाप करते हैं अर्थात तीर्थके साथ इम्म्युन हो गये हैं. जैसे मैंढक, मछली गंगामें रहते हैं पर उन्हें गंगाका कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार उनको तीर्थका कोई असर नहीं होता. हमें ऐसा लगता है कि हम यमुना तीर गये, बहुत भक्तिका उभार आता है, पर वह लोग यमुनाजीमें कपड़े ही धोते हैं, क्योंकि इम्म्युन हो गये हैं. एक बार एक मंदिरमें दर्शन करने गया तो मैंने देखा कि भगवानकी ओर पैर करके ही एक भाई सो रहा था. हम भी उसी प्रकार भक्तिसे इम्म्युन न हो जावें, क्योंकि यह ही आखिरी शस्त्र है जो हमें बचा सकता है.

भागवत में कहा है **निर्विण्णानां ज्ञानयोग: कर्मयोगस्तु कामिनाम्. न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धद:**. जो विरक्त है उसकेलिये ज्ञानयोग है, जो अनुरक्त है उसकेलिये संसारमें कर्मयोग है, पर जो न तो अनुरक्त और न ही विरक्त है उसकेलिये भक्तियोग है. श्रीमहाप्रभुजी इसीलिये कहते हैं कि सामान्यजन नि:साधन हैं. हम यह समझ गये कि नि:साधन अर्थात् कुछ करना धरना नहीं है. पर

नि:साधनताका सच्चा अर्थ है कि हमें कोई अभिमान नहीं कि हम किसी साधनसे आत्मोद्धार कर लेंगे. और अपने भीतर कोई ऐसी दुर्वृत्ति नहीं कि शास्त्रमें कहा है उसके विपरीत ही हम करते रहें. ऐसा करने वाला दुष्टसाधन कहलाता है और शास्त्रमें कहा है कि ऐसा न करने वाला ही सुसाधन कहलाता है. पर नि:साधन अर्थात जिसे हम ऐवरेज कहते हैं वह. उदाहरणार्थ क्रोधी किसे कहते हैं? जिसे कभी कभी क्रोध आता हो? नहीं, क्योंकि कभी कभी तो सभीको क्रोध आता है. जिसे आता ही न हो वह या तो स्थितप्रज्ञ है या नाकारा, क्रोध तो कभी कभी आना ही चाहिये. क्रोध तो प्रसंगानुसार अगर नहीं आता तो किसी न किसी प्रकारकी खामी है. पर क्रोधीका मतलब है कि जिसको चौबीस घंटे न करनेकी बातपर भी क्रोध आता है. शांतका मतलब क्या? सोते समय तो हम सभी शांत ही होते हैं पर उसका अर्थ शांत नहीं है. शांतका अर्थ है कि व्यक्तिका सामान्य स्वभाव ही शांत हो, जिसे उत्तेजना नहीं होती हो.

उसी प्रकारसे कभी भक्ति करते हैं तो भक्त नहीं कहलाते, स्वभाविकी भक्ति होनी चाहिये. **अनिमित्ता भागवती भक्ति: सिद्धये: गरीयसी** इस न्यायसे स्वभावसे भक्ति करेंगे तो ही भक्ति कहलायेगी, और वैसी भक्ति ही चिंताकी निवारक है. अब बहुत लोग यह कहते हैं कि जैसे कल एक भाईने पूछा था कि भगवान क्यों नहीं बोलते? तो मेरा यह मत है कि हमें ऐसा हेतु भी भक्तिके सामने नहीं रखना चाहिये. भक्ति करते समय हम यह हेतु रखें कि भगवान मेरे साथ बोलें तो

मैं भक्ति करूं, यह तो समझौता हुआ, उसपर भगवानके हस्ताक्षर भी तो चाहियें, उसके बिना तो समझौता कामगार नहीं कहा जायगा. इसलिये समझौता करना हो कि **महाराज छः महीने सेवा करूंगा, बोले तो ठीक नहीं तो अपना समझौता खत्म** तो तो चलेगा, पर जब हम अपनेको भक्ति करता हुवा कहते हैं और कहते हैं कि **क्यों नहीं बोलते**? तो ऐसा हेतु नहीं होना चाहिये. भक्ति स्वभावसे ही होनी चाहिये. क्या हम बच्चेके साथ समझौता करकेही उसका लालन पालन करते हैं, कि बड़ा होकर तुझे मुझे खिलाना पड़ेगा? कोई समझौता नहीं करते, सहज स्नेहसे ही लालन पालन करते हैं. तो जैसे संतानका सहजतासे लालन पालन करते हैं वैसे ही भक्ति सहज वृत्तिसे करनी चाहिये. ऐसे किसी हेतुसे नहीं कि भगवान मुझे सानुभावता जतावें, जैसी आसकरणदासजीको मानसी सिद्ध हुवी वैसी मुझे भी सिद्ध हो तो मैं भक्ति करूं. ऐसे सहजभावसे भक्ति करते हुये कभी उद्वेग नहीं होगा क्योंकि तुमने उसे सहजभावसे स्वीकार लिया है.

तो मूल बात पर आयें कि हम न तो दुष्टसाधन हैं और न सुसाधनही और ऐसे ही जीवोंका बाहुल्य होता है, अतिदुष्ट या कि सुसज्जन व्यक्ति बहुत कम होते हैं. तो भगवान कहते हैं कि जो एवरेज व्यक्ति होता है उसीको भक्ति करनी उचित होती है, उसीको भक्ति उपयोगी होती है. जो अतिशय विरक्त है उसे भक्ति करनेको कहेंगे तो उसे कदाचित भगवानसे ही विरक्ति हो जायेगी, क्योंकि स्वभाव विरक्तिका है, अतएव भगवानमें अनुरक्ति नहीं करेगा. स्वयं लंगोटी पहनता

हो तो ठाकुरजीको वस्त्र धरानेकी कहांसे सूझेगी? इस कारण उसकेलिये ज्ञानयोग है. जब हम अपने घरमें अतिशय विलासितासे भी नहीं रहते और अतिशय विरक्ततासे भी नहीं रहते तो हमको अपने घरमें व्रजके भावसे प्रभुकी सेवा करनी है. हम द्वारिकाके भावसे सेवा नहीं करते क्योंकि द्वारिकाके प्रभुका वैभव हम कहांसे लायेंगे? बहुतसे लोग ऐसा समझते हैं कि द्वारिकाका कृष्ण कोई दूसरा कृष्ण और गोकुलका कृष्ण कोई अलग कृष्ण. पर ऐसा नहीं है. कृष्ण एक ही है, पर द्वारिकाका कृष्ण वैभवमें बिराजता कृष्ण है, उसकी हम किस प्रकार सेवा कर सकते हैं? घरमें द्वारिकाधीशको बिराजमान करें ऐसा वैभव आर्थिक दृष्टिसे सुसाधन जीव ही सिद्धकर सकते हैं, हम नि:साधन जीव कहांसे करेंगे?

ब्रजमें प्रभु इस भावसे बिराजे कि गोपीयोंके, ग्वालोंके घरमें जो वस्तु प्राप्त थी वह ही आरोगते, किसी प्रकारका झगड़ा नहीं किया. घरमें बहुत माखन था फिर भी प्रभु माखन ही चुराते थे. ऐसा नहीं कहते थे कि मेरे लिये रसगुल्ले लाओ. यह नेग भोग जो हमने बांधा वह इसलिये नहीं बांधा कि ठाकुरजीको भूख लगती है परन्तु इसलिये बांधा कि हम जो सामिग्री लेते हैं वह प्रभुको धरे बगैर नहीं लेते. अगर हम नहीं खाते हों तो प्रभु कोई रसगुल्लेके भूखे नहीं हैं. बहुत लोग कहते हैं **सखड़ीके ठाकुरजीके पास अनसखड़ीके ठाकुरजी नहीं बिराज सकते. अनसखड़ीके ठाकुरजीके पास दूधघरके ठाकुरजी नही बिराज सकते**. निश्चय ही जो मिश्री आरोगते ठाकुरजीसे अनसखड़ी आरोगते ठाकुरजीकी

महत्ता बढ़ जाय कि उनके साथ मिश्री आरोगते ठाकुरजी नहीं बिराज सकें तो फिर मैं तुम्हें यह कहूंगा कि यह ठाकुरजीकी सेवा बंद करो और आनन्दसे सखड़ीकी ही सेवा करो क्योंकि ठाकुरजीकेलिये सखड़ीकी महत्ता तुम्हें नहीं लगती पर सखड़ीकेलिये ठाकुरजीकी महत्ता लगती है. फिर सखड़ीकी ही सेवा करो, और न मिले तो उसकी मानसी करो ! चित्त सखड़ीमें ही चौंटा दो, उसका नाम सेवा रख दो.

एक सामान्य बात तुम्हें कहूं. अपने घरमें मैं सखड़ी खाता हूं, वैष्णवके घरमें दूधघर लेता हूं. तो वैष्णवके घर हमारी महत्ता कम हो गयी कि नहीं? वोल्टेज घट गया. फिर तो मुझे जमीन पर ही बैठाओ, क्योंकि **तुम दूधघरके महाराज हो, सखड़ीके महाराज नहीं ! क्योंकि 'गुरुः ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुः देवो महेश्वरः गुरु साक्षात् परब्रह्म** अर्थात सखड़ी आरोगनेसे ठाकुरजीका वोल्टेज बढ़े और नहीं आरोगनेसे घटे तो गुरुका वोल्टेज भी तो इसी अनुपातसे बढ़ेगा घटेगा कि नहीं? ऐसे ही जो वैष्णवके घर सखड़ी आरोगे तो उन महाराजको अधिक भेंट धरनी और दूधघर आरोगे उन्हें कम भेंट धरनी. महापंचायत हो जायेगी. माहात्म्य प्रभु या गुरुका नहीं रहेगा; सखड़ी अनसखड़ीका हो जायेगा. यह हम क्या कर रहे हैं? एक जगह मैंने देखा कि मनोरथमें सभी मर्यादीयोंके ठाकुरजी बिराज रहे थे सो उनमें एक बिनमर्यादीके ठाकुरजी आ गये, तो उपद्रव हो गया और उस अनमर्यादीक ठाकुरजीको अलग पधराया. जिसने मर्याद नहीं ली थी उसका दंड ठाकुरजीको भुगतना पड़े ऐसा भी कभी होता है? क्या

खिलवाड़ कर रहे हैं हम संप्रदायके नामपर ठाकुरजीके साथ. ऐसी गलत घर करी हुवी मान्यताओंकेलिये कैसा मजाक उड़ा रहे हैं हम महाप्रभुजीका?

हमको यह भी समझना चाहिये कि केवल मिश्री ही नहीं धरी जाती ठाकुरजीको. हम अगर मिश्री खाकर रह जाते हों तभी ठाकुरजीको केवल मिश्री धरें, परन्तु हम ढोकले फाफड़े आदि व्यंजन खावें और ठाकुरजीको कहें **आप मिश्री आरोगो, क्योंकि आप तो मिश्रीके ठाकुरजी हो!** फिर हम किसके भक्त हैं मिश्रीके या ठाकुरजीके? हम सभी कुछ खायें और ठाकुरजीको कुछ नहीं? विचित्र बात है. ऐसी स्थितिमें सेवा पधरानी ही नहीं चाहिये और ब्रह्मसंबंध भी नहीं लेना चाहिये. महाप्रभुजीका स्पष्ट आदेश है कि **सेवायां वा कथायां वा** हमें कथामें प्रवृत्त होना चाहिये. प्रपत्ति अर्थात शरण भावना करनी चाहिये पर आज यह एक बड़ी पंचायत हो गयी है कि ब्रह्मसंबंधको हम अपनी संप्रदायका ट्रेडमार्क समझ बैठे हैं. छाप दो ब्रह्मसंबंधका सिक्का सभी पर, सभीका उद्धार हो जायेगा. एक भाई बोला **महाराज तुम्हारा काम है ब्रह्मसंबंध देना, फिर बादमें मैं भगवानसे समझ लूंगा**. मैंने कहा **बात सच्ची है तुम्हारी पर इस प्रकार ब्रह्म संबंध दे दूं तो महाप्रभुजीने आज्ञा की है कि समझे विचारे बिना जो ब्रह्मसंबंध देगा वह गुरु अगले जन्ममें अजगर बनेगा और शिष्य चींटी बनकर उसे काटेंगे. तो फिर तुम मुझे काटोगे तो मैं कहां जाऊगा?**

मेरे दादाजीको दिलका दौरा पड़ा एक बार प्रवचन करते करते. वैष्णव लोग भावसे, श्रद्धासे धीरज धरे

बैठे रहे. डाक्टरने आकर कहा **सारी भीड़ हटा दो. ऐसी भीड़ नहीं चाहिये**. मैंने कहा **बहुत अच्छा**. मैंने सभीसे विनतीकी कि भाई अब आप लोग घर जाओ. घेर कर मत बैठो. थोड़ी देरमें दादाजीको होश आया तो सभी फिर आ गये. डाक्टर मुझे कोनेमें ले गया और बोला **महाराज हार्टअटैकसे तो बच जायेंगे पर शिष्य अटैकसे बचना मुश्किल है, सावधानी रखना, शिष्योंका अटैक बहुत तगड़ा** है. बीमार थे तब भी सभी का आग्रह था कि जहांसे अधूरा छोड़ा था वहांसे फिर प्रवचन शुरु करें. तो ऐसा शिष्य अटैक भी नहीं करना चाहिये. उसी प्रकार ठाकुरजीपर भी भगतअटैक नहीं करना चाहिये. हमें थोड़ीसी सावधानी, थोड़ीसी गरिमा, थोड़ासा प्रभुके सुखका विचार रखना चाहिये, थोड़ासा प्रभुके माहात्म्यका विचार भी रखना चाहिये तो ही भली प्रकारसे सेवा हो सकेगी, नहीं तो सेवा नहीं हो सकेगी. चिंता हमको इसलिये होती है कि भक्तिके भावको हम समझ नहीं पाते हैं.

भागवतमें कहा गया है **प्राप्तं सेवेत निर्मम** और दूसरा श्लोक है **यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशव: स्त्रिय: दुह्यन्ति मन: प्रीतिं पुंस: कामहतस्य त**। उसी भावसे किसीने सुभाषित रचा है **यत्पृथ्वियां बलं ज्ञानं गुणाश्च सुयशो धन यतो नैकस्य पर्याप्तं स्वार्जितं निरहं भजेत्**। पृथ्वीपर जो कोई ज्ञान, बल, गुण, यश, भक्ति वगैरह सिद्धियां हैं वह किसी एक व्यक्तिको नहीं मिल सकतीं. जो हम अधिक पानेका प्रयास करेंगे तो चिंता, उद्वेग निश्चय बढ़ेगा ही. इसीलिये हमको एक उपाय बताया गया है कि **स्वार्जितं निरहं भजेत्**. जो

मैंने अर्जित किया है उसका मुझे अहंकार रहित होकर उपभोग करना चाहिये. जो मेरे पास ज्ञान है वह किसीसे अधिक होगा या किसीसे कम होगा. जो मेरे पास भाव होगा वह किसीसे कम होगा तो किसीसे अधिक भी होगा. जो मुझे सेवाकी सुविधा है, भक्तिकी सुविधा है वह किसीसे अधिक होगी तो किसीसे कम होगी. इससे जो मेरे पास सहज सुलभ ज्ञान, भाव, सुविधाकी संपत्ति है, उसका मुझे अहंकार नहीं करना चाहिये. जो मुझसे छोटा है उसे देखकर यदि मैं अहंकार करुं तो मेरा भक्तिका भाव समाप्त हो जायेगा और जो मुझसे बड़ा है उसे देखकर मैं दीनताका भाव लाऊं तो भी मेरा भक्ति भाव समाप्त हो जायेगा. यह समझना पड़ेगा कि ज्ञान, बल, गुण, यश, धन यह सभी पृथ्वीपर किसी एक व्यक्तिको इक्ट्ठे कभी भी नहीं मिल सकते.

सामान्यतया हममें दो अतिवादी वृत्तियां होती हैं. कहीं तो हम निराश हो जाते हैं कि मुझे सभी कुछ नहीं मिलता अथवा इतनी इकलखोरी वृत्ति रखते हैं कि सबसे बड़ा ज्ञानी मैं ही बनूं या सबसे बड़ा भक्त मैं ही बनूं या सबसे अच्छी सेवा मैं ही करूं या सबसे वैभवशाली सेवा मैं ही करूं ऐसा अहंकार हम करते हैं. पर चिंताकी निवृत्तिका सच्चा उपाय सुभाषितकार हमको बतलाते हैं कि **यतो नैकस्य पर्याप्तं स्वार्जितं निरहं भजेत्**. क्योंकि एक व्यक्तिको सभी कुछ मिल नहीं सकता, इसलिये जो तुमको मिला है उसका अहंकार रहित होकर उपभोग करो. जो मिला है उसका त्याग मत करो और इस प्रकार उपभोग भी मत करो

कि तुम्हारा अहंकार बढ़ जाये. **यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धि यस्य न लिप्यते** भगवान कहते हैं जिसका अहंकारपूर्ण भाव नहीं है उसकी बुद्धि उपभोगमें लिप्त नहीं होती है. उसे सुख दु:ख कभी भी बाधक नहीं होते, चिंता किसी दिन नहीं होती. इसीलिये भागवतमें समझाया है कि **प्राप्तं सेवेत् निर्मम**. जो प्राप्त है उसका ममता रहित होकर सेवन करो.

एक सामान्य उदाहरण देता हूं. अपने घरके बड़े माता पिता बच्चोंको कभी कभी उपहार देते हैं. अब जो मुझे दिया है उसकी तुलना मैं दूसरोंसे करूं और तुच्छ लगने पर गुस्सेमें फेंक दूं तो यह बड़ोंका अपमान कहलायेगा. और दी हुवी वस्तुका प्रयोग भी न करूं तो भी अपमान ही कहलायेगा. मैं उपभोग न करूं और उस वस्तुको दूसरोंको बताकर उन्हें नीचा दिखाऊं कि **तुम्हें तो तुच्छ वस्तु मिली है** तो यह खराब प्रवृत्ति कहलायेगी. उत्तम प्रकार क्या है कि मैं बड़े लोगोंके प्रति आदरभाव रखकर निरअहंकार होकर उस वस्तुको उपयोग में लाऊं जोकि बड़ोंने मुझे दी है. उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति, कर्म, यश, धन जो कुछ भी प्रभुने दिया है उसका अहंकार नहीं करूं. उसी प्रकार उसे फेंक भी नहीं दूं कि यह तो तुच्छ है, मिथ्या है, क्षणभंगुर है. अरे दिया किसने है यह क्षणभंगुर? पुष्प तो एक क्षणकेलिये ही खिलता है पर खिलता कितना सुंदर है. सारी क्षणभंगुर वस्तुयें क्या खराब ही हैं? तुम क्या शाश्वत हो. तुम भी तो क्षणभंगुर हो. क्षणभंगुर हैं तो कोई आज ही तो मरे नहीं जाते, जितना जीना है उतना तो जीना ही चाहिये, तो फिर क्षणभंगुर है ऐसा

कहकर निंदा क्यों करनी? निंदा किसी वस्तुकी भी नहीं करनी, क्योंकि यह सृष्टि प्रभुकी है. जो कुछ भी मिला है वह प्रभुसे ही मिला है, उसे फेंका नहीं जा सकता, उसका अहंकार भी नहीं किया जा सकता, उसकी निंदा भी नहींकी जा सकती.

भागवत कहती है **स्वार्जितं निरहं भजेत्** यह उपभोगका सच्चा प्रकार है. जब तुम स्वार्जितका निरहंकारपूर्वक उपभोग करने लगोगे तब तुम्हारी भक्तिको खिलनेका पूरा अवकाश मिलेगा. जब अहंकारपूर्वक किसी वस्तुका उपभोग करोगे तो तुम्हारा हृदय भक्तिकेलिये फलरूप नहीं रह जाता. हृदयमें या तो अहंकार ही रह सकता है या भक्तिही. जिसके हृदयमें अहंकार रहता है उसके हृदयमें भक्तिका पौधा नहीं खिल सकता और जिसके हृदयमें भक्तिका पौधा खिलता है उसमें अहंकार नहीं रहता.

उसी प्रकार विरक्ति भी एक प्रकारका निगेटिव अहंकार ही है. मैं अपनेको ही श्रेष्ठ गिनूं और बाकी सभी कुछ मिथ्या है ऐसा मानूं तो ही मैं प्रत्येक वस्तुसे विरक्त हो सकता हूं. नहीं तो किस प्रकार विरक्त हो सकता हूं? इसलिये वैदिक प्रणालीके अनुसार सहसा त्याग नहीं होता. वैराग्य हो तभी त्याग किया जा सकता है, सन्यास लिया जा सकता है, त्याग करना उस वस्तुकी निंदा ही है. किसी वस्तुको मैं हेय किस प्रकार कहूं? जबकि कण कण प्रभु ही हैं तो हेय कुछ भी नहीं. महाभारतकी कथामें आता है कि भगवानने दुर्योधनसे कहा कि जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हो उसे दक्षिणा दे आओ. दुर्योधन सभी स्थानोंपर घूमकर आगया और

बोला **महाराज मुझे कोई भी ब्राह्मण श्रेष्ठ दिखता ही नहीं, प्रत्येकमें कोई न कोई दोष तो अवश्य है.** भगवान बोले **भले, युधिष्ठिर, अब तुम जाकर दक्षिणा दे आओ.** युधिष्ठिर भी सभी जगह घूम कर वापस आ गये भगवान बोले **तुम क्यों वापिस आगये?** तो वह बोले **किसे दक्षिणा दूं ? सभी श्रेष्ठ हैं.** इसलिये सभीका दोष देखना, सभी वस्तुओंको हेय-त्याज्य गिनना ये भी एक प्रकारका अहंकार है. तुम अपने आपको महान मत मानो फिर भी जब तुम प्रत्येक वस्तुको त्याज्य मानोगे तो प्रत्येक वस्तु तो तुम्हारे लिये नीची हो गई न? और तुम कहो कि नहीं. तुममे अहंकार तो हो ही गया. ऐसा अहंकार भक्तिमार्गमें बाधक है. ज्ञानमार्गमें ऐसा अहंकार बाधक नहीं है क्योंकि वहां तो अहंकारको ही सीढ़ी बनाकर ब्रह्ममें छलांग लगानी है, वहां अहंकार सहायक होता है. परन्तु भक्तिमार्गमें वह बाधक ही है, क्योंकि भक्तिका स्वभाव अतिशय कोमल है और वैराग्य प्रधान अहंकार भक्तिके साथ मेल नहीं खाता. हममें भगवदअनुराग प्रधान अहंकार होना चाहिये कि मैं प्रभुका हूं और प्रभु मेरे. ऐसा अहंकार ही भक्तिमें सहायक होना चाहिये. ऐसे ही हम अहंकारको छोड़ते नहीं हैं, भली प्रकारसे इसका शृंगार करते हैं. जैसे कि नाखून कितनी खराब चीज है, चीरने या नोंचनेकेलिये ही काम आते हैं. परन्तु हम बाघ, बिल्लीकी तरह उन्हें बढ़ने नहीं देते, उन्हें काटकर सुरेख, शोभायमान बना देते हैं. अर्थात अतिशय हिंसाप्रधान जो वस्तु थी उसका हमने अतिशय सौन्दर्यमें उपयोग किया. आजकल तो नेलपौलिश लगाकर स्त्रियां

नाखूनोंको और शोभायमान करती हैं. तो नाखूनों जैसे, अहंकारका भी संस्कार करना चाहिये, क्योंकि अहकार भी हिंसा प्रधान है. दूसरेके अहंकारको तोड़नेकेलिये ही व्यक्ति अपना अहंकार बढ़ाता है. बहुतसे लोग कहते हैं कि **वह व्यक्ति बहुत अहंकारी है** अब एकाध तक तो ठीक है, परन्तु कुछ लोगोंको सभी व्यक्ति अहंकारी लगते हैं. कारण कि व्यक्ति मूलमें स्वयं ही अहंकारी होता है, इसलिये दूसरेका थोड़ासा भी अहंकार नहीं सह सकता, सभीकी निंदा करता है. इसलिये ऐसे हिंसाप्रधान अहंकारको थोड़ा श्रृंगारो. किस प्रकार? महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **दासोहं** कहकर. ऐसा श्रृंगार किया हुवा अहंकार तुम्हारा सहायक हो जायगा और एकबार अहंकार भक्तिमें सहायक हो गया तो फिर किसी वस्तुको फेंकनेकी तुम्हें जरूरत नहीं होगी. तुम्हें भक्तिमें उपयोगी प्रत्येक वस्तुको उपयोगमें लानेकी इच्छा होगी, जो कुछ तुम्हारे पास है उसे प्रभुकेलिये उपयोगमें लानेकी इच्छा होगी. अहंकारका इस प्रकार भक्तिमें उपयोग करनेसे वह शोभायमान होगा, भक्तिमें कभी चिंता उत्पन्न नहीं करेगा. परन्तु वैराग्य प्रधान अहंकारसे युक्त भक्ति किसी भी दिन स्वस्थ नहीं हो सकती. इसी से शास्त्र में कहा है **आयातमायान्तमपेक्षणीयं गतं च गच्छन्तमुपेक्षणीयम् अलं वृथा खेदनमोदनाभ्याम् यस्मदीयम् नहि तत्परेषाम्। जो आ रहा है वह ज्ञानहो, बलहो, धनहो, यशहो उसकी अपेक्षा रखो, उसे सत्कार दो. और जो जा रहा है उसे विदा करो. किसलिये खेद या मोद करते हो? जो भगवान तुम्हें देना चाह रहे**

हैं वह तो मिलकर रहेगा ही. ऐसा जो चित्तमें सात्विक अहंकार जागे, ऐसी जो सात्विक ममता जागे तो फिर चिंता नहीं हो सकती.

यह बात जिस प्रकार सामान्य व्यवहारके बारेमें लागू होती है उसी प्रकार भक्तिके बारेमें भी लागू होती है. वह इस प्रकार कि भक्ति करनेका जो भाव, जो सुविधा, जो परिवारका सहयोग, जो सौकर्य मुझे मिल रहा है उसीके अनुसार मैं प्रभुकी सेवा करूंगा. जो नहीं मिल रहा वह मुझसे प्रभु चाह ही नहीं रहे हैं. जो प्रभु मुझसे लेना चाह रहे हैं वह तो मुझे दे ही रहे हैं, वह तो मुझसे कोई छीन ही नहीं सकता, जो सेवा मुझसे प्रभु नहीं लेना चाह रहे वह सेवा मैं कभी निश्चिंत होकर कर ही नहीं सकता. दखा देखी किसीकी होड़में करें तो अपना ही ढांचा बिगड़ेगा; होड़ा होड़ गोढ़ा तोड़! हरेक पैरकी अलग अलग शक्ति होती है, हरेकके हृदयमें अलग अलग भाव है. जो जैसा मेरे पास है वही मुझे निवेदन करना है, समर्पण करना है. जो मेरे पास शरीरकी सामर्थ्य है, जो मेरे पास धन वगैरह सुविधा है उसीके अनुसार मुझे भक्ति करनी है. ऐसे सहज समर्पणका भाव भक्तिका भाव है. इसीसे अपने यहां समर्पणके बिना भक्ति नहीं हो सकती. हम समझते हैं कि हाथमें तुलसी लेकर ठाकुरजीके चरणार्विन्दमें समर्पण उसका नाम समर्पण, पर यह तो समर्पणकी अभिव्यक्ति है, भाषा है, भाव नहीं है. समर्पणका भाव यह है कि **जिहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये** जैसे भी तू मुझे रखना चाह रहा है वैसे ही रख. जो भी तू मुझे देगा उसीसे मैं सेवा करूंगा, मुझे दूसरा कुछ

नहीं चाहिये. और प्रभुको भी जो तुम्हारा है उसीसे संतोष है. इसीलिये वार्तामें आता है कि रामदासजीने तांतीसे मिलते ब्याजपर सेवा चलानेका विचार किया तो ठाकुरजीको टोकना पड़ा कि तू मेहनत नहीं करता और ब्याजपर सेवा चलाना चाह रहा है; तू सेवा करना चाह रहा है कि मुझे ब्याजपर रखना चाह रहा है? जो निश्चय ही सेवा करना चाहता है तो पूंजीको वापस लेले, कुछ मेहनत कर और कमा, उससे सेवा कर, जो तेरा है वही समर्प (मुझे दे).

एक सामान्य उदाहरण दूं. आजकल सभी लोग ट्रस्ट बना रहे हैं. मुझे एक विचार आता है कि घर आनेवाले मेहमानका स्वागत, आवभगत करनेकेलिये क्या ट्रस्ट होता है? घरमें मेहमान आया है इसलिये ट्रस्टमें अरजी देनी है कि मेहमानको दस दिन रखना है. ट्रस्टकी मीटिंग चले, प्रस्ताव आये कि ५०० रुपयेका खर्च होगा तो ट्रस्टका दूसरा मेम्बर आपत्ति करे कि नहीं ४५० रुपये ही ठीक हैं, मेहमान कोई बड़ा आदमी नहीं है. यह क्या ड्रामा है? इस प्रकार ट्रस्ट बना कर प्रभुकी सेवा होगी क्या? वह बैकुंठ छोड़कर हमारे घर पधारें और हम ट्रस्ट बना दें, खर्चके लियें अरजी दें, मीटिंग बैठे और उसमें एक ट्रस्टी आपत्ति उठाये कि केसर मंहगा खरीदा, इतनेके बदले इतना खर्चा कर दिया. फिर चैरिटी कमिश्नरके पास खाते ऑडिट करायें कि इतना नुक्सान हुआ. क्या कौभांड है यह सब? तब तो पत्नीके नामपर ट्रस्ट बनाओ, लड़केके नामपर ट्रस्ट बनाओ, मेहमानके नामपर ट्रस्ट बनाओ. फिर परिवार तो रहा ही नहीं दुकानदारी हो गई व्यवहारकी. यह

कोई भक्ति नहीं कहलायेगी, स्नेह तो नहीं कहलायेगा. अतिथिकेलिये जब तुम अपनी जेबसे कुछ खर्चा नहीं कर सकते और ट्रस्टमें अरजी देकर तुम उसके खानेका प्रबंध करते हो, तो फिर तुम मेहमाननवाजी नहीं कर रहे, दुकानदारी कर रहे हो. व्यापारिक संबंधमें यह हो सकता है कि परदेससे कोई एजेन्ट आवे तो उसे हम कम्पनीके खर्चेपर फाइव स्टार होटलमें उतारें और उसे बम्बईमें घुमाने, खिलाने, पिलानेका खर्चा कम्पनीसे मांगे, और कम्पनी अपना धंधा बढ़ानेकी प्रवृत्तिके खातेमेंसे खर्च दे. उसी प्रकार भगवानका सारा खर्चा खातेमें लिख दो, अपने सिरपर कोई खटपट मत रखो और सेवा कम्पनीके ट्रस्टके खर्चेपर करो तो भगवान तुम्हारे घर नहीं पधारेंगे यह निश्चित है. गांठका नहीं खर्च सकते तो भगवानको गरज नहीं है तुम्हारे भोगकी, तुम्हारे शृंगारकी और न ही तुम्हारे घरमें बिराजनेकी. जो गांठका खर्च सकते हो तो सेवा करो, घरमें पधराना हो तो सेवा करो. कम्पनीके खर्चे पर होटलमें उतरवा कर ठहराना उसका नाम मेहमाननवाजी नहीं है.

मेरे गुरुजी अपने एक लड़केसे मिलनेकेलिये अमरीका गये. उनका लड़का ऐअरपोर्टपर गुरुजीको लेने आया और सीधे होटलमें ले गया, घरपर नहीं. फिर उसने घर जाकर फोन किया कि कोई तकलीफ हो तो मुझे बताना, चिंता या संकोच नहीं करना. बादमें तीन दिन तक होटलमें आया ही नहीं. चौथे दिन गुरुजी वापिस हिन्दुस्तान आगये. मैंने पूछा **कैसे इतनी जल्दी वापिस आगये?** वह बोले **मुझे तीन दिन होटलमें ठहराकर**

मिलने भी नहीं आया, घरसे फोन किया कि कोई तकलीफ हो ता बताना, मैं क्या होटलमें रहने गया था वहां? खुद घर चला गया मुझे होटलमें उतारकर. वैसे ही तुम ट्रस्ट बना दो और होटलके स्टाफ जैसे ट्रस्टीओंको, समाधानीयोंको फोन करते रहो कि ध्यान रखना, मेरे ठाकुरजीको श्रम न हो, कोई तकलीफ हो तो बताना, पैसेकी जरूरत हो तो बताना भिजवा दूंगा. सेवा कोई खरीदनेकी वस्तु है क्या? क्या समझ रखा है तुमने प्रभुको ? इस प्रकार प्रभुकी सेवा नहीं होती. घरमें पधराओ, घरमें सेवा करो, गांठका खर्चा करो, अपनी देह लगाओ. **तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा** तुम्हारे तनमनधनसे सेवा करो तो प्रभुमें चित्त चौंटेगा और प्रभु तुम्हारे भावको मान सकेंगे. प्रभु ऐसे कोई मुफतिया या उधारिया नहीं हैं कि तुम उन्हें तीन दिन होटलमें उतार दो और फिर वह वापिस बैकुंठमें पधार जायें. बादमें वह आवेंगे ही नहीं तुम्हारे अतिथि बनने अगर तुमको ऐसी भ्रमणा उत्पन्न हो गयी हो तो, यह बात स्पष्टतया समझ लो.

इसलिये भक्तिका जो गरिमामय रूप श्रीमहाप्रभुजीको अभिप्रेत है वह हम अनुयायीयोंको समझना पड़ेगा अगर हम पुष्टिमार्गके ५०० वर्ष पूरे न करने चाह रहे हों तो, अगर हम पुष्टिमार्गीय रूपसे जीना चाह रहे हों तो. यह बात अपने हृदयमें निश्चित समझो कि अपने घरमें अपने श्रीठाकुरजीकी सेवा स्वयं करनी चाहिये, और इतनी सहजतासे कि जो धन, भक्तिभाव, वैभव, सुविधा प्रभुने हमें दी है वह सब प्रभुके विनियोगकेलिये है, तुम्हें कहींसे उधार नहीं लेना. जो प्रभु तुमसे लेना चाह

रहे हैं वह प्रभुने तुम्हें दिया है, उसीसे प्रभुकी सेवा करो. इसकेलिये मैं दुकानदारी नहीं करूं, कोई ट्रस्ट नहीं बनाऊं, ट्रस्ट बनाकर ब्रीच ऑफ ट्रस्ट नहीं करूं. यह भाव जहां तक अपने हृदयमें न जागे वहां तक. एक सूफी संतने कहा है कि **न तू माशूकको पहचान पाया और न आशिक बन पाया. मुद्दई तू इश्करा नालायकी**. हम भक्तिके लायक नहीं हैं, नालायक हैं. अपने घरमें जो अपने पास है उसका जहां तक प्रभुकी सेवामें विनियोग नहीं कर सकते वहां तक हम भक्ति करनेके लायक नहीं हैं.

इसलिये इस प्रकार सेवा करो, जो सहज भाव है, जो सहज सामर्थ्य है, जो सहज स्फुरित हुवा हृदयका आवेग है वह आवेग तुम प्रभुके समक्ष कर दो, फिर चिंता नहीं होगी भक्ति करते हुवे. आत्मनिवेदनका भाव भी यही है कि जो मेरा है वह सभी तेरा ही दिया हुवा है और जो तेरा दिया हुवा है उसीसे मैं तेरी सेवा करूंगा, मैं उधार मांगकर सेवा नहीं करूं, मैं तेर नाम पर भीख नहीं मांगू और सेवाका धंधा नहीं करूं. जिसने आत्म निवेदन किया है वह सेवाका अधिकारी है और जिसने आत्म निवेदन किया है उसकी कभी लौकिक गति नहीं हो सकती.

oooooooooooooooooooooooooooo

प्रवचन दिनांक २७-८-१९८४

कल भक्तिमें, भक्तिकी साधनामें अपनी सहज वृत्तियोंकी महत्ताके बारेमें थोड़ी चर्चा हमनेकी थी. मुख्य हेतु यह समझनेका है कि भक्तिको जब हम सहजतासे अपना नहीं सकते तब भक्ति चिंताका विषय बन जाती है, निवारणका उपाय बननेके बदले. और भक्तिमार्गीय सहजता अर्थात समपर्ण. हमने यह भी देखा कि हाथमें तुलसी लेकर ठाकुरजीके चरणार्विन्दमें समर्पना यह तो समपर्णकी भाषा है, भाव उसके पीछे यह है कि तू मुझे सामर्थ्य दे, जो तू मुझे सुविधा दे, जैसी तुझे अच्छी लगे वैसी सेवा तू मुझसे ले और मैं करूं. **रुचे आपने करूं तेवी टहल रे** प्रभुको रुचे वैसी हम सेवा करें, किसीकी देखादेखी या सिद्धांतको भूलकर जड़तापूर्वक सेवा नहीं करनी.

क्या करना है उसका उपदेश करनेमें शास्त्र तो कोई लोभ नहीं करता. शास्त्र तो निर्लोभ भावसे उपदेशका दान देते हैं, अर्थात तुम एक उपदेश लेने जाओगे और शास्त्र तुम्हें दस उपदेश देता है. अब शास्त्र तो दान देते ही हैं पर उसमेंसे कौनसा उपदेश लेना है वह हमें विचार करना चाहिये. इतना दान लेलें कि अपनी झोलीमें रखनेपर झोली ही फट जाये तो क्या फायदा? इसलिये अपनी झोली पसार कर झेल सकें और घर ले जाकर रख सकें उतना दान ही कामका है. भरतपुरके राजाका मैंने एक प्रसंग पढ़ा है कि वह जागकर महलकी अटारी पर आये तो नीचे एक प्रजाजन प्रार्थना करने लगा कि तुम्हारे राज्यमें हम भूखे मरते हैं. उन्हें

गुस्सा आ गया और हुक्म दिया कि एक थैली भरकर सोनेकी मोहर लाओ. वह थैली महलके ऊपरसे उसके माथेपर फेंक दी तो उसका सिर ही फूट गया. तो पूरी थैली भरकर सोनेकी मोहर मिली पर किस कामकी? इसलिये दान तो शास्त्र बहुत सारे उपदेशोंका देता है, पर उसमें थोड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी. जैसे डाक्टरके दवाखानेमें दवाऐं तो बहुत सारी होती हैं पर तुम्हें यह देखना है कि तुम्हें कौनसी दवाई माफिक आयेगी. सारी दवायें खाओगे तो पेट तो कोई दवाकी दुकान है नहीं कि जहां सारी दवायें जमाकर ली जायें. ऐसे ही सारी दवायें खायी नहीं जाती, यह हमें देखना चाहिये कि कौनसी दवा हमें माफिक आयेगी.

उसीसे यहां सहजताका प्रश्न आकर खड़ा हुवा है. मुझे शास्त्रने जो उपदेश दिया उसमेंसे किसीके अनुकरण किये बिना, किसीके साथ अर्थहीन प्रतिस्पर्धाके बिना मैं जितना अपनी सहज सामर्थ्यसे कर सकूं वह मुझे निश्चित रूपसे करना ही चाहिये. वह जो मैं न करूं तो शास्त्रका उपदेश व्यर्थ हो जायेगा और अपनेमें कृतघ्नता आई हुई कहलायगी. दूसरे प्रकारसे देखें तो ऐसा कहा जा सकता है कि जो सहजताका प्रश्न हो तो सहज तो अपनेमें खाना, पीना, और सोना भी है, तो शास्त्रके झमेलेमें पड़ना ही क्यों? **आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्** इससे यदि सहजताकी ही बात हो तो **अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम. दास मलूका कह गये सबके दाता राम.** किसी प्रकारके प्रयासके बिना कोई साधना करनेका फिर प्रश्न ही कहां उठता है? अर्थात फिर शास्त्रकी

महत्ता कितनी? और फिर हमारे पुष्टिमार्गमें प्रभु कृपा करें तो भक्ति प्रकट हो. बस सबसे अच्छा बहाना है. भक्ति क्यों नहीं करते? **कृपा नहीं हुई अभी, कृपा होगी तब ही तो भक्ति करेंगे?** यह कृपा नहीं करते और हम भक्ति करते नहीं. क्योंकि पुष्टिमार्ग है. ऐसा भी अर्थ निकलता है सहजताका.

अथवा अन्य प्रकारसे देखें तो व्यवहारमें बड़े तौर पर झगड़ा होता रहता है कि भाग्य या पुरुषार्थ? कोई कहता है कि **भाग्यमें होगा तब ही तो भक्ति करूंगा नहीं होगा तो कहांसे करूंगा भक्ति?** कोई कोई इतना पुरुषार्थवादी होता है कि हारता हुवा जुआरी दुगना जुआ खेलता है उससे कुछ लाभ तो होता नहीं है तो भी पुरुषार्थ करता ही रहता है. अब इसमें सच्चा कौन और झूठा कौन इसका निर्णय किस प्रकार हो अपनेसे? इसलिये क्या करना और क्या नहीं करना? कौनसी वस्तु सहज और कौनसी असहज? एक सामान्य उदाहरण देता हूं हम सांस लेते है, सोते हैं वह सहज क्रियाऐं हैं. नींद आना यह भी एक सहज प्रक्रिया है, पर सहज प्रक्रिया कितने समय तक? सात बजे, आठ बजे, दस बजे. पर कोई एक बजे तक सोता ही रहे तो? हमको चिंता होगी कि **कोई दूसरी** सहजता तो नहीं होगई? इसलिये एक बजे तक सोना असहज है. अर्थात सहजताकी भी एक सहजता होती है. एकदम भैंस जैसे सहज बन जायें तो भी असहज है, क्योंकि मनुष्यकी बुद्धि इतनी सहज नहीं है, विधिकी भी उसमें कुछ भूमिका है. तुम्हें विधिके प्रमाणसे भी कुछ करना पड़ेगा. तुम शास्त्रकी विधि न मानो तो फिर सरकारकी

विधि तो मानते होगे वह भी न मानो तो परिवारके बड़ोंका कहा तो मानते होगे. ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि हम सारा काम केवल सहजतासे ही कर रहे हों. इसलिये मानवीय जीवनकी सहजता, अपने अन्दर रही हुयी सहज वृत्तियों और विधिके संतुलनमें रही हुयी है.

किसी एक तरफ अतिशय झोंक रखेंगे, इतने अधिक पंडित बन जायेंगे कि अपनी सहज वृत्तियोंकी कोई परवाह ही न करें अथवा इतनी अधिक सहज वृत्ति अपनावें कि भैंस जैसे ही हो जायें, हौर्नमारनेपर भी न खिसके, ऐसी दोनों प्रकारकी वृत्तियां असहज हैं. सहजता अर्थात इन दोनोंका ही संतुलन बराबर देखना है हमको रस्सीपर चलती हुवी नटनीकी तरह. भीतर रही हुई सहज वृत्तियोंको बाहर जिस समाज, जिस संजोग, जिस पर्यावरणमें हम रहते हैं उसके जो विधिनिषेध हैं उनके साथ एडजस्ट करना आना चाहिये, क्योंकि हम अकेले नहीं हैं; जंगलमें भी अब तो वन विभाग आ गया है, इसलिये तपस्या करनी हो तो भी फौरेस्ट आफिसरकी आज्ञा लेनी अनिवार्य है नहीं तो इसे भी शक होगा कि तुम लकड़ी काटने तो नहीं पहुंच गये जंगलमें.

तो जैसे देहकी सहजता है उसी प्रकार जीवनकी भी सहजता है, समाजकी सहजता है, विश्वकी सहजता है. इन सहजताओंके साथ भी हमको एडजस्टमेन्ट करना आना चाहिये. कोई ऐसी जिद्द पकड़ कर बैठ जाये कि मेरी देहकी सहजताके अनुसार ही मैं बर्ताव करूंगा, तो उसे समझाना ही पड़ेगा कि भाई तेरे परिवारकी भी कोई सहजता है, और तेरा परिवार जिस समाजमें है,

जिस शहरमें है उस समाज, उस शहरके कायदे कानूनकी भी कोई सहजता है. जरा असहज हो जाये तो व्यवस्था खराब हो जाये. हमने वृक्षोंकी अंधाधुंध काटाकूटी कर दी तो समग्र विश्वका पर्यावरण संतुलन खराब हो गया है, लोग यहां तक कहते हैं कि ताजा हवा भी नहीं मिलती इसलिये अपनी ही नहीं प्रत्येक वस्तुकी सहजता होती है. अतएव जब मैं सहजता कह रहा हूं तब दूसरी सभी वस्तुओंकी इच्छा नहीं रखनी ऐसा नहीं कहता परन्तु सभीमें एडजस्ट होकर जीना, इसका नाम ही सहजता है. जो सबके अनुरूप होकर जीनेमें कच्चापन है वह अपने आवेगके कारण है. जैसे व्यक्तिके खानेकी मात्राका प्रमाण होता है कि मेहनत करनेवाले मनुष्यको इतना खाना है और मेहनत न करनेवालेको इतना खाना है. मानो कि कोई व्यक्ति ५० रोटी खा जाये और कहे कि यह तो मेरी सहज भूख है, तो विचारने की बात इसमें यह रही कि परिवारमें कमानेवाला मनुष्य इतना कमा सकेगा? अगर इतनी अधिक भूख लगती है तो चिकित्सा करानी पड़ेगी, उसे सहजता कहकर टाल नहीं सकते. उसी प्रकार भक्तिमें भी जब हम सहजताकी बात करते हैं तो केवल अपनी सहजताकी बात नहीं है. अपनी सहजता, मार्गकी सहजता, जो परिवारमें रह रहे हैं उनकी सहजता सभीकी बात है.

मेरे अहंकी खूंटी पर कितनी सारी वस्तुऐं टंगी हुई हैं वह मुझे देखना चाहिये. यह देह टंगा हुवा है, मेरे पिता होनेका गुणधर्म टंगा हुवा है, किसीके पति होनेका गुण धर्म टंगा हुवा है, किसीके पड़ोसी होनेका गुणधर्म

भी इस अहंकी खूंटीपर टंगा हुवा है. तो या तो मैं इन टंगे हुए सभी धर्मोंको फैंक दूं पर यदि न फैंक सकूं और टांगे रखूं और उन्ह सावधानीपूर्वक नहीं रखूं तो वह सहज नहीं कहलायेगा, असहज कहलायेगा. यदि हम प्रामाणिक मनुष्य हैं तो अपना कर्तव्य बनता है कि कोई हमको यदि कोई वस्तु सोंपे तो उसे बढ़ाये घटाये बिना सावधानीसे वापिस देदें. जैसा कि कबीरजी कहते हैं कि **जसकीतस रख दीनी चदरिया**. इसका अर्थ क्या, कि इस अहंकी खूंटीपर प्रभुने जो जो वस्तु टांगी हैं उन सभी वस्तुओंको सावधानीपूर्वक रखना मुझे आना चाहिये. केवल अपनी देहको ही सहज गिनुं तो मुझमें और भैंसमें क्या अन्तर है? अगर अन्तर है तो अपने अहं पर दूसरी भी जो वस्तुऐं टांगी हुवी है उनकी भी मुझे सावधानी रखनी चाहिये. जो मैं पिता होऊं तो पितारूपमें मेरा फर्ज निभाना ही चाहिये. जो मैं पति होऊं तो पतिरूपमें मुझे फर्ज निभाना चाहिये. उन सभी धर्मोंको निभाते हुवे जो मैं भक्ति कर सकूं तो वह सहजता है भक्तिकी.

भक्तिका प्रकार इतना अधिक भी नहीं बढ़ा देना चाहिये कि वह असहज हो जाये. जैसे सांस चलना सहज है, पर यही सांस दमेमें चले तो? आदमी परेशान हो जाय, मृत्युकी कामना करने लगे. लो भई, सांस चले इसीलिये तो मनुष्य सारे प्रयत्न करता है, औक्सीजनकी बोतल लाता है, दौड़भाग करता है और सांसही अधिक चलने लगे तो त्राहि त्राहि करने लगता है. इसलिये सहजताका विवेक होना चाहिये. जो हाथमें आजाये वह सहज बाकी सभी असहज ऐसा कदापि नहीं

है. सहजताका सीधा सीधा अर्थ है कि इस अहंताकी खूंटीपर जो जो वस्तुयें टांगनेमें आती हैं उनकी मुझे सहजतासे सावधानी रखनी चाहिये. जीवन जो सबके अनुरूप होवे उसका नाम सहजता. उसमें तोड़फोड़ हो, एक वस्तुको सम्हालनेकेलिये दूसरीको टूटने दें और दूसरी वस्तुको सम्हालनेमें तीसरी टूटे उसका नाम सहजता नहीं. मुझे अपनी ओरसे सभीका सावधानीपूर्वक ख्याल रखना चाहिये अब यदि कोइ वस्तु ही कच्ची हो और टूट जाये तो उसमें मेरा क्या दोष? पर मुझे किसीको तोड़नेका प्रयास नहीं करना चाहिये. जब मेरे अहंकी खूंटीपर कोई वस्तु टांगनेमें आयी है तब तो मुझे उसका सावधानीसे ख्याल रखनेका प्रयास करना ही चाहिये. उसका नाम है सहजता.

अतएव भगवान भी ऐसी आज्ञा करते हैं कि **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्**। हे कौन्तेय, जो सहज कर्म हैं उन्हें तू छोड़ मत. वैराग्यकी झोंक आ गयी तो बस नहीं लड़ना, सन्यासी हो जाऊं. अरे पर सन्यासी होकर भी तो कुछ कर्म करना ही पड़ेगा, आश्रम तो बनाना पड़ेगा, ट्रस्ट तो बनाना ही पड़ेगा, भीड़ तो इकट्ठी करनी ही पड़ेगी, इन्कमटैक्स ऑफीसरसे छूट तो लेनी ही पड़ेगी, देनेमें आनाकानी करे तो थोड़ा खिलाना भी पड़ेगा, यह सब कहांसे आयेगा? मुफ्तमें आजायगा क्या वैराग्यसे ? यह वैराग्यसे नहीं आयेगा, यह तो अनुरागसे ही आयेगा. किसी न किसो सेठको तो कहना ही पड़ेगा, कुछ न कुछ तो प्रयास करना ही पड़ेगा. जब यह प्रयास करने ही हैं तो

फिर सीधी तरहसे क्यों नहीं करते, उल्टी तरहसे क्यों करते हो?

अतएव हम जो कहते हैं कि सभी कुछ सहज हो जायगा पर सहज ऐसे नहीं होता. सहजताका अर्थ शास्त्र तद्तद् अवस्था अनुसार समझाते हैं. जैसे ब्रह्मचर्यमें स्वाध्याय सहज है. उस समय ऐसा कहो कि मुझे सन्यास लेना है तो सन्यास सहज नहीं है, असहज है. गार्हस्थ्यमें गार्हस्थ्य ही सहज है. उस समय तुम कहो कि मैं तो पढ़ता ही रहूंगा, कमाने नहीं जाऊंगा तो वह अध्ययन असहज है. गृहस्थ चलाना है तो कमाने जाना ही होगा. उस क्रममें सन्यास जब प्राप्त हो तभी लेना सहज कर्म है. जो तीन तरहके कर्जोंको चुकाये बिना असहज सन्यास लेने जाता है तो उसका अध:पतन ही होता है ऐसा शास्त्र कहते हैं. ऐसे असहज त्यागसे वैराग्य फलता नहीं है. ऐसे ही भक्ति भी सहज होनी चाहिये.

आजकल सभीको चिंता होती है कि सेवा तो करते हैं परन्तु ठाकुरजी बोलते क्यों नहीं हैं? चित्त चौंटता क्यों नहीं है? अरे पर तुमने सेवाकी ही कितनी? अरे कितने ही लोग कहते हैं कि **सेवा करनेमें चित्त चौंटता नहीं है तो ऐसी सेवासे क्या फायदा**? परन्तु चित्त तो कभी खानेमें भी नहीं लगता तो खानेसे भी क्या लाभ? खाना छोड़ दोगे क्या? चित्त तो बच्चोंमें भी पूरा नहीं चौंटता. दफ्तर जानेकी जल्दी हो और उस समय बच्चा खेलनेकेलिये जिद्द पकड़े तो थप्पड़ मारनेकी इच्छा होती है. चित्त तो तुम्हारा कभी व्यवसायमें भी नहीं लगता, वहां भी तुम्हें समाचार पत्र

पढ़नेकी अथवा सिनेमा देखनेकी इच्छा होती है. चित्त तो कहीं भी चौंटता नहीं पथ भ्रष्ट हो गया है. कहीं भी चौंटे बिना दौड़ता ही रहता है. चौंट जाये उसका नाम चित्त नहीं; इसे कहीं भी चौंटना नहीं है, तो क्या क्या वस्तु तुम छोड़ दोगे चित्तके न चौंटनेसे? यह असहज वृत्ति है. पहली बात तो चित्त चौंटानेका इतना अधिक आग्रह रखना ही असहज वृत्ति है. चित्तकी सहजता अर्थात ? तुम्हारी उस कार्यमें रुचि आनी. रुचि आरही है तो वह कार्य सहज है. रुचि नहीं आरही तो वह तुम्हारे चित्तका विषय नहीं. किसीका गलत अनुकरण मत करो. चित्त तो जीवनमें भी नहीं चौंटता तो क्या मर जाना चाहिये? इसलिये ऐसे उल्टे असहज आग्रहकेलिये हमको अधिक चिंतायें होती हैं जीवनमें भी और भक्तिमें भी.

इस असहजतासे हम दूर न हों, इससे हम सावधान न हों तो भक्ति क्या करेगी? हमने गलत धरातल पर भक्तिको पधरा दिया है ऐसी स्थितिमें भक्ति तुम्हें फल नहीं देगी. मैं बारबार एक उदाहरण देता हूं कि आज विवाहमें लोग कुर्सीपर बैठते हैं, खुद जूते पहने होते हैं, उस स्थानपर गणपतिको पधराते हैं, तत्पश्चात विघ्नहरनेको कहते हैं. परन्तु जूतेके पास बैठ गणपति तुम्हारा विघ्न कैसे हरेंगे? पति पत्निमें झगड़ा न होता हो तो करवा ही देंगे. यदि देवसे विघ्न हरनेकी अपेक्षा रखते हो तो कमसे कम उन्हें स्वयंसे तो ऊंचा बैठाओ. स्वयं कुर्सीपर बैठकर उन्हें जूतेके पास बैठाकर उनका अपमान करो तो उनसे और क्या अपेक्षा रखोग? इससे अच्छा तो गणपतिकी पूजा ही मत करो. यह पूजा है या

अपमान? इसी प्रकार भक्तिको भी तुम ऐसे पाटिये पर पधराओ कि जिस पाटियेपर बैठकर भक्ति तुम्हारे चित्तको निश्चित ही शांत कर सके. पर यदि तुम जिद्दके पाटियेपर, अहंकारके पाटियेपर अथवा अनुकरणके पाटियेपर भक्तिको बैठाओगे और भक्तिसे अपेक्षा करोगे कि अब यह मेरे चित्तको शांत करे, प्रभुमें प्रेम, आसक्ति, व्यसन सिद्ध कराये! पर तुमने किस पाटियेपर उसे बैठाया? अनुकरण अथवा अहंकारपर बैठी हुई भक्ति तुम्हारे चित्तको भगवानमें नहीं चौंटायेगी, इसे किसी ऊंचे पाटियेपर बैठाओ जो इसे शोभा दे. गणपतिको तुम योग्य सम्मान देकर पूजन करो तो वह तुम्हारे जीवनमें आनेवाले विघ्नोंको हरेंगे, पर जूतोंके पास बैठाकर पूजा करोगे तो गणपति विघ्न न करते हों तो करेंगे. हम समझते हैं कि गणपति विघ्नहर्ता हैं पर विघ्नकर्ता भी नाम है गणपतिका, समझे. तुम भली प्रकारसे पूजो तो विघ्नहर्ता हैं नहीं तो विघ्नकर्ता हैं. उनमें दोंनो ही गुण हैं. ऐसा ही भक्तिमें भी है.

भाग्य-पुरुषार्थ, कृपा-भक्ति, चिंतन-चिंता इन सभीका संबंध ऐसा है. तुम्हें एक सामान्य उदाहरण देता हूं. अपना श्वास चलता है उसकेलिय कोई प्रयास करना पड़ता है क्या? नहीं. श्वास जन्म लिया तभीसे मृत्यु तक चलता रहता है, लगातार. उससे क्या कभी थकान होती है? नहीं होती. पर अब एक ऐसा प्रयोग करो कि दस मिनट श्वास लो और छोड़ो, थक जाओगे. कृपा और भक्तिमें बस इतना ही अंतर है. कृपा है चलता हुवा श्वास और भक्ति है प्रयाससे लिया हुवा

श्वास. कृपासे चलते हुवे श्वाससे तुम्हें थकान नहीं लगेगी. भक्तिके श्वासकेलिये तुम्हें अभ्यास करना पड़ेगा. अभ्यास किये बिना जो तुम प्राणायाम करोगे तो दम घुट जायेगा, मर भी सकते हो परन्तु अभ्यास करो तो कोई बड़ी बात नहीं है. आजकल तुम यह सुनते होगे कि बहुतसे योगी ग्यारह ग्यारह दिनकी भूगर्भ समाधि लेते हैं प्राणायाम सिद्ध करके, कैसे? जो चलता हुवा श्वास है उस पर कन्ट्रोल करके. तो अभ्याससे सांस रुकेगा नहीं ऐसा नहीं है. ग्यारह दिन तक जो श्वास रोक सकता है उसे कहो कि तू ग्यारह दिन तक सतत इच्छासे श्वास लेता रह तो वह ले भी सकता है अपनी इच्छा से. परन्तु हम ग्यारह मिनट भी इच्छासे श्वास लें तो बारहवें मिनटमें थक जायेंगे. चलता हुवा श्वास सहज है और जो श्वास लें और छोड़े उसमें थकान लगेगी. उसमें अभ्यासकी अपेक्षा है. **अभ्यासेन कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते**. तो कृपा चलता हुआ श्वास है एवं भक्ति इच्छासे लिया हुआ श्वास है. उसी प्रकार चिंतन चलता हुवा श्वास है. मनुष्य किसी भी समय चिंतन किये बिना नहीं रह सकता परन्तु चिंता ऐसा श्वास है जो हम ले व छोड़ रहे हैं.

मनुष्य सामान्य हो तो ठीक है परन्तु असामान्य हो तो सभीको परेशानी होती है. श्वास सामान्य चले तो ठीक पर बढ़ जाये तो दमा कहलाता है. तो अमुक वस्तुऐं यदि हदसे ज्यादा बढ़ जाती हैं तो हमें परेशान करती हैं. उसी प्रकार चिंतन जहां तक योग्य प्रमाणमें चलता है वहां तक तो अपनी बुद्धिका एक विशिष्ट गुण है जो कि दूसरी योनियोंमें प्रभुने नहीं दिया है. पर जब

हम इसको बढा देंगे, एक पाई लेनी देनी नहीं चिंतन करते ही रहेंगे कि क्या होगा, कैसे होगा, ऐसे करेंगे तो वैसे होगा, ऐसे नहीं करेंगे तो वैसे होगा, तो चिंतन चिंतामें बदल जायेगा. अब तुम्हें थकान लगेगी. चिंतन करते हुवे तुम्हें कभी थकान नहीं लगेगी पर चिंता करोगे तो उद्वेग होगा, हायपरटेन्शन होगा, हार्टअटैक आयेगा.

यह सभी अस्वभाविकताके कारण होता है, जो स्वभाविक रूपसे करते रहोगे तो कुछ नहीं होगा. चलते हुवे श्वासका मैकेनिज्म इतना सुदृढ़ है कि ७०/८० साल पर्यन्त भी आदमी जीये तो थकता नहीं है, परन्तु इसे लेने व छोड़ने लगे तो तुरन्त थक जाता है. उसी प्रकार चिंता एवं चिंतनका अंतर हम समझलें तो कोई तकलीफ नहीं हो. चिंतन सहज है मानव जीवनमें, पर उसे अधिक करने लगें तो चिंता हो जायेगी. चिंता जैसे लोक व्यवहारमें व्यथा उत्पन्न करती है उसी प्रकार भक्तिमें भी व्यथा उत्पन्न करती है. तो जब श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति**, तब यह नहीं कहते कि तुम चिंतन नहीं करो, भक्तिमार्गपर आते विघ्नोंका कैसे निवारण करना इसका चिंतन नहीं करो. चिंतनका निषेध श्रीमहाप्रभुजी नहीं करते, महाप्रभुजी चिंताका निषेध करते हैं. तुमने आत्मनिवेदन किया है, प्रभुको तुमने सर्वस्व निवेदन कर दिया है, अब उसका चिंतन करो **निवेदनं तु स्मर्तव्यं** पर चिंता मत करो. निवेदनकी भी यदि तुम चिंता करने लगोगे तो महाप्रभुजी **ना** करते है **तथा निवेदने चिंता त्याज्या**

श्रीपुरुषोत्तमे चिंता नहीं करो भाईसाहब, चिंतन करो. चिंतन करनेको कहें तो हम चिंता करने लग जाते हैं और चिंता न करनेको कहें तो चिंतन करना भी भूल जाते हैं भैंसका अवतार बन जाते हैं. यह दोंनों ही अतिरेक हैं. इन अतिरेकोंस बचना, इसका नाम है सहजता. किसी एक चीजको पकड़कर बैठ जावें तो इसका नाम सहजता नहीं है.

भगवान आज्ञा करते हैं **श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**। स्वधर्म यदि तुम भलीप्रकार नहीं पाल सके तो कोई परेशानीकी बात नहीं है, विगुण हो ऐसा स्वधर्म, तो भी वह परधर्मसे श्रेष्ठ है. इसका कारण यह है कि स्वधर्म तुम्हारी सहजताको अनुलक्षित करके शास्त्र द्वारा दिया गया उपदेश है. तुम्हें अनुलक्षित कर शास्त्र द्वारा दिया हुवा उपदेश ही स्वधर्म है उसे छोड़ना नहीं चाहिये. उसे छोड़कर यदि तुम परधर्म करने जाओगे तो निश्चय ही वह भयावह सिद्ध होगा. मुझे अपने स्वधर्मकी खबर न हो और दूसरोंके धर्मका अनुसरण मैं करने लगूं तो चिंता उपस्थित हुवे बिना रहेगी ही नहीं. स्वधर्मकी ऐसी ही महत्ता है. अपने यहां इसीसे भागवत्में जीवका और ब्रह्मका स्वरूप भारपूर्वक समझानेमें आया है कि जीवका बंधन इसका अर्थ क्या? वह यह कि जीवका जो सच्चा स्वरूप है उस हिसाबसे जो जीव न रहें तो वह उसका बंधन. और जीव स्वयंके सच्चे स्वरूपानुसार जीवे तो वह उसकी मुक्ति. जीवके बंधन और मुक्तिकी दूसरी परिभाषा अपने यहां नहीं है. **स्वरूपावस्थानां मुक्तिः** जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा

स्वभाव है उसमें मैं अवस्थित हो जाऊं वह मेरी मुक्ति और वह ही मेरा स्वरूप. मेरा स्वभाव छोड़कर मैं दूसरे स्वरूपमें फंस जाऊं तो यह मेरा बंधन. वह ही संसार. यह एक दिव्य रहस्य है शास्त्रोपदेशके अंतमें.

जो जड़ वस्तुऐं हैं उनमें कितनी ही वस्तुओंमें क्रिया होगी, पर कोई जड़वस्तु कर्ता नहीं है. जैसे हवा चलती है लेकिन हम यह नहीं कहते कि हवा कर्ता है. पानी बहता है तो व्याकरणकी दृष्टिसे पानी बहनेकी क्रियाका कर्ता होगा पर निश्चित ही हम इसे कर्ता नहीं कहते. उसका कारण यह है कि जो बहता है वह अपने सामर्थ्यसे नहीं बहता, स्वभावसे बहता है. हममें भी एक ऐसी ही सामर्थ्य दी गयी है कि जिस सामर्थ्यसे हम कार्य कर रहे हैं. उदाहरणार्थ श्वास हम स्वभावसे भी लेते हैं और सामर्थ्यसे भी ले सकते हैं. जो स्वभावसे लेते हैं वह तो जड़की तरह ही लेते हैं जैसे कि सोतेमें भी श्वास तो बराबर चलता ही है. व्यक्ति बेहोशीमें रहकर भी, जबकि कोई भी अनुभूति शेष नहीं रहती, श्वास लेता ही रहता है. यह स्वभावसे लिया जाता श्वास है; और जो श्वास हम ले रहे हैं व छोड़ रहे हैं वह सामर्थ्यसे लिया जाता श्वास है. ऐसे ही हम श्वास लेनेकी क्रियाके कर्ता भी हैं और आश्रय भी. समुद्र किनारे जैसे लहरोंका झोंका आता जाता रहता है ऐसे ही नाकमें से झोंका आता जाता रहता है और हमें पता भी नहीं चलता कि क्यों आता है और क्यों जाता है. ऐसे ही एक स्वभावसे आता जाता श्वास है और एक सामर्थ्यसे आता जाता श्वास है. दोनों ही प्रकारका प्रभुने हमारे भीतर मिश्रण बनाया है.

वैसे ही भोक्तापनेका है. अमुक लोग अपने स्वभावसे करते हैं, कुछ लोग अपने सामर्थ्यसे करते हैं. उसी प्रकार हमारे भीतर दृष्टापनेका भी है. अमुक वस्तु हमें स्वभावसे दिखती है, हम देखना चाहें या न चाहें. पर अमुक वस्तुऐं हमें सामर्थ्यसे भी दिखलाई देती हैं. उदाहरणकेलिये हम पंखेके नीचे बैठे हैं पर मैं ध्यान दिलाऊं तो तुम्हें ध्यान आयेगा, नहीं तो प्रवचन सुनते सुनते यह ख्याल ही नहीं रहेगा. पर कदाचित गर्मी लगे तब भी ध्यान आ जायेगा. तो पंखेकी हवाका तुम त्वचाके स्पर्शसे अनुभव कर रहे हो वह स्वभाव है और मैं ध्यान दिलाऊं वह सामर्थ्य है. जैसे टाइपिस्ट स्वभावसे लाइन टाइप करता रहता है पर किसी समय समझमें न आवे तो सामर्थ्यसे पढ़कर टाइप करता है. ऐसे ही हम अमुक कार्य सामर्थ्यसे करते हैं एवं कुछ स्वभावसे. जो स्वभावसे भक्ति होती है उसे श्रीमहाप्रभुजी कृपा कहते हैं, पुष्टिभक्ति कहते हैं, और जो हमारी सामर्थ्यसे भक्ति होती है उसे श्रीमहाप्रभुजी भक्तिमार्ग कहते हैं, भक्ति साधना कहते हैं. जैसे स्वभावत: जो भूख लगे वह स्वभाव है और जो औषधि खाकर भूख जगाये वह सामर्थ्य है. स्वभावसे जो चलता है वह चिंतन है और सामर्थ्यसे जो चले वह चिंता है. ऐसे ही जीवको प्रभुने कर्ता, भोक्ता और दृष्टा तीन गुण दिये हैं और जीवका कर्तापना, भोक्तापना और दृष्टापना यह स्वभावसे भी है और सामर्थ्यसे भी. इस स्वभाव एवं सामर्थ्यका संतुलन जो हम जान सकें, एक दूसरेको एक दूसरेका पूरक बना दें तो वह है सहजता,

और एक दूसरेको एकदूसरेका बाधक बना दें तो वह असहजता, यह समझलो तो नवरत्न समझमें आवेगा.

कर्तापनेमें अहंकार होना आवश्यक है. जब मैं कोई कार्य करूं तब मुझमें अगर अहंकार न हो तो कार्य करनेका मुझे पूरा पूरा मजा नहीं आयेगा. स्वभावसे जो कार्य करता होऊं उसमें तो अहंकार नहीं आता पर सामर्थ्यसे जो कार्य करूंगा तो मुझे अहंकार होगा, होगा और होगा ही. **मैंने किया**. अभी मैं सामर्थ्यसे प्रवचन कर रहा हूं तो मुझमें कर्तापनेका अहंकार आये बिना रहेगा ही नहीं. अब उसे छिपाकर झूठमूठ दीनता प्रकट करूं तो क्या, पर मनमें तो अहंकार आवेगा ही निश्चयसे कि मैंने प्रवचन किया. मेरी प्रवचन करनेकी वासना पूरी न हो और कभी नींदमें बड़बड़ाना शुरु कर दूं तो वह स्वभावसे होगा, उसमें अहंकार काम नहीं आवेगा, वह स्वयं ही चलता रहेगा; पर यह सामर्थ्यसे करूं तो अहंकार आये बिना रहेगा नहीं. अपनी बनावट ही ऐसी है, यह समझनेका प्रयास करो. सामर्थ्यसे कुछ करें तो अहंकार आये बिना रहेगा ही नहीं. अब जो व्यक्ति चतुर होगा वह उसे दबा देगा. जैसे सभ्य मनुष्य तो मुंह पर हाथ रख कर छींकेगा और कोई असभ्य हो तो सभीके सामने मुंहपर छींक देगा, बस अंतर केवल इतना ही है. पर छींक आती तो सभीको है और आती छींक कभी रुक नहीं सकती. वैसे ही सामर्थ्यसे कोई काम करनेमें अहं तो जागेगा परन्तु कोई उसे छिपा देता है **ना, ना मैंने क्या किया? यह तो भगवदइच्छासे हुवा.** पर अंदर अहंकार होता ही है. प्रत्येक व्यक्ति हृदयपर हाथ रख कर देख ले.

भोक्तापनेमें क्या होता है कि मनुष्य जैसे जैसे सामर्थ्यसे भोग करता है वैसे वैसे उसका अहंकार टूटता जाता है. जितनी भोगकी वृत्ति प्रबल होगी उतना अहंकार निर्बल होगा. जैसे गायके सामने घास डालो तो डंडा खानेको तैयार हो जाती है, घोड़ेके सामने घास डालो तो दौड़नेकेलिये तैयार हो जाता है; अफसरको खिलाओ पिलाओ तो सभी कानूनी गैरकानूनी काम करनेको तैयार हो जाता है. भोक्तापनेमें अहंकार टिकेगा ही नहीं. मनुष्य भोक्ता बना और उसका अहंकार समाप्त हुवा. भोगका स्वभाव ही ऐसा है कि ममता बढ़ जाती है और अहंकार घट जाता है.

दृष्टाका स्वभाव इन दोंनोसे भिन्न है. उसमें न तो अहंकार रहता है और न ही ममता रहती है. जैसे पड़ौसीके यहां झगड़ा हो रहा हो और हम खिड़कीसे देख रहे हों तो हममें अहंकार भी नहीं जागेगा और ममता भी नहीं कि क्यों झगड़ रहे हैं, पर देखनेमें मजा आता है. यह झगड़ा बंद हो जाये तो परेशानी होती है; और झगड़ा फिर चालू हो जाये तो दोबारा देखने दौड़ते हैं कि भाई फिर क्या हुवा? अरे देख रहे हो तो उससे झगड़ा निबटा दो न यार तुम जाकर? यह नहीं होता, क्योंकि हमको अहंता व ममता दोंनो ही नहीं हैं. होने दो झगड़ा, हम तो दृष्टा हैं, देखेंगे. जितना अधिक झगड़ें उतना अधिक देखेंगे. दृष्टामें अहंता नहीं होती ममता भी नहीं होती, कार्य करनेको सूझता ही नहीं उसे.

तो भगवानने जीवको कर्ता भी बनाया है, भोक्ता भी बनाया है और दृष्टा भी बनाया है. इन तीनोंके

स्वभाव व सामर्थ्यसे मंडित प्रकट किया है जीवको. यह कितनी जटिल बनावट है कितना complex mechanism है ! इस बनावटको यदि हम न समझें तो फिर चिंता किस प्रकार निवृत्त होगी? हम स्वभावमें सामर्थ्य और सामर्थ्यमें स्वभाव मिश्रित कर देते हैं. पर थोड़ा विचार करके, कहांसे क्या हो रहा है, यह समझ जावें तो हम मशीनको भली प्रकार चला सकते हैं. कहां स्टेरिंग है, कहां क्लच है, कहां ब्रेक है, कहां एक्सिलरेटर है और उन सबका क्या कार्य है. यह भली प्रकारसे समझलें तो ही तुम्हें अच्छी ड्राइविंग आ सकेगी. यह समझे बिना जब हम ड्राइविंग करेंगे तो गाड़ी कहींकी कहीं जायेगी और भटक जायेगी, फिर चिंता होनी सहज है. इसीसे जीवको मोटे तौरपर चिंताऐं इन कर्तापने, भोक्तापने और दृष्टापनेके संतुलन न होनेके कारण होती हैं, स्वभाव और सामर्थ्यका सुमेल न होनेके कारण होती हैं.

मैं एक बार निश्चय करूं कि मुझे कितने अंशमें कर्तापना सामर्थ्यसे चलाना और कितने अंशमें स्वभावसे चलने देना, कितने अंशमें अन्न, धन, यश, घर वगैरह वस्तुओंका स्वभावसे उपभोग करना और कितने अंशमें सामर्थ्यसे करना, और फिर सतत यह विवेक रखूं और उसको साधता रहूं निरंतर तो चिंता न हो. पर मेरा जो स्वभाविक व्यक्तित्व है उसे मैं अपने अस्वभाविक व्यक्तित्वकेलिये जबरदस्ती कुचलूं तो विकृति आये बिना रहेगी नहीं. जैसे हम बालकको छोटेपनसे टी.वी. दिखाना शुरु कर दें तो टी.वी. का अस्वभाविक दृष्टा बनकर यह बहुत सारी ऐसी बातें जान जाता है कि

अपने घरमें पंचायत हो जाती है. वह गोलीसे उड़ा देनेकी चेष्टा भी करता है, न देने लायक हो ऐसी गाली भी देने लग जाता है और हमें उसे थप्पड़ मारना पड़ता है. पर जो उसे स्वभाविक बाल्यावस्थामें नहीं देखना चाहिये वह हमारे साथ बैठकर देखता है. प्रत्येक वस्तुको ग्रहण करता है तो फिर जो देखा उसका संस्कार उसपर पड़े बिना रहेगा नहीं. अमरीकामें तो बालकोंपर मारधाड़की हिंसाप्रधान फिल्मोंका ऐसा संस्कार पड़ गया है कि मांबाप कभी थप्पड़ मार दें तो रातमें बालकोंको ऐसा स्वपन आता है कि मांबापको जूडोकी लात मारी, बौक्सिंगका पंच मार दिया. वृत्ति ही खराब हो जाती है. अस्वभाविक दृष्टा होनेसे ही ऐसा नुकसान हो रहा है.

इसलिये हमको यह संतुलन आना चाहिये कि कितना देखना चाहिये एवं कितना नहीं देखना चाहिये. स्वभावसे दिखलाई दे उसका दमन नहीं करना चाहिये पर सामर्थ्यसे देखनेमें थोड़ासा विवेक रखना चाहिये. वह नहीं जानेंगे तो चिंताका प्रसंग उपस्थित हुवे बिना रहेगा नहीं.

कर्ममार्ग अपने कर्तापनको सुधारनेकेलिये है, भक्तिमार्ग अपने भोक्तापनको सुधारनेकेलिये है और ज्ञानमार्ग अपने दृष्टापनको सुधारनेकेलिये है. हमें यह देखना है कि हमें तकलीफ क्या है? कर्तापनकी ग्रंथिमें रोग हुवा है, भोक्तापनेकी ग्रंथिमें रोग हुवा है या दृष्टापनेकी ग्रंथिमें रोग हुवा है? जिस ग्रंथिमें रोग उत्पन्न हुवा है उस ग्रंथिका इलाज उस मार्गसे होगा. हम यह नहीं कह सकते कि सभी लोग ज्ञानका उपदेश

सुनने जाते हैं तो मुझे भी जाना चाहिये. एक व्यक्ति मुझसे बोला **मैं बहुत परिपक्व ज्ञानी हूं**. मैंने कहा **तुम्हारा ज्ञान तुम्हें ही मुबारक** ऐसे कहीं ज्ञानोपदेश सुननेसे ज्ञानी हो जाते हैं? ज्ञानमार्ग किसकेलिये है यह हमें समझना पड़ेगा. जो हमारी दृष्टापनेकी ग्रंथिमें गड़बड़ न हो तो ज्ञानमार्ग मुझे बहुत सहायक सिद्ध नहीं होगा. मेरी भोक्तापनेकी ग्रंथिमें गड़बड़ नहीं है तो भक्तिमार्ग मुझे सहायक सिद्ध नहीं होगा अर्थात मेरी भोक्तापनेकी ग्रंथि कैसी है इसके विवेचनके बाद ही यदि मैं भक्तिमार्गपर प्रवृत्त होऊं तो ही भक्ति मुझे लाभदायक सिद्ध होगी.

अब यदि हममें कर्तापनेका जोर हो और भक्ति करने बैठ जावें अर्थात सुबहसे शाम तक ढोरकी तरह सेवा करते रहें पर उसका मजा हमें नहीं आयेगा. कारण क्या कि भीतर रहा हुवा कर्ता तुम्हें उत्तेजित कर रहा है कि कुछ करना है. अब तुम्हारे हाथमें सेवा चढ़ गई इसलिये मर्याद लेकर सेवाकी रीति पढ़कर नियमोंको रटकर सेवा शुरुकर दी. इससे कर्ताका भाव ही बढ़ता रहेगा, पर भोक्ताका भाव तो नहीं बढ़ेगा, घट ही जायेगा. तुम्हें सेवामें मजा आना बंद ही हो जायेगा. जैसे जैसे कर्ताका भाव बढ़ता जायेगा, दमेमें जैसे सांस बढ़ता है, वैसे वैसे तुमको सेवा करते करते चिंता, उद्वेग, टेन्शन बढ़ते जायेंगे.

कदाचित ऐसा भी संभव है कि तुममें दृष्टाका भाव जोर पकड़ ले और तुम भक्तिमार्गमें आगये हो तो भी तुम स्वस्थतया भक्ति नहीं कर सकोगे. आजकल सचमें ऐसा ही हो गया है, क्योंकि टी.वी. देख देख कर

अपनेमें दृष्टापनेका भाव बहुत जोर पकड़ गया है. इसलिये मनोरथोंके दर्शन ही हमको अच्छे लगते हैं. अपने स्वयंके ठाकुरजीओंका मनोरथ करना हमको अच्छा नहीं लगता. सभीको देखना अच्छा लगता है, करना अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति हो गई है. अब हम समझते हैं कि मनोरथोंके दर्शन हमने करलिये तो बहुत बड़ी भक्ति हमने कर ली. पर यह तो तुम दृष्टा हुवे, कर्ता कहां हुवे? प्रभुके आनन्दको कहां भोगा? तुम्हारे भीतरके दृष्टाने यदि इतना जोर पकड़ लिया है तो यह बहतर है कि तुम ज्ञानमार्गी हो जाओ; तुम्हें निश्चित ही कुछ प्राप्त हो जायेगा. तुम भक्तिमार्गमें ऐसी अवस्थामें आओगे और करोगे धरोगे कुछ नहीं और मनोरथोंके दर्शन करोगे तो कुछ मिलने वाला है नहीं. महाप्रभुजीने सुबोधिनीजीमें बहुत सुन्दर समझाया है कि भगवान किसलिये कौस्तुभ मणि धारण करते हैं? तो आप समझाते हैं कि इसलिये कि ऐसे दृष्टा जो आ चढ़े भगवानके दर्शनार्थ उनको भगवान दिखलाई ही नहीं देंगे और इनकी दृष्टि कौस्तुभ मणिमें ही अटक जावेगी, **आहा, कैसे आभरण हीरा मोतीके, कैसे हिंडोले केसरके, कैसे बड़े लड्डू थे छप्पन भोगके!**' बस ठाकुरजी गायब, दिखलाई ही नहीं देंगे. थोड़ा देखने जाओ तो झापटिया झापड़ ऐसी मारेगा कि अक्कल ठिकाने आ जायेगी! इसलिये हम भक्तिमार्गमें ऐसी गलत पद्धतियोंको विकसित होंने देंगे और फिर अपेक्षा रखेंगे कि चिंता निवृत्त हो, पर भक्ति किसप्रकार तुम्हारी चिंता निवृत्त करेगी जबकि रोग तुम्हें दृष्टाकी ग्रंथिका है? मूलमें तुम दृष्टा हो और दृष्टा ही रहना पसंद

करते हो तो फिर भक्ति मत करो, तब तुम ज्ञानमार्ग पर जाओ, निश्चित ही ज्ञानोपदेश तुम्हें सहायक सिद्ध होंगे और तुम्हारे रोगका निवारण करेंगे.

पर जो तुम भोक्ता हो, प्रभुका मजा लेनेकी इच्छा रखते हो तो भक्तिमार्ग में ही आओ. ढोकले खानेका मजा आयेगा, संगीत सुननेका मजा आयेगा, घूमनेका मजा आयेगा, यह सब भोक्ताके भाव हैं. ऐसा भाव तुम्हारेमें होतो फिर तुम भक्ति करो. भाक्तृत्वके भावमें एक विशेषता है कि जो कर्ता नहीं है वह भोक्ता भी नहीं हो सकता है. अर्थात जो भोक्ता होगा उसे कुछ तो करना ही पड़ेगा. कुछ तो देखना ही पड़ेगा. अंधा क्या भोग कर सकता है? तो प्रयागमें गंगा-यमुनाका संगम होता है वैसे ही भोक्तामें कर्ता और दृष्टापनेका संगम है, थोड़ा थोड़ा दोनों हैं. **न निर्विण्णो नातिसक्त: भक्ति योगस्तु सिद्धिद:** ऐसे भागवत इसीलिये कहती है कि केवल कर्तापने अथवा दृष्टापनेके भावसे तुम्हें भक्तिका आनन्द नहीं मिलेगा.

कर्तापनेका भाव यदि तुम्हारा प्रबल हो तो निश्चित ही तुम भक्ति मत करो. शास्त्रमें जो कर्म तुम्हें प्राप्त हो वह कर्म करो. निश्चित रूपसे तुम्हारे कर्तापनेके भावमें सोनेमें सुहागा मिल जायेगा. **तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यसिद्धि विन्दति मानव:।** भगवान कहते हैं कि तुमसे शास्त्र जिसकी अपेक्षा रखता है वह कर्तव्य तुम्हारा स्वधर्म है. उसको जानकर तुम आचरण करोगे तो तुमको सिद्धि मिल जायेगी लेकिन यदि तुममें

कर्तापनेका भाव प्रबल हो तो. यदि तुम दृष्टा हो तो कर्म करना तुम्हें रुचेगा नहीं, कुछ न कुछ घोटाला तुम करोगे इसलिये तुम अपने आपको पहले पहचानो कि तुम्हारी सहजता किसमें है.

प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा कर्ता, भोक्ता व दृष्टा भी होता है लेकिन उसका प्रमाण प्रत्येक व्यक्तिमें अलग अलग होता है. जैसे प्रत्येक व्यक्तिकी नाक तो होती ही है लेकिन किसीकी लंबी, किसीकी चपटी होती है. जिसमें जो भाव प्रबल हो उसीके अनुसार मार्ग उसे पसंद करना चाहिये. बहुतसे व्यक्ति कहते हैं **कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंकी खिचड़ी पकाआ** खिचड़ी पकानेसे काम नहीं चलेगा. मनुष्यको जो रोग हो उसीके अनुसार उसका उपाय होगा. प्रत्येक व्यक्तिको एक समान तो रोग होता नहीं. अपने भावके अनुरूप मार्गपर व्यक्ति चले तो उस मार्गका मजा भी ले सकता है और चिंता भी नहीं होगी. शास्त्रोंका बहुत सुविचारित मार्ग है. अन्धे बहरे होकर जैसा मन करे वैसा उपदेश नहीं दिया है हमको. इसलिये किसी भी उपदेशकी गम्भीरताको समझना चाहिये कि कौनसा विधान किसकेलिये है? जो जिसके लिये है वह करे तो उसका परिणाम उसे मिलेगा. लेकिन तुम टी.बी. के रोगी हो और कैन्सरके रोगकी दवा करो तो reaction आये बिना नहीं रहेगा. जिस रोगीके लिये जो दवाई हो वही तो लेनी चाहिये उल्टीसीधी नहीं. इसी तरह जो भाव तुममें प्रबल है उसीके अनुसार मार्गमें तुम प्रवृत्त होवो तो तुम्हें चिंता नहीं होगी. भक्तिमार्ग अच्छा है इसलिये भक्तिमार्ग पर प्रवृत्त हो जाओ ऐसा कोई कहे तो उसके

समान ठग कोई नहीं है. कोई मार्ग अच्छा नहीं एवं कोई मार्ग खराब नहीं. तुम किस मार्गके अधिकारी हो? बस यह बात करो. तुममें कौनसा भाव प्रबल है उसकी बात करो. उससे निर्धारण होगा. ऐसे ही तुम अनुमान नहीं लगा सकते कि कौनसा मार्ग अच्छा है व कौनसा बुरा है. इसलिये जब तक तुम तुम्हारे बीज भावका विवेचन नहीं करते तबतक भक्तिमार्ग या किसी भी मार्गपर प्रवृत्त नही होना चाहिये. इतने दिनोंसे मैं तुम्हें समझा रहा हूं कि सेवा हमारे यहांका मुख्य कर्तव्य है. लेकिन सेवाकी मैं इतनी तारीफ करता हूं इस कारण प्रत्येकको सेवा करनी ऐसा नहीं है. जिसके अन्दर कर्तापनेका या दृष्टापनेका भाव प्रबल होगा वह स्वस्थतया सेवा नहीं कर सकता.

एक भाईने मुझसे पूछा कि हम तो पहलेसे ही ऐसे मनोरथ करते आ रहे हैं और हमें आनन्द आता है उसका क्या! आनन्द आता है यह बात तो सच है लेकिन तुम यह तो भूल गये न कि तुमको देखनेका आनन्द आता है या भगवानका मजा लेनेका भजनानंद आता है? जिस तरह यह भाई प्रवचनके आयोजक हैं उन्हें मैंने कहा कि तुम सुनो नहीं, व्यवस्था संभालो और मेरे लिये समयसे टैक्सी ले आना व छोड़ आना. तो जो आयोजक है उसे कर्तापनेका आनन्द आना चाहिये भोक्तापनेका नहीं. आयोजक ही यदि सुनने बैठ जायेंगे तो व्यवस्था कौन सम्भालेगा? घरमें रसोई बनानेवाला बनाते बनाते खाने बैठ जाये तो? पंचायत हो जायगी. उसे तो जीभपर थोड़ा काबू रखकर रसोई बनानी चाहिये और जो भोक्ता हो उनको खिलाना

चाहिये. जो वास्तवमें रसोई बनानेके शौकीन होते हैं उन्हें बनाकर खिलानेमें जितना आनन्द आता है उतना खुद खानेमें नहीं. यह तो अनुभव की बात है और खाने वालेको रसोई बनानेको कह दें तो खानेकी इच्छा ही खत्म हो जायेगी. उसे लगता है कि चने भटूरे ही अच्छे. रसोई बनानेकी झंझटमें भगवान न डाले तो अच्छा. क्योंकि इसमें भोक्तापनेका भाव है कर्तापनेका नही. इसलिये जो भाव होगा उसी भावसे आनन्द आवेगा.

मैं छोटा था तब गद्देपर सोता था. खवास रोज गद्दा बिछा देता और मैं सो जाता. एक बार खवास गांव चला गया तो इतना मोटा गद्दा मुझसे उठे ही नहीं तो बिछाऊं कैसे? मैंने सोचा ऐसे गद्देपर सोनेसे क्या फायदा जिसका मैं बिछा भी नहीं सकता? इसलिये मैंने गद्दे पर सोना ही छोड़ दिया. यह निश्चय किया कि छोटा जिसे बिछा सकूं ऐसे आसनको ही बिछाकर सोना चाहिये. कुछ सालोंमें उसपर सोनेकी ऐसी आदत पड़ गई कि यदि अब गद्देपर सोऊं और रातको नींद उड़ जाती है और उस आसनकी याद आती है. आसनपर जितनी अच्छी नींद आती है उतनी गद्देपर नहीं. अब विचार करें तो क्या कमी थी? कर्तापनेकी मेरे अंदर कमी थी. भोक्तापने की कमी नहीं थी. जब तक खवास बिछानेवाला था तब तक गद्देपर बहुत अच्छी नींद आती थी. लेकिन जब बात मेरे ऊपर आयी तब पंचायत हो गयी और मैंने गद्दा छोड़ दिया. यदि मेरे अंदर कर्तापनेका भाव प्रबल होता तो खुद गद्दा बिछाकर सोता. ऐसे बहुतसे रसोइये होते हैं जो स्वयं

दस चीज बनाकर स्वयं ही खा लेते हैं. परिवारमें कोई न हो तो भी सुबहसे शाम तक दुकानपर बैठ कर पैसा कमाते हैं कुछ लोग. अरे लेकिन किसकेलिये? न कोई आगे है न कोई पीछे. लेकिन कर्तापनेका भाव प्रबल है. इसलिये धंधा करते रहते हैं. और फिर ब्लैकका भी कमाते हैं. हम कहें आगे पीछे कोई नहीं है कमसे कम काला सफैद तो मत करो भाई? लेकिन यह नहीं छोड़ सकते क्योंकि कर्ता होनेका भाव प्रबल है. इस प्रकार अपने अपने भावके अनुसार कृति होती है. सभीकी कृति एक समान नहीं होती. हमारे भीतर रहे हुये भावको जब तक न पहचान लें तब तक किसी मार्ग पर प्रवृत नहीं होना चाहिये. भगवान आज्ञा करते हैं कि **यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रित मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश:। न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त ऐव च कर्मणि**. मुझे कुछ प्राप्त करना नहीं है. मुझे न मिला हो ऐसा कुछ नहीं, किसलिये? कारण कि प्रभु सत्य संकल्प हैं. सत्य संकल्पका अर्थ क्या कि उनके संकल्पसे वस्तु प्रकट हो सकती है. क्रियाकी प्रभुको आवश्यकता नहीं होती. यह कोई हमारे हिन्दुधर्मका ही मत हो ऐसा नहीं है. ईसाई भी ऐसा मानते हैं. मुसलमान भी ऐसा मानते हैं कि जैसे राज मिस्त्री ईंटे चुनकर मकान बनाता है ऐसे भगवानने नहीं बनाई यह सृष्टि. संकल्प किया कि सृष्टि हो और हो गयी सृष्टि प्रकट. Let there be light and there was light, let there be man and there was man. प्रभुके संकल्पमें यह शक्ति है और जिसके संकल्पसे वस्तु

प्रकट होती है उसे कार्य करनेकी क्या जरूरत है? कुछ नहीं. फिर भी भगवान कहते हैं कि मैं कुछ कार्य करता हूं, किस लिये? इसलिये कि मैं कर्म नहीं करता ऐसा कोई जो जान जाये तो कितनेही दृष्टा ऐसे हैं पट्ठे कि फिर कर्म करें ही नहीं ! अहं ब्रह्मास्मि ! भगवान ही जब कर्म नहीं करते तो हम क्यों करें? लेकिन भगवान कहते हैं कि मैंने तुझे ऐसा बनाया ही नहीं कि तू कर्म किये बिना रह सके. थाड़ा अंतर डाल सकता है, घर न चलाकर आश्रम चला सकता है, बेटा बेटी न पाल कर चेले पाल सकता है लेकिन कुछ न कुछ तो तुझे करना ही पड़ेगा. जब कुछ न कुछ करना ही है तो जो करना चाहिये वही करो. जो देखना चाहिये वही देखो और जो भोगना चाहिये वही भोगो. बिहारम हमारे दादाजीके एक परिचित रहते थे. दादाजीने मुझसे कहा **कलकत्ता जा रहे हो तो उनसे भी मिलते आना.** मैं अचानक मिलने चला गया. मुझे देखकर उन्हें आनन्द आ गया कि **आ-हा, दीक्षितजी महाराजके लालजी आये**. तो दूध लेकर आये मेरे लिये. अब मैं बम्बईका पानी मिला दूध पीनेवाला, वहांका दूध पी सकता था भला? उन्होंने तो बड़ा लोटा भरकर दूध दे दिया. मैंने कहा **मैं तो नहीं पी सकता इतना**. वह कहने लगे **जवान हो या बूढ़े**. मैंने कहा **जवान**. तो कहने लगे **तो पी जाओ फिर** पी गया तो उनको फिर जोश आ गया. कहने लगे कि एक और लो. मैंने सोचा **मर गये**. फिर मैंने कहा **अब नहीं पीया जायगा**. तो कड़ककर बोले **पीऽयो**. मैंने कहा **पी जाता हूं फिर**. असलमें वहां टाइगर सैन्चुरी है उसमें शेर देखने मैं

वहां गया था. लेकिन सारी रात एक भी शेर नहीं दिखाई दिया और पेटमें ही शेर प्रकट हो गया. इसलिये भोक्ताके भावका, कर्ताके भावका, और दृष्टाके भावका हममें कितना प्रमाण है यह समझना चाहिये तो चिंता नहीं होगी. मुझे सारी रात यह चिंता रही कि जो बाहर जाऊं तो शेर न पकड़ ले और भीतर इतने जबरदस्त शेर थे. सारी रात मुझे समझमें नहीं आया कि क्या करूं? किसी तरह भी नींद नहीं आई. इसलिये बेमतलब भोक्ता, कर्ता या दृष्टा नहीं होना चाहिये. शास्त्रसे समझो कि तुम्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, क्या देखना चाहिये और क्या नहीं देखना चाहिये. वह ही देखो और करो. प्रभुकी नकल व्यर्थ में नहीं करनी चाहिये कि भगवान अकर्ता हैं, अभोक्ता हैं, शुद्ध चिन्मार्ग दृष्टा हैं. अरे लेकिन शुद्ध चिन्मार्ग दृष्टा तुम कैसे हो सकते हो? ऐसा दृष्टा होनेके प्रयासमें कोई आड़ाटेड़ा काम करोगे. इससे तो जो करनेका काम है वह ही करो न? इसलिये भगवान शास्त्रको बीचमें लाते हैं और कहते हैं कि तुम अपनी सहजताको पहचानो. उसको ध्यानमें रखकर शास्त्रने जो उपदेश दिये हैं उनको आचरणमें लाओ तो परिणाम आवेंगे.

नवरत्नकी रचनाके मूलमें गोबिन्ददुबेकी ऐसी ही कोई समस्या थी. उनको श्रीमहाप्रभुजीका बहुत परिचय नहीं था. लेकिन उन्हें ऐसा लगा कि यह कोई विद्वान हैं. इनसे कुछ पढ़ना चाहिये. इसलिये इस भावसे महाप्रभुजीके पास आये और कहा कि मुझे आपसे संस्कृत पढ़नी है. महाप्रभुजी तो दयालु हैं. आपने कहा

अच्छा मैं तुझे संस्कृत पढ़ाऊंगा. पढ़नेकी उस समयकी प्रचलित पद्धतिके अनुसार गोबिन्ददुबे व्याकरणकी पुस्तक लेकर आये. भाषा जानते नहीं और व्याकरणकी पुस्तक लेकर आये. हम स्कूलमें अंग्रेजीका व्याकरण सीख लेते हैं लेकिन बोलना तो नहीं आता. इसी प्रकार आदमी हों नहीं और टाउन प्लानिंगकी बात करे, ऐसा हो जाता है. महाप्रभुजीने कहा **नहीं, मैं व्याकरणसे तुझे संस्कृत नहीं पढ़ाऊंगा. मैं तुझे गीता सिखाऊंगा. और ऐसी सिखाऊंगा कि तुझे संस्कृत भी आ जायेगी साथ साथ सिद्धान्त भी आ जावेंगे**. और वास्तवमें ऐसा ही सिखाया कि संस्कृत आगयी और गीताके सिद्धान्त भी जान गये और अच्छे पंडित बने. बादमें उन्होंने कहा **इतनी कृपा करो है तो शिष्य बनाकर ब्रह्म-संबंध भी दे दो, सेवा पधरा दो**. महाप्रभुजीने उनको ब्रह्मसंबंध दिया ओर सेवा पधरा दी. बादमें वह अपने गांव जाकर सेवा करने लगे. वार्ताकार बहुत सुंदर बात कहते हैं कि **गोबिन्द दुबे घरमें सेवा करें परन्तु मनमें बहुत विग्रह रहे, सो सेवामें चित्त लागे नाहीं. तब गोबिन्द दुबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखे. महाराज मेरे मनमें बहुत विग्रह रहत है. भगवत सेवामें चित्त लागे नाहीं सो मैं कहा करूं?** अर्थात सेवा करें बहुत प्रयास करनेपर भी प्रभुमें चित्त लगे नहीं इसलिये महाप्रभुजीको चिट्ठी लिखी कि मैं क्या करूं? **सो पत्र श्रीआचार्यजी पास आयो. सो आप बांचकर नवरत्नग्रंथ करि लिख पठाये और लिखे यह नवरत्नग्रंथके पाठ कियेते तेरे मनको विग्रह मिट जायगो. सो पत्र श्रीआचार्यजीको गोबिन्ददुबेके पास**

आयो. तब गोबिन्ददुबे प्रसन्न होयकें नवरत्नग्रंथको पाठ करन लागे. सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपा तें मनकी विग्रहता चिंता सब मिट गई. मन भगवत् सेवा करवे में लागे.

प्राचीन महानुभावोंकी वाणी बहुत गंभीर वाणी है. यह वार्ता पढ़नेके साथ ही सभीको लगा कि यह नवरत्न कोई ऐसा मंत्र है कि जिसका पाठ करनेसे चिंता दूर हो जाती है. इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि धंधेमें नुकसान हो तो नवरत्नका पाठ करो. लड़कीको वर न मिलता हो तो नवरत्नका पाठ करो. मकानमें किरायेदार घुस आये हों तो नवरत्नका पाठ करो. मकान मालिक नोटिस देता हो तो नवरत्नका पाठ करो. कहां कहां नवरत्नका पाठ करोगे? इसका मूल कारण यह ह कि हम इसकी भाषा नहीं समझे. वार्ताकार इतना ही कहते हैं कि नवरत्नका पाठ करके उनकी चिंता दूर हो गई. लेकिन उसका अर्थ यह नहीं कि गुड़गुड़ गुड़गुड़ पाठ करनेसे चिंता दूर हुयी. श्रीहरिरायजीने इसीलिये वार्तापर भाव प्रकाश लिखा है और उसे पढ़ोगे तो तुम्हें अंदरका रहस्य समझमें आयेगा. पाठ करनेसे चिंता दूर नहीं हुयी बल्कि उसे जीवनमें उतारनेसे चिंता दूर हुयी.

श्रीहरिरायजी सुंदर समझाते हैं **सो गोबिन्ददुबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोबिन्ददुबे जीव तो द्वारिकालीला संबंधी और सेवा भावना ब्रजकी करें** किसलिये चिंता हुई कि उनके हृदयमें जो भगवानके भोक्तापनेका भाव था वह द्वारिकालीलाका आनन्द लेनेका था वात्सल्यभाव नहीं

था प्रभुके प्रति. प्रभुको बालक जैसे मानना, बाललीलाका भाव नहीं था. वात्सल्यभाव हो तो मैं प्रभुकी सेवा कर सकता हूं. मेरे अंदर वात्सल्य भाव हो ही नहीं और मैं जबरदस्ती सेवा करूं तो परेशानी हुए बिना रहे नहीं? देखो सेवाकी अपनी प्रक्रिया कितनी नाजुक, कोमल, छुईमुई जैसी है कि अंदर भाव है द्वारिकाधीशके स्वरूप का -जो राजलीला स्वरूप है- तो सेवा स्वस्थतया नहीं कर सकते. कदाचित स्वामीका भाव होगा गोबिन्ददुबेका, यह द्वारिकाधीश और मैं इनका सेवक. अब सेवकके भावसे स्वामी मानकरके सेवा करें तो उनका मन लगे सेवामें, पर जबरदस्ती करके यह तो बालक है, पालना झुलाओ, तो मन लगेगा ही नहीं. इसीसे यदि वचनामृत बांचें तो आता है कि कितने ही गोस्वामीबालक ऐसे हुये हैं कि वह पुरुष थे, पर उनके हृदयमें मातृत्वभाव इतना प्रबल था कि ठाकुरजीको पालना झुलाते हुये यशोदाजी जैसा आनंद लेते थे. हममें भाव हो नहीं और पालना झुलायें तो क्या मजा आयेगा? मैंने देखा है इसीसे कहता हूं, देखे बिना नहीं कहता कि झुलारहे हैं पलना, और उबासी लेरहे हैं! अंदर मातृत्व है ही नहीं तो पलना झुलानेमें मजा किस प्रकार आयेगा? नियम है पलना झुलानेका इसीसे झुला रहे हैं **भगवान आप तो झूल रहे हो न, हमारा क्या गया?**

रातमें अपना बच्चा जाग जावे तो मां थपथपाकर सुलाती है. उसमें निश्चयसे मातृत्व भाव होता है. पर किसी आया या बाईके पास बालकको छोड़ दो तो बालक रातमें रोये तो थोड़ी देर तो आया धीरे धीरे थपथपायेगी, बादमें तो धड़ाधड़ ही थपथपायेगी और

बालक चोट लगनेसे और अधिक रोयेगा. तो भावके भेदसे ऐसा घोटाला हो जाता है. बालक इसे समझ नहीं सकता कि मैंने क्या गड़बड़ की कि मुझे मार पड़रही है? और आया भी नहीं समझ सकती कि रातमें बालक क्यों रोता है? मां सेठानी हो तो बालकको आयाके पास छोड़ ही देती है तो बालककी तो यही गति होगी. ऐसे ही घोटालोंके कारण चिंता होती रहती है.

इसका एक ही उपाय है कि ऐसी नौकरी करनी ही नहीं कि जो हमें माफिक न आती हो. सरकार vocational guidance की संस्थाऐं खोलती है, जो तुम्हारी परीक्षा लेकर तुम्हें सलाह देती है कि तुम्हें कौनसी लाइन माफिक आयेगी. सब साइंस लें तो हम भी साइंस लेंलें, लेकिन हिसाबमें अक्ल चलती नहीं हो तो साइंस किसप्रकार पढ़ सकते हैं? इसलिये हमको अपनी सामर्थ्य समझनी चाहिये कि हमारे भीतर किस प्रकारका भाव है. स्वभाव और सामर्थ्यके अनुसार यदि मैं सेवाका क्रम निश्चित करूं तो कभी मुझे चिंता होगी ही नहीं. लेकिन फलाना आदमी यह करता है इसलिये हम भो करने लगें तो चिंता होगी ही. क्योंकि अपना स्वयंका भाव यह न हो तो उस भावसे ठाकुरजीके साथ व्यवहार नहीं किया जा सकता. इसलिये वार्तामें आता है कि ठाकुरजीकी बालभावसे सेवा करते थे तो ठाकुरजीने कहा कि बिल्लीसे डर लगता है तो कहने लगे **राक्षस मारे तो डर नही लगा!**

आज इस तरह भावका पूरा तमाशा हो गया है. एक तरफ तो तुम बालक मानकर सेवा करते हो और दूसरी तरफ उनका प्रदर्शन, तमाशा करते हो. अपने

बच्चेका प्रदर्शन करते हो क्या तुम गांवमें? तुम कहते हो कि हमारे बच्चेको सभी बच्चोंके साथ खेलनेमें मजा आता है इसलिये हमने सबको इकट्ठा किया है तो कोई खराबी नहीं है. लेकिन गांव नहीं होना चाहिये फिर. एक बराबर होने चाहियें. फिर ऐसा नहीं कर सकते कि सखड़ीके ठाकुरजीका एक ग्रुप अलग कर दो अनसखड़ी आरोगनेवाले दूसरे ग्रुपमें खेलेंगे. ऐसा भेद फिर तुम्हें नहीं करना चाहिये. मिश्री आरोगनेवाले ठाकुरजी बाहर चपरासीकी तरह अलग ग्रुपमें खेलेंगे. ऐसा भेद तुम नहीं कर सकते. बच्चा ऐसा भेद मानेगा क्या? एक भाईने प्रश्न किया कि हम क्यों नहीं सब ठाकुरजीको इकट्ठा करके खिला सकते? निश्चित ही खिला सकते हो लेकिन ऐसा जो बालभाव तुम्हारा सुदृढ़ हो तुम्हारे हृदयमें यह भाव स्पष्ट हो तो फिर तुम बालक बालकके बीच भेद नहीं कर सकते कि तू इसके साथ खेलेगा, उसके साथ नहीं. बालक कभी भी यह नहीं देखता कि कौन अपने घरसे केसरका मालपूआ लाया है और कौन खाली चला आया है. बालक कोई चनेके आधारपर खेलनेका ग्रुप नहीं बनाता. बालक तो जिसके साथ अच्छा लगेगा उसके साथ खेलेगा. बालकका भाव निश्छल भाव है, वह भेद नहीं करता. भेद हम करते हैं कि यह सखड़ीके ठाकुरजी हैं यह अनसखड़ीके ठाकुरजी हैं यह तपेलीके ठाकुरजी हैं यह निधिके हैं और यह अनिधिके. बालक क्या ऐसा भेद कर सकता है भला? जो तुम्हारे हृदयमें स्पष्ट बालभाव हो तो तुम ऐसे भेद नहीं कर सकते. किसने किया है यह भेद? तुम यदि भेद कर रहे हो तो बात साफ है

कि अभी तुम्हारे हृदयमें सुदृढ़बाल भाव नहीं है. जब यह बालभाव ही नहीं तो तुमको ठाकुरजीका मेला करके तमाशा करनेका अधिकार नहीं.

जिसके हृदयमें स्पष्ट बालभाव हो उसे ही अधिकार है. उसे मुश्किल नहीं आयेगी. लेकिन सखड़ी आरोगनेके कारण ठाकुरजीका वोल्टेज जिसे अधिक लगता हो वह ही ऐसा तमाशा कर सकता है. किसी दिन बच्चेको खेलनेसे रोक सकते हो भला? वह स्कूल जायगा तो जिसके साथ अच्छा लगेगा खेलेगा. वह यह नहीं देखेगा कि वह हिन्दू है मुसलमान है भंगी है या ब्राह्मण है. बालकको यह भेद समझमें नहीं आता. इसीलिये तो मोहना भंगीके साथ श्रीनाथजी खेलते थे. उनको यदि भेद समझमें आता तो यह बाल स्वरूप ही नहीं कहलाते. इसलिये जो तुम्हारा बालभाव इतना स्पष्ट न हो तो तुम ऐसे भेद नहीं कर सकते और जब तुम ऐसे भेद कर रहे हो तो समझ लो कि **न तू माशूकको पहचान पाया और न आशिक ही बन पाया. मुद्दई तू इश्करा नालायकी**. तुम बालभाव करनेके लायकही नहीं और जब तुम लायक ही नहीं तो घरमें बैठो. शांतिसे एकांतमें सेवा करो. तुम्हारे बेमतलब बनावटी भोक्तापनेको उकसाओ नहीं. यदि प्रभुके बालभावका आनन्द लेंनेकेलिये तुम पूरी तरहसे तैयार नहीं तो उनका प्रदर्शन न करो. यदि ऐसा तमाशा करोगे तो जो थोड़ी बहुत संभावना तुम्हारे भीतर बालभाव विकसित होनेकी होगी वह भी नष्ट हो जायगी. मुरझा जायगी. ऐसे कठोर भेदोंको बालभाव कभी सहन नहीं कर सकता. फिर तो मर्यादामें ही रहो.

मुझे दफ्तर जाना है तो दफ्तरकी जो कुछ मर्यादा है वह मुझे जाननी ही होगी. यदि मुझे स्कूलमें जाना है तो स्कूलकी यूनीफार्म मुझे पहननी ही होगी. धोती उपरना नहीं चलेगा. हम कहें कि **क्या यूनीफार्म पहननेसे विद्या आ जायेगी?** तो यूनीफार्म पहननेसे विद्या नहीं आने वाली. विद्या तो दिमाग होगा तो ही आयेगी, घरमें ही क्यों नहीं रहते? लेकिन स्कूलमें आये हो तो स्कूलके नियम जानने ही होंग. साक्षात परमात्मा भी सांदीपनी मुनिके आश्रममें जावे तो लकड़ी काटने जाना ही पड़ेगा क्योंकि विद्यार्थी बना है. सांदीपनीके आश्रममें उनका ऐश्वर्य नहीं चलेगा. परमात्मा होगा वैकुण्ठमें. आश्रममें तो गुरुके चरण चांपने होंगे. क्योंकि आश्रममें विद्यार्थी ही होते हैं. वह परमात्मा हो या जीवात्मा. इस मर्यादाको नहीं समझेंगे तो तमाशा हुवे बिना रहेगा नहीं. तुम आश्रममें आजाओ और तुम्हें गुरु लकड़ी काटनेको कहे और तुम कहो कि **हम परमात्मा हैं, साधारण मनुष्य नहीं** तो गुरु क्या कहेगा? वह तो यही कहेगा कि **परमात्मा हो तो पढ़ने क्यो आये भाई? वैकुण्ठमें ही बिराजना था न. लेकिन यहां आये हो तो विद्यार्थीकी मर्यादा तुम्हें जाननी ही होगी**. इसलिये चाहे जगत पिता हो हम तो उनको नंदग्रहमें पलना ही झुलाते हैं. **ऐसो पलना झूलत ललना हुलसी मात झुलावे हो**. किसलिये झुलाते हैं? क्योंकि हम जगतपिताको नहीं अपने बालकको झुलाते हैं. बालक बनकर आवे तो पलना तो झूलना ही होगा. फिर किस तरह **ना** कह सकता है वह? इसलिये उन

सभी मर्यादाओंको यदि हमें निभाना नहीं आता तो हम मार्गका अनुसरण नहीं कर सकते.

यह निश्चय करो कि तुम मार्गपर स्वभावसे चलरहे हो या सामर्थ्यसे? एक बात करो तो मुश्किल नहीं होगी. गुजरातीमें बात करनी हो तो गुजरातीमें करो, हिन्दीमें करनी हो तो हिन्दीमें करो, लेकिन एक वाक्य गुजरातीका एक हिन्दीका तीसरा संस्कृतका ऐसा नहीं करो. बोलनेकी एक मर्यादा है. यदि मर्यादामें बोला जाये तो बात समझमें आयेगी नहीं तो सब उल्टासीधा हो जायेगा. उसी प्रकार निश्चित करो कि तुमको भावकी भाषा अपनानी है या मर्यादाकी. विधिकी भाषा अपनानी है या विधि उल्लंघनकी. **निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधि को निषेध**. शास्त्र कहता है निस्त्रैगुण्य तो बनो. तुम निस्त्रैगुण्य तो बने नहों और कहते हो कि हम विधि निषेधका बंधन नहीं पालेंगे तो नहीं चलेगा. तुम अपनेको ठग रहे हो. छलावा कर रहे हो. यदि तुम सचमुच साधनाके पथ पर हो तो तुमको विधि निषेधके बंधन पालने ही पड़ेगें. विधि निषेधका उल्लंघन तभी हो सकता है जब तुम निस्त्रैगुण्य बन जाओ.

इसी तरह भक्तिमार्गके जो बंधन हैं जैसे कि हमें अपने घरमें ही गुप्तरीतिसे सेवा करनी चाहिये इत्यादि, वह उनकेलिये हैं जिनकी भक्ति प्रेम, आसक्ति, व्यसन रूपमें खिली न हो. तुमको व्यसन दशा सिद्ध हो जावे, दैहिक कर्मोंकी स्फूर्ति न रहे, मानसी सिद्ध हो जाय, लौकिक विषयोंमें ममता न रह जावे, सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाये, आसकरण राजाकी तरह तुम्हें भीतर और बाहरके जगतका भेद अनुभूत न हो तो फिर तुम भक्ति

गांवमें भी करो तो भी कोई दिक्कत नहीं आयेगी. भगवान भी इसका बुरा नहीं मानते. बालक नंगा हो तो सुंदर लगे. लेकिन बड़े नंगे फिरें तो? बुरें दीखेंगे. **देख्यो री हरि नंगमनंगा** गानेमें मजा आता है लेकिन **देख्यो री विष्णु नंगमनंगा** गानेमें शर्म आयेगी. शुकदेवजी निस्त्रैगुण्य हो गये तो अवधूत दशामें रहे तो भी मुश्किल नहीं आई लेकिन जब तक तुम ऐसे न हो जाओ तब तक तो मर्यादा पालनी ही पड़ेगी, भक्तिमार्गके विधि निषेधोंको पालना ही पड़ेगा. जब तुम गलत तरीकेसे भगवानका तमाशा करते हो तो तुम चिंता बढ़ा रहे हो. भक्ति जैसी सुंदर साधनाका तुम तमाशा करोगे तो दूसरी कौनसी साधना तुम्हारे काम आयेगी? सरलमें सरल, सहजमें सहज, सीधी सीधी जो साधना है उसे ही तुम नहीं साध सकते तो फिर तुमसे ज्ञान भी नहीं सधेगा, कर्म भी नहीं सध सकता. तुमसे कुछ भी नहीं सध सकता. नाकारा आदमी बन जाओगे साहब. जो इतना सरल सीधा मार्ग श्रीमहाप्रभुजीने दिया उसकी गरिमा जानो, dignity जानो. गुलाबकी पंखडियोंकी कोई खींचातानी होती है? तुम्हारे हाथमें डंडी ही आवेगी पत्ती नहीं.

यही बात समझानेके लिये बाइबलमें सोलोमन राजाकी कथा है. एक बच्चेकेलिये दो माताओंने दावा किया कि वह उनका बच्चा है. अब निर्णय किस प्रकार किया जाय ? सोलोमन न्याय प्रिय था. उसने कहा बच्चेके दो टुकड़े करदो तलवारसे. दोनों मांओंको आधा आधा भाग दे दो. सच्ची मांने तुरत कहा कि ऐसा मत करो. बच्चा दूसरीको ही देदो क्योंकि मेरे

अधिकारके कारण मेरा बच्चा ही कट जाये यह मुझे अच्छा नहीं लगता. जो गलत दावेदार थी उसने कहा **आधा तो आधा मुझे तो मेरा बालक चाहिय**. मां ऐसा किसी भी दिन नहीं कह सकती. इसलिये सोलोमनने तुरत निर्णय किया कि यह सच्ची मां नहीं है. इसी तरह भक्तिके भावको हम काट नहीं सकते. भक्तिका भाव कटता हो तब हम कहें कि आधा भाग हम ले लेंगे तो निश्चित समझो कि तुम भक्तिकी मां नहीं. भक्ति तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न नहीं हो सकती. जो भक्ति कर सकता हो उसे सौंपदो. वह भक्ति करेगा तो प्रभु प्रसन्न होंगे. लेकिन तुम ऐसा तमाशा करोगे तो प्रभुको परिश्रम होगा. अतएव सिद्धान्तको समझो. मैं जोरसे बोलता हूं इसलिये प्रश्न पूछना बद न कर दो.

एक भाईने लिखा कि हम बालकोंकी आज्ञासे करते हैं. बालकोंकी आज्ञानुसार ही करना चाहिये, इसको मैं मना नहीं करता न कदापि निषेध करता हूं; पर एक बात तुम निश्चित समझलो कि हरेक बालककी आज्ञा ली नहीं जा सकती. अपने गुरुकी ही आज्ञा ली जा सकती है. महाप्रभुजीकी स्पष्ट आज्ञा है कि **सेवा कृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया** सेवा गुरु आज्ञाके अनुसार ही करनी चाहिये और सेवाका नियम तोड़ना चाहिये हरिकी इच्छासे. हरि साक्षात तुम्हें आज्ञा नहीं करे तब तक सेवाका नियम तोड़ा नहीं जा सकता. इसलिये तुम्हारे गुरु जिन्होंने तुम्हें ब्रह्मसबंध दिया है और तुम्हारे माथे पुष्टि करके ठाकुरजी पधरायें हैं, वह जैसी आज्ञा करते हों वह तुम्हें करना चाहिये. इसमें मैं ना नहीं करता क्योंकि फिर जबावदारी तुम्हारी नहीं

है, गुरुकी है. पर तुम्हारे गुरुकी आज्ञा नहीं है और अन्य किसी बालककी आज्ञा तुम्हारेलिये मान्य नहीं है. गुरु जो वैसी आज्ञा देते हों तो गुरुसे मैं चर्चा कर लूंगा. मुझे तुम्हारे साथ चर्चा करनेकी इस विषयमें कोई आवश्यकता नहीं लगती. उनके साथ चर्चा करनेको मैं तैयार हूं. तुम्हें तो मैं इतना ही कहूंगा कि तुम्हारे गुरु जैसे तुम्हें सेवा करनेका आदेश दें वैसा ही करो. पर हरेक बालकको गुरु नहीं माना जा सकता. जिसने ब्रह्मसंबंध दिया और ठाकुरजी पुष्ट कराये वह बालक ही गुरु है.

आज ऐसा हो गया है कि एक बालकसे ब्रह्मसंबंध लिया दूसरेसे पुष्ट कराये, तीसरेसे सेवाकी आज्ञा ली. अगर वह बालक चुस्त निकलें और आज्ञा न देते हों ता चौथे बालकसे विनती करदी कि इसमें थोड़ी छूटछाट दे दो न ! आज सभी ऐसी छूटछाटकी आज्ञा लेने आते हैं, करनेकी आज्ञा लेने कौन आता है? जो बालक सबसे अधिक छूटछाट देता हो वह सबसे अच्छा! ठाकुरजीका तमाशा करनेकी छूट, होटलका लेकर धरनेकी छूट. हम तो सभी बालक ही हैं, छूट न दें तो बालक कैसे कहलावें? न दें तो थोड़ा डरा दो कि तुम्हारे विचार अब थोड़े पुराने लगते हैं, इसलिये बेचारे आज्ञा न देते हों तो घबरा कर आज्ञा देदें. हरेक बालकसे आज्ञा नहीं ली जा सकती. अपने गुरुसे ही आज्ञा लेंनेकी पद्धति रखो मनमें, गुरु आज्ञा दें वही करो. गुरु आज्ञाका उल्लघंन नहीं किया जा सकता हमसे. श्रीमहाप्रभुजीने संविधान दिया है कि **सेवाकृर्तिगुरोराज्ञा** अर्थात् तुम यह न समझ लेना कि

तुम्हारे गुरुसे तुम्हें छूट दिलानेकेलिये मैं इस तमाशेको न करनेकी बात कर रहा हूं. मैं तुमसे महाप्रभुजीके सिद्धांतकी बात कर रहा हूं. तुम्हें तुम्हारे गुरु जो आज्ञा देते हों उस प्रकार करो, दूसरोंका अनुकरण मत करो. हरि साक्षात आज्ञा करें कि ऐसे नहीं ऐसे करो तो फिर गुरुकी आज्ञा तोड़ सकते हो ऐसा श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं.

संप्रदायका कोई भी बालक श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे अन्यथा आज्ञा दे ही नहीं सकते, क्योंकि बालक हरि नहीं हैं, महाप्रभुजीके बालक ही हैं और श्रीमहाप्रभुजीके बालक रूपसे आज्ञा दें तो ही उनका गुरुत्व है. कोई बालक तुम्हें ईसामसीह या बुद्धको भजनेकी बात या ऐसी ही कोई अगडंबगडं आज्ञा दे दें तो यह बाललीला है, गुरु आज्ञा नहीं. पर वैसी बाललीला न करते हों तो तुम्हारे गुरु जैसी आज्ञा दें उसी प्रकार करो, उसकेलिये वह ही जबाबदार हैं, तुम नहीं. पर मन भावे उस बालकसे आज्ञा लेकर सेवा नहींकी जा सकती. भाष्यमें श्रीपुरुषोत्तमजीने आज्ञा लेनेका स्पष्ट क्रम समझाया है कि **गुर्वभावे तत्पुत्रः, तदभावे तत्पत्नी, तदभावे तत्कुलम्**. जो अपने गुरु हैं वह न हों तो उनके पुत्रसे आज्ञा लेनी, वह न हों तो फिर उनकी पत्नीसे आज्ञा लेनी और वह भी न मिलें तो उनके कुलके किसी बालकसे आज्ञा ली जानी चाहिये. एक बालकसे ब्रह्मसंबंध लो और दूसरेसे छूट लो तो उसमें घोर अव्यवस्था हो जाती है और फिर हम संप्रदायके तरीकेसे जीने लायक नहीं रह जाते.

संप्रदायका अर्थ है समाज, संप्रदायका अर्थ बाड़ा नहीं है. यह तो आधुनिक बाड़ावादियोंने संप्रदायका अर्थ बाड़ा

कर दिया है. संप्रदाय एक विरासत है, एक ऐसी विरासत जो जीवित विरासत है और जीवित व्यक्तियाको मिलती है एवं आती पीढ़ियोंको देनेके लिये ही मिलती है, समाप्त करने या उल्टी पुल्टी करनेकेलिये नहीं. वह जीवित व्यक्तियोंसे जीवित व्यक्तियोंको आगे आने वाले जीवित व्यक्तियोंकेलिये मिलती है. उसका नाम है संप्रदाय. उसे अजायबघरमें दिखानेकेलिये नहीं रखा जा सकता. श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त और आजकलकी देश कालकी परिस्थिति दोनोंका विचार करके अनुसरण करना चाहिये, नहीं तो किस प्रकार पता चलेगा कि संप्रदाय है? फिर तो किसीके मनकी तूत हो गयी, संप्रदाय नहीं रहा. महाप्रभुजीके सिद्धान्तसे संगत हो तो गुरु आज्ञा और असंगत हो तो बालक आज्ञा. बालक आज्ञा अर्थात् बालककी बाललीला और गुरु आज्ञा अर्थात महाप्रभुजीके सिद्धान्तसे सम्मत आज्ञा. पर तुम कहो कि मैं किस प्रकार समझूंगा कि कौनसी बालक आज्ञा और कौनसी गुरुआज्ञा? इसलिये संप्रदायकी दृष्टिसे विचार करके समग्रतामें विचार करके हमें यह पद्धति रखनी चाहिये कि जो तुम्हारे गुरु आज्ञा दें वह तुम करो.

मिलिटरीका अर्थ है कमाण्डरके आदेशानुसार चलना. अब उससे जय हो या पराजय. कमाण्डरके आदेशसे विपरीत चलेंगे तो फिर मिलिटरी नहीं रह जायेगी. उसी प्रकार अनुयायियोंका अर्थ है कि गुरुकी आज्ञानुसार चले; और गुरुका यह कर्तव्य है कि जो उनके गुरु हैं, परम गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी, उनकी आज्ञा प्रमाण चलें. ऐसा एक सुमेल सधे तो संप्रदाय कहलावे, नहीं तो मनकी तूत ही है. उसे वसीयत नहीं कहेंगे, वह तो

सट्टेसे मिली हुई आवक कहलायेगी कि जो तुम्हें एकका दस करनेके लालचमें खुद फुंक जायेगी. तुमको कदाचित कानून मालूम हो तो तुम्हें पता होगा कि दादासे विरासतमें मिली मिल्कियतको पिता बिगाड़ता हो तो पुत्र दावा करके उसे बिगाड़नेसे रोक सकता है, क्योंकि दादाकी मिल्कियत पर पौत्रका जन्मसे हक होता है कानूनके अनुसार. उसी प्रकार श्रीमहाप्रभुजी सभी बालकोंक पिता, उनसे मिले ज्ञानको, उपदेशकी विरासतको हम बिगाड़ नहीं सकते. हमें उसे संभालकर अगली पीढीको देना है. अर्थात विरासत बिगड़ जाये, संप्रदाय छिन्नभिन्न हो जाये, सिद्धान्त समाप्त हो जायें उस प्रकारका आदेश हम नहीं दे सकते, हम स्वतन्त्र नहीं हैं. अतः यह सावधानी बालकाको भी रखनी ही पड़ेगी. पर यह विषय तुम्हारा (वैष्णवों) नहीं है इससे तुमको कहनेका भी नहीं है. यह विषय बालकोंका है, आपसका है, तुम्हारा विषय तो इतना है कि 'सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा'.

0000000000000

प्रवचन दिनांक २८.८.१९८४

कल गोविंददुबका प्रसंग विचारते समय वार्तामेंसे थोड़ासा अंश आपको सुनाया था. और उसमें हमने देखा कि **गोविंददुबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविंददुबे जीव तो द्वारिकालीला संबंधी और सेवाभावना ब्रजकी करें सो मन लागे नाहीं. न राजलीलामें दृढ़ता होय न ब्रजलीलामें**. इस प्रकार गोविंददुबेका बीजभाव राजलीलाका था और भावना करें ब्रजलीलाकी. बीजको पोषण मिले वैसी भावना करें तब तो बीज भाव प्रस्फुटित हो. जो सहज है वह बाहर आये स्वभाविक रीतिसे. लेकिन ऐसा न करके, विपरीत भावना करें तो बीज भावको प्रस्फुटित होनेका अवकाश मिलता ही नहीं. इसलिये चित्त कहीं भी चौंटे ही नहीं. चित्त चौंटे नहीं और हम प्रयास करें तो चिंता, उद्वेग हुये बिना रहेगा नहीं. कोई भी प्रयास सेवाका या अन्य हम करें और उसमें चित्त चौंटे तो दु:ख, उद्वेग या चिंता न हो. लेकिन हम प्रयास करें और उसमें चित्त नहीं चौंटे तो व्यग्रता होगी और उद्वेग हुये बिना रहेगा नहीं. इसीलिये कहते हैं कि **न राजलीलामें दृढ़ता होय न ब्रजलीलामें, सो अनेक साधनमें मन दौरे.**

जिस प्रकार यह कहा जाता है दामोदरदासजीकेलिये कि **दमला यह मार्ग तेरेलिये प्रकट कियो है** जितने पुष्टिमार्गीय जीव जिनका आत्मनिवेदन हुवा है, दामोदरदासजी उनके प्रतिनिधि हैं. दामोदरदासजीके बाद सभीका ब्रह्म संबंध हुवा. जिस प्रकार भोग धरते

समय हम कानि धरते हैं कि नंदयशोदाकी, ब्रजभक्तोंकी कानिसे प्रभु आरोगो. श्रीमहाप्रभुजीकी कानिसे आरोगो. उसी प्रकार किसीका ब्रह्मसंबंध होता है तो दामोदरदासजीकी कानिसे होता है ऐसा हम कह सकते हैं. लेकिन किसीको चिंता हो, मन चौंटता न हो तो गोविंद दुबेकी कानिसे श्रीमहाप्रभुजीने नवरत्नका उपदेश दिया है. और यह भाव प्रकाशसे समझो कि आजकी अपनी जो चित्त न चौंटनेकी मनस्थिति है वह और गोविंददुबेकी जो मनस्थिति थी उसमें कितना साम्य है. वह अपने प्रतिनिधि हो सकते हैं कि नहीं? जैसे होमियोपैथीमें कोई भी दवा देनेसे पहले डाक्टर हमसे लक्षण पूछता है **सिर दुखता है? दर्द होता है?** सभी कुछ पूछकर जो लक्षण रोगके लक्षणोंके साथ मेल खाये उस हिसाबसे रोगकी दवा देता है. तो अपना लक्षण और गोविंददुबेके लक्षण मिलाकर देखोगे तो बहुत कुछ पता लगेगा कि स्थिति क्या है. यह लक्षण है कि **न राजलीलामें दृढ़ता होय न ब्रजलीलामें. सो अनेक साधननमें मन दौड़े**. किसी साधनमें मन लगे नहीं अर्थात सभी साधनोंमें मन दौड़े.

तीर्थ करूं अथवा कोई व्रत करूं, कोई जप करूं? इत्यादिमें मन भटके सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु नवरत्नग्रंथ लिख पठाये, **तू चिंता मति करे. चित्तकी उद्वेगता है सो प्रभुकी लीला जान. श्रीठाकुरजीमें ते मन और ठौर जाये सोऊ भगवद् इच्छा मानि चिंता मति करियो**. मन हमारा भटके तो मन तो भटकनेकेलिये ही बना है. मन भटके और फिर हम चिंता करें तो एक तो मन भटक रहा है वह खराबी

और फिर चिंता करें वह दूसरी खराबी. चिंता करनेसे यदि मन ठिकाने आ जाता होता तो भटकता ही क्यों? इसलिये चिंतन करनेसे संभवतया ठिकाने आये लेकिन चिंता करनेसे तो ठिकाने नहीं ही आयेगा. इसीलिये कहा है **श्रीठाकुरजीमें ते मन और ठौर जाये सोऊ भगवद्इच्छा मान चिंता मति करियो. जितनी बने तितनी सेवा करियो**. देखो सेवाकी कितनी प्रधानता है. यह इस भावप्रकाशसे तुम्हें पता चलेगा. ऐसा कहीं भी नहीं कहा कि मन भटकता हो तो सेवा नहीं करनी. और यह भी नहीं कहा **जैसे भी हो मरो या खपो, सेवा करो**. प्राचीन बालकोंकी वाणीमें हमारी परिस्थितिका मूल्यांकन करनेकी कितनी सामर्थ्य थी यह इससे पता चलता है, **जितनी बने तितनी सेवा करियो**. जबरदस्ती **ले महाराज** करके अधिक सेवा करें तो इससे चित्त चौंटेगा नहीं परन्तु अधिक व्यग्र हो जायेगा.

लेकिन हम यह कहें कि चित्त चौंटता नहीं तो सेवा छोड़ दें? इसके लिये तुम्हें कल मैंने बात समझाई थी कि चित्त तो तुम्हारा खानेमें भी नहीं चौंटता, जीनेमें भी नहीं चौंटता, लड़के लड़कीमें नहीं चौंटता, कहीं भी नहीं चौंटता, कभी धंधेमें भी नहीं चौंटता. वहां जाते हैं तो क्लब याद आता है, क्लबमें सप्ताह याद आती है, सप्ताहमें जाते हैं तो घूमनेकी याद आती है. चित्त तो कहीं भी नहीं चौंटता. ऐसी स्थितिमें देहकी गति बढ़ायेगे तो चित्त उससे अधिक वेगवान हो जायेगा, बिल्कुल ही चौंटना बंद हो जायेगा. इसलिये कहीं स्थिर होओ तो चित्त भी स्थिर बने. इस न्यायसे श्रीहरिरायजी विवेचन करते हैं **जितनी बने तितनी सेवा करियो. तब**

गोविंददुबेको मन थिर होय गयो. कितनी सुंदर बात है. यह नवरत्नका पाठ करनेसे नहीं अपितु नवरत्नका जो रहस्य है वह समझकर जितनी बने उतनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार सेवा करनेसे चित्त स्थिर हुवा. हम समझते हैं कि नवरत्नका पाठ करनेसे चित्त स्थिर होता है. लेकिन बगैर समझे अधिक पाठ करनेपर तो चित्त अधिक अस्थिर हो जायेगा. कई लोग ३१ पाठका नियम लेते हैं कोई २७ का. लेकिन २७ करो या १०८ पाठ करो, जितने अधिक पाठ करोगे उतना अधिक मन भटकेगा. पाठ करनेसे निराकरण नहीं होगा. इसको समझो और अमलमें लानेका प्रयास करो. फिर देखो कि चित्त स्थिर होता है कि नहीं. जो बात कहनेमें आ रही है उसे समझे बिना पाठ करोगे तो चित्त अधिक व्यग्र हो जायेगा.

तब गोविंददुबेको मन स्थिर व्है गयो. जहां मन लौकिक वैदिकमें जाय तो भगवद्इच्छा मानें. सेवा करते करते लौकिक विषयोंमें मन जाय तो यह मानना कि भगवान कैसा खेल खेल रहे हैं कि कभी लौकिकमें मनको लगाते हैं, तो कभी वहांसे डंडा मारकर वैदिकमें लगाते हैं. ऐसे खिलाड़ी भगवानके खेलकी भावना करो तो मन भगवानमें चौंट जायेगा. और जो चिंता करने बैठो कि २७ पाठके बाद भी मन लौकिकमें भटक गया तो और अधिक चिंता हो जायेगी. चिंता चिंताको पैदा करती ह. चिंता कभी भी चिंताका निवारण नहीं कर सकती.

मुझे एक बार नींद आनी बंद हो गयी. डाक्टरने मुझे नींदकी गोली दे दी. लेकिन मुझे गोली असर

करेगी कि नहीं यह सोचकर ही गोलीका असर होना बंद हो गया. गोली खाकर बैठकर चिंता करूं कि नींद आयेगी कि नहीं? अब एक गालीका असर ही नहो. डाक्टरने कहा **तुम्हारी विल पावर अधिक है या बीमारी अधिक है. एक काम करो दो गोली खाओ**. अब मुझे लगे कि एक गोलीसे नींद नहीं आयी तो दो गोलियोंसे भी आयेगी कि नहीं ? ऐसी चिंतासे दो गोलियोंसे भी नींद नहीं आयी. पांच खाऊं तब भी सिरमें चक्कर आयें पर नींद नहीं आये. डाक्टरने कहा **ऐसा नहीं हो सकता. पांच गोली खाकर तो आदमी बेहोश होकर गिर जायेगा**. लेकिन मैं क्या करूं ? चक्कर आवें पर नींद नहीं. मुझे लगा कि डाक्टर भी मेरी बात नहीं समझ रहा. डाक्टरको मुझमें और मुझे डाक्टरमें अश्रद्धा हो गई. फिर किसीने कहा कि सारे शरीर पर घीया लगाकर सो जाओ. नींद आयेगी तो आयेगी नहीं आयेगी तो नहीं. मैं निराश होकर पड़ा तो पड़तेके साथ ही नींद आ गयी. निश्चयसे ऐसा ही होता है. गोली लें और चिंता करें कि नींद आयेगी कि नहीं तो गोलीके असरको चिंता मार डालती है. इसी तरह पाठ करनेको जो थोड़ा मन करता हो तो भी **पाठ करता हूं फिर भी मन क्यों नहीं लगता**? इस चिंताके मारे उखड़ जायेगा. ऐसा कहा जाता है **अन्य क्षेत्रे कृतम् पापम्, तीर्थक्षेत्रे विनष्यति. तीर्थक्षेत्रे कृतम् पापम् वज्र लेपायतो भवेत्.** दूसरे क्षत्रमें करे हुवे पाप तीर्थमें जाकर धुल जाते हैं लेकिन तीर्थमें ही पाप करो तो वह वज्र लेपायित हो जाते हैं. इसी तरह भक्ति करते करते चिंता करो तो चिंता वज्र लेपायित हो जाती

है. भक्ति आनंदसे करो तो भक्ति सभी चिंताओंका निवारण करेगी और चिंता नहीं होगी. इसीलिये कहा **मन लौकिक वैदिकमें जाये तो भगवद्इच्छा मानें**. ठाकुरजीकी सेवा करें, पलना झुलानेके कीर्तन करें, पालना झुलायें और मन फिर रणछोड़जीमें जाता हो तो उसे भगवद्इच्छा माने कि प्रभुने मन राजलीलामें लगा दिया है. इस गेंदसे खेलनेमें उनको कैसा आनन्द आता है.

वहांकी लीलामें मग्न रहें, काहे तें? शास्त्रमें, पुराणमें प्रभुके मिलनेके अनेक उपाय बताये गये हैं. वह तो सिर्फ दिशा बताते हैं. यदि शास्त्रके बतानेसे हमें मार्ग समझमें आता होता तो जितने शास्त्र पढ़े पंडित हैं, सब मुक्त हो जायेंगे, लेकिन ऐसा तो हाता नहीं. जिन्होंने शास्त्र पढ़ें हैं वह भी हमारे जैसे ही होते हैं, किताबी कीड़े. मैं तुमको चिंता नहीं करनेका उपदेश दे रहा हूं और घर जाकर मुझे ही चिंता हो कि मैंने जो कहा उसे तुमने समझा या नहीं, बात तो वहीं की वहीं रह गई. इसलिये शास्त्र समझनेसे मुक्ति हो जाती हो या शास्त्र समझनेसे भक्ति हो जाती हो तब तो बात बहुत ही सरल हो जाती. तोतेको शास्त्र पढ़ानेसे तोतेकी भी मुक्ति हो जाती. शास्त्र तो तुमको दिशा बताता है कि **इस तरह इस तरफ**. मार्ग दिखाता है. जिस तरह रास्ते पर बोर्ड लगा हो कि गांव इस तरफ है और दूसरा गांव उस तरफ. तुम बोर्ड ही देखते रहो कि इस तरफ बंबई है और इस तरफ बोरीवली है लेकिन चलो ही नहीं तो पहुंचोगे कैसे? इसी तरह शास्त्र तो बोर्डकी तरह ही है, चलना तो तुम्हें ही पड़ेगा. चलो नहीं और

शास्त्रका पाठ करो कि मलाडसे उत्तर दिशामें जाते हुवे बोरीवली आवेगी और दक्षिण दिशामें बंबई, तो हजार बार पाठ करो तब भी बैठे ही रह जाओगे. और थोड़ा चलकर बस या ट्रेनमें बैठ जाओगे तो पहुंच जाओगे. शास्त्रको समझनेका प्रयास करो. उसकी माला फेरो लेकिन उसमें जो कुछ कहा हो उस पर चलनेका जीनेका प्रयास न करो तो कहांसे पहुंचोगे?

इसलिये शास्त्र नहीं जानें तो आड़ेसीधे रास्तेपर चल देंगे. शास्त्रसे ज्ञान लेना उत्तम है पर ज्ञान लेनेके बाद जो ठहर जाता है, चलता नहीं है, वह कभी भी पहुंच नहीं सकता. इसके लिये ही वेदमें कहा है **चरन्वै मधु विन्दते** जो चलता है उसे मधु मिलता है. बैठे मनुष्यको कहांसे मिलेगा? अतएव शास्त्रको जानकर अपने मार्गको खोजकर उसपर चलो. सच्ची दिशामें चलते रहोगे तो कभी तो पहुंचोगे. सच्ची दिशामें हम चलें यह भी कोई छोटीमोटी बात है क्या? बैठे रहनेसे तो सच्ची दिशामें एक दो कदम चलना ही उत्तम है. पाठ करना अच्छा है पर पाठका ऐसा दुरुपयोग न हो तो ही अच्छा है. तो नवरत्नका २७ नहीं १२७ पाठ करो उसमें कोई दिक्कत नहीं है, पर इस दिशामें एकआध पग चलो भी तो सही. चलोगे तो चिंता निवृत्त होगी और आनंद आवेगा. तुम इस दिशामें एक भी कदम न भरो और पाठ ही करते रहो तो उससे कुछ होना जाना नहीं है.

श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं **जीवकों मिस मात्र मार्ग दिखाये. जो जहांको अधिकारी है वामें वाको मन स्वत: सिद्ध लागत है**. महाप्रभुजीके कीर्तनमें आता है **श्रीवल्लभ रोमरोम रस झलके. जो जो जा रसके**

अधिकारी भरत संभार न छलके. इतने दिनोंसे मैं तुम्हें यह बात ही तो समझा रहा हूं कि जो तुम छलकोगे तो तुम इस रसके अधिकारी नहीं हो, तुम्हारा पात्र इस रसकेलिये नहीं बना है. जो तुम इस रसके अधिकारी होओगे तो रस तुम्हारे बाहर नहीं छलक सकता.

यह मैं इसलिये कह रहा हूं कि एक व्यक्तिने मुझसे प्रश्न किया कि आप सभी ठाकुरजीओंको सर्वजनोंमें पधराकर मनोरथोंको तमाशा या प्रदर्शन कहते हो, पर पहले भी तो बहुतसे प्रसंगोमें आता है कि ऐसे मनोरथ हुवे हैं. ऐसा मनोरथ कांदीवलीमें अमरेलीवाले दादाश्रीने भी किया था एवं अहमदाबादमें श्रीनटवरगोपालजीने भी किया था. यह प्रसंग **वैष्णव परिवार** तथा **सत्संग**में आता है.. वगैरह वगैरह. तो मुख्य बात इसमें समझनेकी यह है कि वार्ता प्रसंगोंमें इससे भी एक बहुत सुंदर बात आती है. चाचा हरिवंशजीको यमुनापार जाना था. साथके भगवदीयको इन्होंने कहा कि **मैं जहां जहां पैर धरूं वहां पैर धरकर तू मेरे पीछे पीछे आजाना. ऐसे यमुना पार उतर गये.** दूसरे भगवदीयने पूछा यह किस प्रकार किया? चाचाजी ने कहा **अष्टाक्षर बोलकर**. दूसरा भगवदीय बोला कि **अष्टाक्षर तो मुझे भी आता है; मैं भी ऐसे ही पार उतरूं.** तो वह डूबने लगा और हल्ला मचाने लगा. पर भाई तुम्हें किसने कहा कि ऐसी मूर्खता करो?

तो भगवदीय कोई काम करे तो कुछ समझविचार कर करते होंगे. श्रीपुरुषोत्तमलालजी दादाश्री निश्चय ही ऐसे एक सेवाभावी बालक हुवे हैं कि जिन्हें हम आदर्श

कह सकते हैं. पर उन्होंने क्या विचार कर इसमें सम्मति दी होगी यह तो उनके हृदयके गांभीर्यको समझे बिना हम उनकी नकल करने बैठ जावें तो चाचाजी तो पार उतर जायेंगे और हम डूब जायेंगे. प्रत्येक वस्तुका अनुकरण नहीं किया जा सकता. इसीसे भागवतमें कहा है कि **ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचित् आचरितं तथा** ईश्वर जो उपदेश दे वह सच्चा कहलाता है. ईश्वर जो आचरण करे वह कभी सच्चा हो भी, बाकी तो लीला ही होती है भगवानकी. इसकी हम नकल करने जावेंगे तो फनाह हो जायेंगे. भगवानने रासलीला करी, हमसे हो सकती है भला? किसीके घरमें माखन चोरने घुस सकते हैं क्या हम? नहीं घुस सकते. तुम क्या महाभारत करा सकते हो? महापंचायत हो जायेगी. और भगवानमें उसे समेटनेकी भी शक्ति है. तुममें है ऐसी शक्ति? इससे भगवान जो जो काम करें वह प्रत्येक काम नकल करने योग्य नहीं होता. अपनी लीलाकी गिनती, लाभ, हानि प्रभुको ज्ञात है. हमें पता नहीं है और हम उसका अंधानुकरण करें. वार्तामें आता है कि रजस्वला स्त्री थी तो भी ठाकुरजीने सेवा करनेको कहा; तो तुम भी करो सेवा! जिन जिन भगवदीयोंने ऐसा कुछ किया वह वह तुम करने लगो तो भारी मुसीबत हो जायेगी. सबकुछ हमसे हो नहीं सकेगा. अर्थात **ईश्वराणाम् वचः सत्यम्**. महाप्रभुजीने हमें जो उपदेश दिया है वह समझना है. हमें वहां ही स्पष्ट विवेक समझाया गया है प्रमाणबल एवं प्रमेयबल का. प्रमाणबल अर्थात जो उपदेश तुम्हें दिया गया है वह. और प्रमेयबल अर्थात भगवान स्वयं जो करें, स्वयं

विचार या अविचारकर वह. उसके पीछेका हेतु कहों हमारी जीवबुद्धिसे समझनेमें नहीं आवेगा और इसीलिये हम उसकी नकल नहीं कर सकते. हमें क्या करना चाहिये वह तो हमें क्या करनेको कहा गया है उसीके आधार पर नक्की होगा. उन्होंने क्या किया, किस परिस्थितिमें किया, किसलिये किया उसकी गिनती हम क्या कर सकेंगे?

एक सामान्य उदाहरण तुम्हें देता हूं. जब सात स्वरूपोंका उत्सव करना था तब गिरिधरजीने गुसांईजीके पास आज्ञा मांगी. तब दो बार पूछनेके उपरांत भी श्रीगुसांईजीने आज्ञा नहीं दी. तीसरी बार अनुमति दी कि अच्छा, करना हो तो करो, परन्तु लौकिक बढ़ जायगा. इसके बाद सचमें ऐसा ही हुवा कि जब सात स्वरूपोंका उत्सव हुवा तब श्रीगुसांईजीकी बेटीजी अपने ठाकुरजीकी सेवा छोड़कर इस मनोरथके दर्शन करने आयीं. तब श्रीगुसांईजीने पूछा **तुम अपने माथे बिराजते ठाकुरजीकी सेवासे पहुंचकर आई हो?** तो बेटीजीने कहा **ना, यह तो घरके ठाकुरजी हैं, कभी भी सेवा कर लूंगी. इन दर्शनोंका लाभ कब मिलेगा? उसीसे यहां आई.** तो **घरका छोकरा चक्की चाटे पड़ोसीका आटा** ऐसा हुवा. उसी प्रकार अपने ठाकुरजीको हम समझते हैं कि यह तो घरमें बिराजते हैं, कभी भी दर्शन कर लेंगे. इन मनोरथोंका मेला कब देखनेको मिलेगा? उसीका नाम तो लौकिकता है. जब गुसांईजी बिराजमान थे, सात बालक और उनमें भी श्रीकल्याणरायजी जैसे धुरंधर भक्तिभाववाले निष्णात भावनाशील बालक विद्यमान थे, उस समय भी

श्रीगुसांईजीको कहना पड़ा कि लौकिकता बढ़ जायेगी, तो आज हम उसकी नकल करने लगें तो क्या लौकिकता नहीं बढ़ेगी? आज तो प्रवाहिता ही बढ़ेगी. अच्छा, अब हम कहें कि श्रीगुसांईजीके समयमें सात स्वरूपोंका मिलन हुवा था उसे कहां टोकनेमें आया ? पर गुसांईजीने उस समय दो बार आज्ञा नहीं दी उसीसे ऐसे मनोरथोंको टोक दिया था. उस समय बालकोंको समझना चाहिये था कि ऐसा मनोरथ हमको नहीं करना चाहिये. पर किया, पर उस समय गुसांईजीने क्या कहा, करना हो तो करो, लौकिकता बढ़ जायेगी. और आज यह ही बढ़ गई है, दूसरा क्या हो रहा है? हमें कभी यह भी तो सोचना चाहिये.

अब करना हो तो करो, कौन मना करता है? दूसरा क्या हा सकता है, कोई किसीको डंडा तो नहीं मार सकता है न? सिद्धांतकी बात सिद्धांतकी तरह ही समझी जा सकती है. तुम मुझे ऐसा कहो कि किसी बालककी मैं निंदा करूं, तो वह तो मैं किस प्रकार कर सकता हूं, जबकि मैं जानता हूं कि बालक कितने सेवा परायण कितने भगवत्स्वरूपमें निष्ठा रखनेवाले थे. उन्होंने इस बातका अनुमोदन किया होगा तो किसी न किसी दूरदृष्टिसे विचारकर ही किया होगा, जैसे गुसांईजीने किया. कदाचित इसमें यह भी संभव है कि दादाश्रीने भी श्रीगुसांईजीने जिस प्रकार कहा कि करना हो तो करो, लौकिकता बढ़ जायेगी, उसी प्रकार ही कुछ कहा हो. अब यदि तुम्हारे मनमें ही जो लौकिकताका भूत घर कर बैठा हो तो एक दिन पूरा कचरा ही इकट्ठा करके बाहर निकाल दो, ऐसे आशयसे

तो शायद नहीं कहा हो कहीं? किसी समय ऐसा भी होता है भला.

एक कथा जो कि केवल कल्पित गप्प ही है, फिर भी बहुत प्रसिद्ध है. गणपतिजीने महाभारत लिखा और व्यासजीने लिखवाया. लिखकर जब पूरा हुवा तो व्यासजीने कहा **इस स्थल पर बैठकर हमने महाभारतकी रचनाकी है. मैंने लिखवाया और आपने लिखा तो इस स्थलका कुछ ऐसा महात्म्य होना चाहिये जैसे कोई यहां मरे तो उसे सीधी मुक्ति मिले.** गणपतिजीको लगा कि यह महात्म्य तो काशीका है जो पिता महादेवजीका स्थान है. उसके जैसा महात्म्य दूसरे किसी स्थानका कैसे स्थापित हो सकता है? और व्यासजीको ना भी किस प्रकार किया जाय? इसलिये गणपतिजीने कहा कि **क्या कहा?** व्यासजीने कहा कि **हमने इस स्थानपर महाभारतकी रचना करी है इस स्थानका महात्म्य ऐसा होना चाहिये कि जो यहां मरे उसकी मुक्ति हो.** गणपतिजीने फिर कहा, **क्या कहा?** तो व्यासजीको गुस्सा आया. वह बोले **यहां जो मरे वह गधा बने**. गणपतिजीने कहा **तथास्तु**. कहा ही जायेगा तथास्तु. इस प्रकार तुम बालकके पीछे ही पड़ जाओ कि ऐसा करना है, वैसा करना है, ऐसा करना है तो कहेंगे ही **तथास्तु** जाओ. हम कहते हैं **मत बनो गधा, तुम कहते हो बनना ही है तो ठीक है तथास्तु** इसमें किसी बालककी आज्ञा दी हुई थोड़ी कही जायेगी. हमारे नवरत्नका सत्र चल रहा था तो उस समय एक भाई आये. उसमें एक पंक्ति ऐसी आई कि **भगवान तो क्षमाशील हैं हमसे कोई भूल हो जाय तब भी क्षमा**

ही करेंगे तो उस भाईको अधीरता आगई. **नहीं कर सकते. हम अपराध करेंगे तो नरकमें तो जाना ही पड़ेगा**. इतनी जोरसे बोले तो मैंने कहा **हमें क्यों माथाफोड़ी करनी? तुम्हारा भाव ऐसा है तो तुम रखो.** वह माने ही नहीं. पासमें बैठे व्यक्तिसे बोला **बाबा कहते हैं पर ऐसा होता नहीं है. जो अपराध करेंगे तो नरकमें जावेंगे, जावेंगे और जावेंगे ही.** यह मुझे सुनाई दे गया पर मैं बोला नहीं. अब तो उसका धैर्य छूट गया. सत्र पूरा हुवा तब मेरे पास आया **आप कह रहे थे कि भगवान क्षमा कर देंगे पर अपराध करें तो किस प्रकार क्षमा करेंगे? नरकमें तो जाना ही पड़ेगा.** मैं भी तंग आ गया था. मैंने कहा **हां, तुमको तो नरकमें अवश्य जाना पड़ेगा**. कहने लगा **जाना पड़ेगा ना** मैंने कहा हां **तुमको तो निश्चित जाना ही होगा**. तो बोला **बस यही तो मैं कहता था दूसरी बात कहां कहता था**?

अब क्या करें? हम कहते हैं कि भगवान दयालु हैं, नरकमें नहीं भेजेंगे पर तुम्हारा भाव ही ऐसा हो कि नरकमें तो जाना ही है. तो ठीक है तथास्तु! जिसकी जो भावना हो वहां ही जायेगा. हम टोकें लेकिन ना समझे तो फिर क्या उपाय? मुझे लगता था कि नहीं कहना चाहिये लेकिन छोड़े ही नहीं इस बातको तो क्या उपाय? इसी तरह दादाश्रीने भी तथास्तु कह दिया हो. हो सकता है कि नहीं, इसका गूढ़ तात्पर्य मुझे कैसे समझमें आवे? मैं जो बात समझ सकता हूं वह यह कि महाप्रभुजीने क्या आदेश दिया है. यदि मैं अपने आप कोई बात कहता हूं तो तुम मुझसे निश्चयसे प्रश्न पूछो,

मैं बंधा हुवा हूं. लेकिन किसी बालकने किसलिये क्या किया, अहमदाबादवाले महाराजश्रीने क्या किया, अथवा पोरबंदरवाले महाराजश्रीने क्या किया अथवा सभी महाराजश्रीओंने जो किया वह कुछ न कुछ विचार कर ही किया होगा. या किसीने तथास्तु कह कर किया होगा. अब हमें किस तरह खबर पड़े कि किस समय कौनसे महाराजश्री कैसी परिस्थितिमें फंस जाते हैं और उनको क्या कहना पड़ता है? लेकिन हम इसका विचार नहीं कर सकते. महाप्रभुजीने क्या करनेको हमें कहा है उसका ही सीधा सीधा विचार कर सकते हैं. किसी बालकने किया होगा तो निश्चित ही विचार कर किया होगा. ऐसे बालक अविचारित कोई कार्य नहीं कर सकते. पर उन्होंने क्या विचार कर किया यह तो आप उन्हीसे पूछो. यदि भूतल पर बिराजते होते तो निश्चित मैं आपको कहता कि जाकर पूछो लेकिन भूतल पर नहीं बिराजते हों तो मैं आपको ऐसा भी नहीं कह सकता कि उनसे पूछो. तब तो यह शक्यता भी नहीं रही. लेकिन हमारे पास जो बात कायम है वह है श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथ. क्या करना और क्या न करना यह महाप्रभुजीके ग्रंथोंसे हम कभी भी पूछ सकते हैं. जबसे महाप्रभुजीने प्रकट किया तबसे आज तक और आगेके पांचसौ वर्षों तक भी हम महाप्रभुजीसे पूछ सकते हैं और पूछना चाहिये कि आप आज्ञा दो कि हमें क्या करना और क्या नहीं करना? और महाप्रभुजी हमको सही आज्ञा देते हैं कि **गुप्तो हि रस: रसत्वं आपद्यत, प्रकटस्तु रसाभास एव** जब तुम महाप्रभुजीसे आज्ञा लेने जाओगे कि हमें मेला करना कि नहीं

करना. हमको ठाकुरजीका तमाशा करना कि नहीं करना तब महाप्रभुजी ऐसी आज्ञा देंगे कि जितनी गुप्तरीतिसे सेवा करोगे उतनी ही सेवाकी रसात्मकता प्रकट होगी. और जितनी प्रकट सेवा करोगे उतना सेवामें रसाभास होगा, प्रभुको परिश्रम होगा. मार्गकी और सिद्धांतकी मर्यादा नष्ट हो जायेगी.

बालकोंने उस समय पर अपने प्रमेयबलसे देशकालकी परिस्थिति आदिका विचारकर क्या किया और क्या नहीं इसका हम विचार नहीं कर सकते. हम एकही विचार कर सकते हैं कि महाप्रभ़ुजी क्या आज्ञा करते हैं. क्योंकि महाप्रभुजी सभी बालकोंके लिये भी शिरोधार्य हैं और वैष्णवोंकेलिये भी शिरोधार्य हैं. यह बालक ही नहीं, आने वाले समयके बालक बीते हुये समयके बालक एवं वर्तमान समयके बालकोंको भी महाप्रभुजीके आदेश शिरोधार्य हैं. इसलिये महाप्रभुजी क्या आदेश देते हैं बस इतना ही हमें विचार करना है. तुम कहो कि मैं किसी बालककी निंदा करूं तो यह वाणी किसी भी दिन ऐसा कार्य नहीं करेगी. मेरे प्रवचनका हेतु किसी बालककी निंदा करनेका नहीं है. मेरे प्रवचन करनेका हेतु तुम्हारी भी निंदा करनेका नहीं है. मेरे प्रवचन करनेका हेतु सीधा सीधा श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांत समझानेका है.

श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंके आधारपर जो मुझे समझ आता है वह तुम्हें समझानेका प्रयत्न कर रहा हूं. कदाचित मैं कुछ गलत बात कहूं तो श्रीमहाप्रभुजी मुझे क्षमा करें. ग्रंथोंके अध्ययनसे मुझे जा कुछ समझमें आया वह बोल रहा हूं. संभव है कि **मनुष्य मात्रसे**

गल्तियां हो सकती हैं कोई मुझे समझाये कि **तुम्हारे बोलनेमें यह गड़बड़ हुई** तो मैं हर समय वह सुधारनेको तैयार हूं, क्योंकि मैं अपना मत कहूं तो मुझे अन्यथा लगनेका प्रश्न खड़ा हो. यह प्रश्न मेरी रुचि अथवा उचित अथवा अनुचितके निर्णयका नहीं है, यह प्रश्न है श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतका. मुझे क्या अच्छा लगता है वह समझानेको मैं नहीं बैठा हूं. कदाचित मेरे बोलनेमें या समझानेमें कोई गल्ती होती हो पर तुम कोई गल्ती बताओ ही नहीं तो मुझे किस प्रकार खबर पड़ेगी? म तो वह ही कहूंगा जो मैंने तैयार किया है. कहीं खाने जायें तो जो बना है वही तो परोसा जायेगा न? इस दिमागमें जो है वह ही तुमको परोस रहा हूं. परोसकर मेरा काम तो पूरा हो गया. अब तुम्हें नमक मिर्च थोड़ा ज्यादा लगे या तुम्हें खाना है कि नहीं खाना वह तुम जानो. अच्छा लगे तो खाओ नहीं अच्छा लगे तो मत खाओ. मैं कह रहा हूं वह सब ठीक है ऐसा भी तुम मत मान लेना. तुम खुद विचारो कि मैं जो कुछ कह रहा हूं वह तुमको पुष्ट करेगा कि नहीं, तुष्ट करेगा कि नहीं और तुम्हारी भूख मिटायेगा कि नहीं? यदि खायें तो शरीरको पोषण मिलना चाहिये, जीभको तोषण मिलना चाहिये और पेटकी भूख मिटनी चाहिये. तुम देखो कि मेरी परोसी हुई बातें इसमें सक्षम हैं कि नहीं. मैं दूसरोंको खिलानेमें विश्वास नहीं रखता. जाकर अपने गुरुसे पूछकर देखो कि श्यामूबाबाने ऐसा ऐसा कहा है कि वह खाने लायक है कि नहीं? वह न कहें तो मत खाना. तुम भी स्वतंत्र हो और मैं भी स्वतंत्र, कोई बंधन नहीं है. मनमें यह भी नहीं लाना

कि मैं किसी बालककी अथवा तुम्हारी प्रवृत्तिकी निंदा कर रहा हूं. मैं तो केवल श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोकी बात तुम्हें समझा रहा हूं. और तुमने प्रवचन करने बुलाया है इसलिये कह रहा हूं. पर्चे छपवाकर प्रवचन करनेकी आदत मुझे नहीं है. इसलिये तुम मुझसे प्रश्न पूछते समय यह ध्यान रखना कि प्रश्न सिद्धांतका ही हो व्यक्तिगत नहीं. मैं श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंके आधार पर उनका उत्तर देनेका प्रयत्न करूंगा. मैं इसीलिये सावधानीसे श्रीमहाप्रभुजीके वचनोंको उद्‌धृत करता जाता हूं जिससे तुम्हें मेरा जबाब मेरे मनका फितूर न लगे और कभी वचनोंको उद्‌धृत करना भूल जाऊं तो तुम्हें पूर्ण अधिकार है मुझसे पूछनेका कि आपने यह बात कही तो यह श्रीमहाप्रभुजीके और दूसरे पूर्व आचार्योंके किन वचनोंके आधार पर कही है? यदि याद नहीं आए तो मैं ग्रंथमेंसे ढूंढकर दूसरे दिन तुम्हें बताऊंगा और न मिला तो कान पकड़कर भूल कबूल करनेकी मेरी पूरी तैयारी है. परन्तु तुम मुझसे किसी बालककी पूछोगे तो वह तो उनकी प्रमेयलीला है. उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता. वह किस हेतुसेकी उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता और उसे जाने बिना किसी बालककी निंदाका दुःसाहस मैं किस प्रकार कर सकता हूं? इसलिये प्रश्न श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोंके बारेमें ही पूछो.

तुम्हें एक बात बताऊं. एक समय मैं बसमें बैठा था. उसका कंडक्टर अपने नाथद्वारेका था. वह बोला **ओ हो श्यामूबाबा आप. बिराजो**. बैठनेके पश्चात मैंने कहा **भैया टिकट दो** दोचार बार कहा तो वह बोला

कोई जरूरत नहीं है. भला मैं भी क्या जबरदस्ती कर सकता था? मुझे डर लग रहा था कि कहीं टी.सी. आ गया तो! वह बोला **टी.सी. आयेगा तो दण्ड मैं भरूंगा** और सचमें टी.सी. आ ही गया. अब मेरा सिर तो नीचे हो गया. मैंने कहा **मैं नहीं जानता इसने मुझे टिकिट ही नहीं दी.** फिर उन्होंने आपसमें कोई बातकी पता नहीं क्या बातकी? परन्तु कभी कभी ऐसा हो जाता है कि कंडक्टर खुद जिम्मेदारी लेता हा तो तुम बैठ जाओ बिना टिकट. बैठनेके बाद तो तुम जानो और कंडक्टर जाने. उससे कोई सिद्धांत स्थापित नहीं हो जाता कि बसमें जब भी बैठेगें तो बिना टिकट बैठेगें. अब मैं दूसरी बार कहीं बससे जाऊं तो यह नहीं कह सकता कि फलानी बसमें फलाने कंडक्टरने मुझे बिना टिकट यात्रा करने दी थी इस कारण तुम भी करने दो. इसका अनुकरण नहीं किया जा सकता. उसी प्रकार श्रीठाकुरजी बालकसे पूछें कि क्यों इसे मेरा तमाशा बनाने दिया और बालक ठाकुरजीके साथ आपसमें समझ लें तो इसकी चिंता तुम्हें नहीं करनी चाहिये. तुम्हें तो जब भी बसमें बैठना हो तो टिकिट लेकर बैठना चाहिये और वह टिकट है गृहसेवाका तमाशेका नहीं.

यह बात मैंने पहले कही है कि **श्रीबल्लभ रोम रोम रस झलके. जो जो जा रसके अधिकारी भरत संभारे न छलके**. जो हृदयका पात्र जिस रसके भरनेके लिये बना है उस पात्रमेंसे वह रस कभी छलकेगा नहीं और छलक रहा है तो समझो कि आज नहीं तो कल खाली हो जायेगा और फिर मजा ही नहीं रहेगा. जैसे कि

कहावत है **खाली दिमाग शैतानका घर** वैसे ही खाली हृदय भी शैतानका घर होता है. उसमें भक्ति रह ही नहीं सकती अर्थात जो रस हो कर्मनिष्ठा हो, ज्ञाननिष्ठा हो, मर्यादाभक्तिनिष्ठा हो या पुष्टिभक्तिनिष्ठा हो, उसमें भी सेवा निष्ठा हो कि कथानिष्ठा हो, प्रपत्तिनिष्ठा हो, तीर्थनिष्ठा हो, जैसी भी निष्ठा हो उसे ऐसे संभाल कर रखो कि **भरत संभारे न छलके**. जो न छलके तो तुम उसके अधिकारी, नहीं तो अनअधिकारी. इसलिये भावप्रकाशमें कहते हैं **जो–जहांका अधिकारी है वामें वाको मन स्वत: सिद्ध लागत है. ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारे कूं दस गामके मार्ग बतामें परन्तु जाकों जा गाम जानो होय सोई गाम जात है. तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा, कोई ईश्वर द्वारा जैसो अधिकारी तैसो सग पाय** ऊही **मार्गमें वाको भाव दृढ़ होत है. सो गोविन्ददुबेको रणछोड़जीमें दृढ़भाव भयो.** आज हम सभी बात अस्पष्ट कहते हैं. प्राचीन बालकोंमें यह स्पष्टता थी कि कोई बात अस्पष्ट नहीं कहते थे. यह नवरत्नका उपदेश अमल करके फल उनको मिला कि घरमें जो ठाकुरजी बिराजते थे उनमें उनका मन दृढ़ नहीं हुवा लेकिन जो उनके हृदयमें बीजभाव था रणछोड़जीके प्रति वह दृढ़ हो गया. इसलिये सहजभावकी कितनी महत्ता है उसे समझो कि तुम्हारे सहज भावको श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिमार्गका डंडा लेकर तोड़ना नहीं चाहते. इसलिये नवरत्नग्रंथ कहा. नवरत्न इसलिये नहीं कहा कि मारपीटकर सभीको मुसलमान बनाना है. श्रीमहाप्रभुजीने नवरत्न इसलिये कहा है कि

तुम्हारे भीतर रहे हुवे सहज भावको पहचानो. इसकी तरफ थोड़ा ध्यान दो कि तुम क्या करना चाहते हो.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा**. तुम्हारे गुरु तुम्हें जो उपदेश दें उसी प्रकार तुम आचरण करो. हम बीमार पड़ते हैं तो पहले अपने फैमिली डाक्टरके पास जाते हैं. बादमें वह जैसा बताये कि **यह इलाज करो या उस डाक्टरको मिलो** तो उसी प्रकार करते हैं. इधर उधर तुम भटकोगे और डाक्टरोंसे इलाज कराओगे तो नहीं मरत होओगे तो मर जाओगे दस जनोंकी सलाह लेनेमें. तो जिस प्रकार शरीरके स्वास्थ्यकेलिये फैमिली डाक्टरकी सलाहका आग्रह रखते हैं उसी तरह साधनाके बारेमें गुरुके उपदेशका आग्रह रखना चाहिये. क्योंकि उनको तुम्हारी केस हिस्टरी पता है कि तुम कौन हो और तुमको क्या करना चाहिये. उन्होंने जबाबदारी ली है. यदि उनका निदान गलत हो तो भगवानकी कोर्टमें केस चलेगा तो वह ही जबाब देंगे तुम्हें नहीं देना होगा. लेकिन दस डाक्टरोंसे दवा लो और तुम्हें कुछ गड़बड़ हो तो तुम केस नहीं कर सकते क्योंकि फैमिली डाक्टर कह देगा कि **मैंने क्या किया? मैंने तो यह दवा लेनेको नहीं कहा. यह दवा तुमको माफिक आवे ऐसी नहीं. तुमने क्यों ली?** इसलिये करना वही चाहिये जो तुम्हें तुम्हारे गुरु कहें करनेको. अपने परम गुरु श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंमें से निकालकर मैं तो सिद्धांतकी कथा समझा रहा हूं तुमको. इसमेंसे तुमको क्या करना यह तुम्हें तुम्हारे गुरुदेवसे पूछना चाहिये. लेकिन सिद्धांतकी कथा तो समझनी ही पड़ेगी क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी सभीके गुरु हैं.

मेरे भी गुरु हैं और जिन बालकोंने ऐसी आज्ञाऐं दी हैं उनके भी गुरु हैं और जिन्होंने ऐसी आज्ञायें नहीं दी उनके भी गुरु हैं. करते समय मैं तुमको एक नहीं एकसौआठ बार कहता हूं कि मैं कहूं ऐसे नहीं पर तुम्हारे गुरु जैसी तुम्हें आज्ञा करें वैसा करो नहीं तो महान अनर्थ हो जायेगा. गुरुआज्ञाका बाधन हरिइच्छासे ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रवचन या प्रवंचनसे नहीं.

किसीने पूछा कि बीमारी रहती है तो नलकी झारी भरनेकी आज्ञा दो. तो यह आज्ञा मैं नहीं दे सकता. जिस बालकसे तुमने ब्रह्मसंबंध लिया हो उससे ही आज्ञा लेनी चाहिये. जिस बालकने ठाकुरजी पुष्ट किये हों और तुम्हारे माथे पधराये हों उनसे ही आज्ञा लेनी चाहिये. ब्रह्मसंबंध एक बालकसे लेना ठाकुरजी दूसरेसे पुष्ट करवाने, सेवाकी आज्ञा तीसरेसे लेनी, यह सबसे बड़ा मोह है, सबसे बड़ा छलावा है. तुम्हारे गुरुदेवसे ही आज्ञा लेनेका आग्रह रखो. मैंने पहले तुमको समझाया था कि बालक न हो तो बालकके पुत्रसे, पुत्र न हो तो बालककी बहुजीसे और बहुजी नहों तो उस कुलके किसी भी बालकसे तुम आज्ञा ले सकते हो. ऐसा नियम भाष्यमें स्पष्टतया बतानेमें आया है. आज सभी कहते हैं कि ऐसा तुम कैसे कहते हो, कोई भी कहींसे भी आज्ञा ले सकता है. तो फिर पादरीके पाससे भी ब्रह्मसंबंध लिया जा सकता है कि नहीं? पादरी क्या चोर है या डाकू है? पादरी तो जनताकी इतनी सेवा करते हैं कि जितनी हमारे कोई साधु भी नहीं करते. और जो तुम यह कहो कि वल्लभाचार्यजीके कुलके पाससे ही लिया जा सकता है तो लालाजीमें क्या वल्लभाचार्यजीका खून

नहीं बह रहा. और तुम कहो कि गोस्वामी बालकोंके पाससे ही लेना चाहिये तो ऐसी बाड़ तो तुमने स्वयं ही बांधी है तो फिर श्रीमहाप्रभुजीके बांधे हुवे बाड़ेमें बंधकर अच्छी प्रकारसे ही चलो न.

गुर्वभावे तत्पुत्र, तदभावे तत् पत्नी, तदभावे तत्कुलं इस हिसाबसे ही ठाकुरजी पुष्ट कराने चाहियें और सेवाके प्रकारको बढ़ाने या घटाने या छूटछाट लेनेकी आज्ञा लेनी चाहिये. कोई प्रभावी व्यक्ति आजाये तो तुमको कैसे पता चलेगा कि प्रवचन कर रहा है कि प्रवंचन? मैं ही तुम्हारा प्रवंचन कर रहा हूं तो तुम्हें किस प्रकार पता चलेगा? तुमने पढ़ा है क्या? पढ़े हो तो तुम्हें सुननेकी क्या आवश्यकता? इसलिये गुरु आज्ञाका आग्रह रखो. महाप्रभुजीके संविधानके अनुसार मैं उसीको आज्ञा दे सकता हूं कि जिसने मुझसे अथवा दादाजीसे ब्रह्मसंबंध लिया हो. प्रत्येकको मैं आज्ञा नहीं दे सकता. यह कोई श्यामगोस्वामीका मार्ग नहीं है. महाप्रभुजीका पुष्टि संप्रदाय है और इसका संविधान जैसे वल्लभाचार्यजीके कुलके प्रत्येक बालकको लागू होता है उसी तरह मुझपर भी लागू होता है. मुझे प्रवचन करना आता है लेकिन किसी बालकको समझो नहीं आता हो तो क्या इससे हमें उनसे संबंध तोड़ लेने चाहिये? ऐसी व्यक्तिवादी प्रवृत्तिका मैं पोषक नहीं हूं, नहीं हूं और नहीं हू. मैं ऐसे प्रवचन करने नहीं आया. अभी भी समझ न आया हो तो पूछो. यह कोई खुला व्याख्यान नहीं है. मैं सार्वजनिक व्याख्यानकी तरहसे इस प्रवृत्तिको नहीं लेता, यह तो चर्चा है परिवारके मनुष्योंकी. हम बैठकर आपसमें घरकी समस्याओंकी

चर्चा करते हैं कि नहीं? घरके नियमों और रीतिरिवाजोंको समझनेका प्रयास करते हैं कि नहीं? घरके नियमोंका और रीतिरिवाजोंको समझनेका प्रयास करें ऐसे ही निखालिस हृदयसे मैं तुम्हारे साथ चर्चा करने बैठा हूं.

गोविंददुबे अपने प्रतिनिधि वैष्णव हैं. उन्होंने नवरत्नका पाठ किया और नवरत्नमे उपदिष्ट सिद्धांत उनके हृदयमें स्थिर हुवे. उसके अनुसार वह प्रत्येक वस्तुको भगवदलीला रूपमें लेने लगे और बस सभी चिंता निवृत्त हो गयीं. श्रीआचार्यचरणने उपदेश दिया **चिंताकापि न कार्या निवेदितात्मभि: कदापीति. भगवानापि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्**. आत्मनिवदन करनेवालेको चिंता किस तरह हो सकती है? लौकिक वैदिककी चिंता तो हो सकती ही नहीं लेकिन भक्तिकी भी चिंता आत्मनिवेदन करनेवालेको नहीं हो सकती इस हद तक जाकर श्रीमहाप्रभुजी यह बात कर रहे हैं. आगे एक एक दिन एक एक श्लोकका अर्थ तुमको बतानेका प्रयास करूंगा तो तुमको पता चलेगा कि किस किस स्थितिमें किस किस चिंताको कैसे चिंतनसे दूर करना यह जैसा श्रीमहाप्रभुजीने समझाया है ऐसा दूसरा कोई आचार्य नहीं समझा सकता.

सबसे अधिक भार श्रीमहाप्रभुजीने आत्मनिवेदन पर दिया है कि आत्मनिवेदन जिसने किया हो उसको किसी तरहकी चिंता नहीं करनी. मैंने तुमको समझाया था कि आत्मनिवेदन तुलसी हाथमें लेकर ठाकुरजीके चरणार्विन्दमें समर्प देना मात्र ही नहीं है लेकिन

तुलसीके बहानेसे हम अपना सर्वस्व ठाकुरजीको समर्पते हैं.

वृंदा सती थी और इतनी पतिपरायण थी कि अपनी पति भक्तिके आगे प्रभु भक्तिको भी नहीं गिनती थी. लेकिन प्रभुने विचारा कि मुझे इसकी भक्ति स्वीकार करनी है. इसकारण प्रभु उसके पतिका रूप धारण करके उसके पास गये. यह बात जब वृंदाको पता चली तो उसने प्रभुको शाप दिया कि **तुमने पत्थर हृदय जैसा कार्य किया है कि मेरे पतिका रूप धारण करके मेरी पति भक्ति छुड़ा दी. जाओ तुम भी शिला हो जाओ**. तो ठाकुरजी शालिग्राम बन गये. भगवानको शालिग्राम बननेमें भी कोई कठिनाई नहीं. क्यों? क्योंकि भागवतमें बहुत सुंदर समझाया है **गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनां योन्त: चरति सोध्यक्ष क्रीडनेनेह देह भाक्**. गोपियोंका जो देह है उसको धारण करनेवाला मूलमें कौन? कृष्ण. और गोपियोंके जो पति थे उनकी देह धारण करनेवाला कौन? कृष्ण. अरे, गोपियों और उनके पतियोंकी बात जाने दो, जगतमें जितने देहधारी हैं उन सभीकी देह धारण करनेवाला आत्मा मूलत: कौन? जिसको हम परमात्मा कहते हैं वही तो. जैसे गुरुमें गुरु परमगुरु होता है. मित्रमें मित्र परममित्र कहलाता है उसी प्रकार आत्मामें जो आत्मा होती है, आत्माके भीतर छिपकर जो बैठी हुई आत्मा होती है उसीको परमात्मा कहते हैं. वही तो सारी क्रीड़ा कर रहा है. इसलिये उसको तुम श्राप भी दो तो उसको बुरा नहीं लगेगा क्योंकि शिला रूप भी तो यही प्रकट हुआ है. उपनिषदमें कहा है **तस्मात् वा एतस्मात्**

आत्मन: आकाश सम्भूत:, आकाशात् वायु: वायोरग्नि अग्नेराप अदम्य: पृथ्व्यिां औषधय: औषदिभ्यो अन्नं अन्नात् पुरुष:. परमात्मासे आकाश पकट हुवा. आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे तत्व, तत्वोंसे अन्न प्रकट हुवा, वनस्पति प्रकट हुई और उसको खाकर जो प्राणी और मनुष्य देह प्रकट होती है वह भी परमात्मासे ही प्रकट होती है. इसलिये जो भी प्रकट हुवा है वह अलग अलग रूप लेकर परमात्मा स्वयं ही प्रकट हुवा है. और हम कहें कि **तू शिला बन जा** तो शिला मूलमें कौन है? परमात्मा ही तो है. हम शिला नहीं इसलिये शिला होनेसे डरते हैं. जो शिला है उसे शिला होनेमें क्या डर लगेगा? इसलिये भगवान कहते हैं **समोहम् सर्व भूतेषु नमे द्वेषांस्ति न प्रिय:** मेरेलिये प्रत्येक वस्तु समान है. न मुझे किसी वस्तुसे द्वेष है अथवा न मुझे कोई वस्तु प्रिय है. क्योंकि मेरी दृष्टिसे देखूं तो मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं. प्रत्येक वस्तु मैं ही हूं. मैं अपने आपको धिक्कारूं तो मेरी कोई द्वेष्य वस्तु हो, मैं अपने आपको प्रेम करूं तो मेरी कोई प्रिय वस्तु हो. **द्योतम् छलय: तामस्मि, नीतिरास्मि, जिगिषताम्**.

भगवान कहते हैं **मेरी विभूतियोंको जानकर क्या करेगा. इतना ही समझ ले कि जो कुछ है वह मैं ही हूं. ब्रह्म लटका करे ब्रह्मपासे** ब्रह्मको कभी छोटापन नहीं आता. वह वाराह अवतार भी ले सकता है और कृष्ण अवतार भी ले सकता है. राजसूय यज्ञके समय पादप्रक्षालनकेलिये कृष्ण खड़े रहे. क्योंकि पैर किसके धोने हैं? स्वयं अपने ही तो पैर धोने हैं. अपने सिवाय

और पैर किसके हैं? और शिशुपालका सिर भी आप चक्रसे काट देते हैं. क्योंकि किसकी गर्दन उड़ी. भगवानके एक रूपकी ही तो गर्दन उड़ी.

हम कहते हैं कि शिशुपालकी गर्दन उड़ी क्योंकि हमको भगवानके नामरूपका विस्तार पूरा पूरा समझमें नहीं आता लेकिन भगवान तो जानते हैं. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी ब्रह्मवादके स्वरूपको समझाते हुवे कहते हैं कि **त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर अयमेव ब्रह्मवाद शिष्टं मोहाय कल्पितं**. कौन जगत उत्पन्न कर रहा है? भगवान. उत्पन्न होनेवाला कौन? भगवान. पालन करनेवाला कौन ? भगवान. पालन हो किसका रहा है ? भगवानका. नष्ट करनेवाला कौन? भगवान. नष्ट होनेवाला कौन? भगवान. यह ही ब्रह्मवाद है. इसके अलावा सब मोहसे कल्पित है. **सर्व खलु इदं ब्रह्म**. इसलिये भगवान जो कुछ करते हैं वह लीला ही करते हैं. इसलिये प्रभासमें तीर लगनेसे देह त्याग किया वह लीला है प्राणोत्सर्ग नहीं किया. और किया भी हो तो कोई छोटापन नहीं है. क्योंकि सभी ही ब्रह्म है तो उत्सर्ग भी किसका किसमें होगा ? इस जेबसे उस जेबमें पैसे रखनेमें क्या फायदा और क्या नुकसान?

इसलिये प्रभुने शिला बनना आनंदसे स्वीकार लिया कि लो तुमने श्राप दिया तो मैं शालिग्राम बन जाता हूं. लेकिन ठाकुरजी जिसको पकड़ें उसे छोड़ दें ऐसा तो नहीं है. इसलिये उन्होंने सामनसे कहा कि तब तुमको भी तुलसी बनना पड़ेगा और मैं फिर तुमसे विवाह करूंगा, छोडूंगा नहीं. तो अपने धर्मकी ऐसी जिद्द

रखनेवालेको प्रभुने भी ऐसी ही जिद्दसे पकड़ा. जिस तुलसीको हाथमें लेकर हम समपर्ण करते हैं कि हम भी संसारसे इसी तरहसे बंधे हुवे हैं. जिस प्रकार अपनी जिद्द कायम रखी, शिला बने और उसे वृक्ष बनाकर उससे विवाह किया पर छोड़ा नहीं उसी प्रकार हम आपको आत्मसमपर्ण करते हैं. हम विवाहित कहीं भी हों पर समपर्ण आपको करते हैं, हमको जबरदस्ती पकड़ लो. इच्छा हो तो पकड़ो और तुमको हम पर जबरदस्ती करनी हो तो हमको किसी प्रकारकी परेशानी भी नहीं है. इसीका नाम है आत्मनिवेदन. **रुचे आपने करूं तेवी टहल रे अन्य रखे भावो रे** जो आपको रुचे सो करो मैं तो आपको समर्पित हूं.

भगवान गीतामें कहते हैं **अधिष्ठानम् तथा कर्ता करणम् च पृथग्विधम् विविधाश्च पृथक् चेष्ठा दैवं चैवात्र पंचमम्**. मैंने पांच रूप धारण किये हैं. अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और देव. उसमेंसे तुम्हारे कर्ताके अहंकाररूपमें मैं प्रकट हुवा हूं. इसीसे तुम्हें लगता है कि मैं कर रहा हूं. **हूं करूं हूं करूं ऐज अज्ञानता शकटनो भार जेम श्वान ताणे** बैलगाड़ीके चलनेसे साथ बंधे हुवे कुत्तेको भी चलना पड़ता है. कुत्तेके चलनेसे बैलगाड़ी नहीं चलती लेकिन कुत्तेको लगता है कि मेरे चलनेसे बैलगाड़ी चलती है. उसी प्रकार प्रभुने हमारे भीतर एक अहंकार रूपी कर्ता भर दिया है इससे हमको लगता है कि मैं कर्ता हूं, नहीं तो गाड़ी तो पांच बैलोंसे चल रही है. कोई भी क्रिया हम करते हों, जो कुछ भोग धरते हों, जो कुछ दर्शन करते

हों, वह सभी अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्ठा और दैवसे मिलकर होता है अकेले कर्तासे नहीं.

मैंने कल समझाया था कि जीवमें प्रभुने कर्ता, भोक्ता और दृष्टा होनेका सामर्थ्य और स्वभाव रखा है इसीसे हमको लगता है कि मैं कर रहा हूं. बहुतसे लोग क्या समझ गये कि इस गीताके वाक्यमें कहा है कि अपनी आत्माको कर्ता नहीं मानना इसलिये आत्मा कर्ता नहीं अकर्ता है. यह गीताकी सच्ची समझ नहीं. भगवान ऐसा नहीं कहते कि आत्मा कर्ता नहीं. कर्तारूपम आत्माको प्रकट किया है, यह कर्ता तो है ही. लेकिन केवल कर्तासे - आत्मासे सब नहीं हो जाता. पांच भागमेंसे एक भाग आत्मा है. लेकिन केवल आत्मासे गाड़ी नहीं चलती. किसी भी क्रियामें कर्ताका योग १/५ भाग है यह देह. देहके कारण ही बहुतसी क्रियायें करनी पड़ती हैं. तुम कहो कि हमने वैराग्य लिया लेकिन जब ठंड लगेगी तो कंबल तो ओढना ही पड़ेगा. वैराग्य लेनेसे ही काम नहीं चलता. खाना तो पड़ेगा ही चाहे पात्रमें नहीं हाथमें लेकर खाओ.

एक व्यक्तिने मुझसे कहा कि महाराज आपके धर्ममें वैराग्यका स्थान नहीं. मैंने कहा **ऐसा कैसे**? तो वह बोला **तुम सभी सन्यास नहीं लेते और धर्म गुरु बन गये हो. हम तो ऐसा मानते हैं कि धर्मगुरुको सन्यासी होना चाहिये**. मैंने कहा **फरक इतना पड़ गया कि तुम्हारे एक धर्मगुरुके निर्वाहकेलिये दसको ग्रहस्थ बनना पड़ता है. हमारे यहां हम ही ग्रहस्थीकी गाड़ी चलाते है. दूसरे गृहस्थीकी अपेक्षा नहीं रखते. तुम्हारा सन्यासी खायेगा कहां? सन्यासीको खाना हो**

तो बनवायेगा तो किसी न किसी गृहस्थके यहां ही न? फिर बात तो वही है. गुरु अपने घरमें नहीं दूसरेके घरमें बनवायेगा पर बनवायेगा तो गृहस्थके घरमें ही न? इसलिये गृहस्थ हुव बिना काम नहीं चलता. तुम्हारे गुरु किसी न किसी गृहस्थपर निभते हैं हम स्वयं ही यह सब करते हैं. कोई अधिक फरक नहीं पड़ता. गृहस्थी हो या सन्यासी, सभी एक समाजके भाग हैं. उसीसे सब चलता है.

उसी प्रकार प्रत्येक क्रियाका देह, इन्द्रिय, आत्मा वगैरह भाग हैं. कुछ मेरेसे नहीं पर तुम कर रहे हो इससे चल रहा है. अनाज किसान उगाता है, मैं खाता हूं. कपड़ा दूसरा बुनता है और मैं पहनता हूं. मकान और कोई बनाता है और मैं उसमें रहता हूं. लोग एक दूसरेके पूरक होते हैं. इसीसे यह गाड़ी चलती है. उसमें बैठे बैठे किसी दिन मुझे लगे कि मैं चला रहा हूं इसीसे गाड़ी चल रही है तो भाई तुम्हारी ताकत तो १/५ है. कार्यके श्रेयका पांचवां भाग मैं ले सकता हूं, उससे अधिक नहीं.

हमको चिंता होती है कि हमारा झुकाव किसी एक तरफ हो जाता है. कोई **अधिष्ठानवादी** तो कोई **करणवादी** तो कोई **कर्तावादी**. कोई **विविधाश्चप्रथक चेष्ठावादी** होता है. कोई **देववादी** होता है कि मुझे तो कुछ करना ही नहीं है जो भाग्यमें होगा वहीं तो होगा. लेकिन तुम समझ जाओ कि भाग्य भी पांचवे भागका ही कार्य करेगा. बाकी ४/५ काम तुम्हें ही करना है. इसी तरह पांचवे भागका काम कर्ता करता है. पांचवें भागका काम देह करता है. देह नहीं हो तो काम ही नहीं हो.

बहुत बड़े ज्ञानी बात करते हैं कि देह बंधन है. अरे, लेकिन इसका बंधन न हो तो तुम ज्ञान उपदेश भी नहीं कर सकोगे. देहका बंधन टूटनेके बाद तुम ज्ञानोपदेश करने जाओगे तो भूत समझ कर सभी चेले भाग जावेंगे. चेले सुननेकेलिये ही इसलिये बैठे हैं कि तुम देहधारी हो.

एक समय वास्तवमें ऐसा ही हुवा. मेरे चचेरे भाई श्यामूबाबा लीलामें पधार गये. तो **बंबई समाचार**में खबर छपी कि बड़े मंदिरवाले श्यामूबाबा लीलामें पधार गये. उस समय मैं बी.ए. म पढ़ रहा था. शामको कॉलेज गया तो दो चार जनोंने पढ़ रखा था. वो मुझे देखकर बोले **अरे तुम कहांसे** मैंने कहा **क्या हुवा**? उन्होंने कहा **आज बंबई समाचार में आया है वह क्या**? मैंने कहा **वह श्यामूबाबा मैं नहीं दूसरे श्यामूबाबा हैं**. वह लोग घबरा गये कि पढ़नेको वासना छूटी नहीं; दुबारा आगया पढ़ने क्लासमें. यदि मैं खुलासा किये बिना क्लासमें बैठता तो यह लोग क्लासरूम छोड़कर भाग जाते. ऐसे ही तुम कहो कि मुझे ज्ञान उपदेश करना है. खड़े रहो लेकिन चेले भाग जायेंगे कि हमें ज्ञान नहीं चाहिये. छोड़ो हमें. देहधारी बन कर आना. इस तरह देहकी, ज्ञानके आवेशमें आकर निंदा करते हैं लेकिन उसकी भी आवश्यकता है.

इस तरह देह, कर्ता, इन्द्रियां एक दूसरेके प्रयास और भाग्य, यह सब मिलकर ही किसी क्रियाको सम्पन्न करते हैं. इसमेंसे किसी एक वस्तु पर यदि हम टिक जायें तो हमको चिंता हुये बिना नहीं रहेगी. हमको इन सभीपर टिकना चाहिये. और उसका जो भी परिणाम

आये उसे लीला भावसे मानना चाहिये. जैसे भगवान कहते हैं **न मे पार्थास्ति कर्तव्यम् त्रिषु लोकेषु किंचन**. हम अकेले कुछ करते नहीं तो अकेले किसी वस्तुको कैसे प्राप्त कर सकते हैं. मुझे अकेले करने जैसा कुछ है ही नहीं फिर भी जो मुझसे हो वह मुझे करते रहना चाहिये. भक्ति हो तो भक्ति, कर्म हो तो कर्म और ज्ञान हो तो ज्ञान करना है. हम भी कह सकते हैं कि **न मे पार्थास्ति ज्ञातव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन** जानने जैसा अथवा केवल मुझसे जाना जा सके ऐसा कुछ है नहीं फिर भी मैं जाननेका प्रयास करता हूं. भक्ति करनी शक्य नहीं फिर भी भक्तिका प्रयास करता हूं. यह लीला भाव, यह निष्प्रयोजनताका भाव यदि हमारे हृदयमें आये तो कभी चिंता नहीं हो. भगवानको इतना बड़ा जगत चलानेमें चिंता क्यों नहीं होती? इसका कारण यह है कि भगवान उचित खुलासा देते हैं कि मुझे करने जैसा कुछ है ही नहीं, लीलाकेलिये करता हूं. ऐसे ही तुम भी भक्ति लीलाके रूपमें करो.

महाबलेश्वरके माथेरनमें एक echo point है. तुम वहां आवाज दो तो तुम्हारी आवाज तुमको प्रतिध्वनित होकर सुनाई देगी. बच्चे तो बच्चे, बड़े बड़े भी echo point पर जाते हैं तो आवाज देते हैं. पर इससे फायदा क्या? तुम तुम्हारी आवाज नहीं पहचानते क्या? क्यों करते हो? लीला है. मिलनेवाला कुछ नहीं केवल लीलारूपमें आवाज देते हैं. इसी प्रकार प्रभुको कुछ मिलने वाला नहीं. नहीं करें तो कुछ हानि भी नहीं हानेवाली. फिर भी करते रहते हैं. उत्पत्ति, स्थिति और

लय. उसी तरहसे भक्तिसे हमको कुछ मिलना नहीं, ज्ञानसे कुछ मिलना नहीं, कर्मसे कुछ मिलना नहीं. लेकिन यदि मुझमें कर्मका बीज भाव है तो मैं कर्म करता रहूंगा. भक्तिका मेरे हृदयमें बीजभाव है तो मैं भक्ति करता रहूं. तो इस लीला भावसे मैं भक्ति करूं तो भक्तिमें कभी चिंता नहीं हो. प्रभु जो लीला कर रहे हैं उसकी प्रतिध्वनि हमारे हृदयमें पड़नी चाहिये कि सभी लीलारूप चल रहा है. प्रभु हमको पुकार रहे हैं. उसीकी प्रतिध्वनिरूप हम प्रभुको पुकारने लग जायें उसीका नाम भक्ति.

इस प्रकार जब हमें जो पुकार आती है उसे हम कृपा कहते हैं. और प्रभु जो कृपा कर रहे हैं उसका हमारे हृदयमें प्रतिबिम्ब पड़े भक्तिरूप, उसका नाम है पुष्टिभक्ति. प्रभुने जो ध्वनिकी वह पुष्टि और अपने हृदयमें जो प्रतिध्वनि हुवी वह पुष्टि भक्ति. अंतर केवल इतना ही है. पुष्टि पभुकी एक है. पुष्टि करनेके बाद प्रभु तुम्हारे पाससे कोई अपेक्षा नहीं रखते कि मैं पुष्टि करता हूं उसके बदलेमें तुम्हें इतनी इतनी सामिग्री करनी होगी. क्योंकि प्रभुने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि मैं यदि तुमपर पुष्टि न करूं तो मुझे कोई हानि नहीं और करूं तो मुझे कोई लाभ भी नहीं. तुम भक्तिसे मुझे पत्र, पुष्प फल जल जो अर्पण करते हो उसका मैं उपभोग करता हूं. लेकिन यदि हम अर्पित नहीं करें तो क्या प्रभु भूखे रह जाते हैं? प्रभु भूखे हैं तभी तो नहीं आरोगते. हमारे यहां कहावत है **प्रभु भावके भूखे हैं इसलिये आरोगते हैं, वस्तुके भूखे नहीं हैं. भावके भूखे अर्थात? तुम्हारे हृदयमें पुष्टिकी**

प्रतिध्वनि पड़ती हो तो प्रभुको उसका सुनना अच्छा लगता है. जिस प्रकार echo point **पर हमको अपनी आवाज अच्छी लगती है तो आनंद आता है. ऐसा ही लीलात्मक आनंद प्रभुको चाहिये.**

वेदान्तदेशिक बहुत सुन्दर कहते हैं कि **अपने तोतेको हम सिखाते हैं, मिट्ठू बोलो और जितना उसको हम सिखाते हैं उतना ही बोलता है, लेकिन जब वह बोलता है तो हमको आनंद आता है. पर इससे क्या लाभ मिला? तोता नहीं बोला होता तो क्या नुकसान हो जाता हमको? लीला है यह.** हमारी वाणीकी तोतेकी वाणीमें प्रतिध्वनि कैसी पड़ती है, यह लीला देखनेमें हमें आनन्द आता है. इसी तरह प्रभुकी पुष्टिका प्रतिबिम्ब हमारे हृदयमें कैसा पड़ता है यह देखनेमें उन्हें आनंद आता है. इसीलिये प्रभु कहते हैं **समोहम् सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रिय: ये भजन्ति तु मां भक्तया मयि ते तेषु चाप्यहम्.** मेरेलिये सभी समान हैं. लेकिन जो भक्तिसे मेरा भजन करता है वह मेरेलिये है और मैं उसकेलिये हूं. इसलिये echo point पर खड़े होकर अपनी आवाज सुनना जैसे मुझे अच्छा लगता है वैसा है. पत्थरमेंसे कोई दूसरो आवाज तो निकलती नहीं, वह ही आवाज निकलती है जो मैंने दी. इसी तरह हमारे हृदयमें से जो भक्ति प्रकट हुई है वह कोई अलग वस्तु नहीं. प्रभुने जो कृपाकी उसका ही प्रतिबिम्ब है.

इस प्रतिबिम्ब रूपमें हम भक्तिको स्वीकारेंगे तो स्वयं ही हमारा अहं नष्ट हो जायगा. जब मरे हृदयमें ऐसा भाव प्रकट हो कि मुझे भक्ति करनी है और मैं भक्ति

करके प्रभुको वशमें कर लूंगा जैसे ब्रजभक्तोंने किया और फिर पांच दस दिन रसगुल्ले धराऊं, फिर देखूं कि बसमें क्यों नहीं होते? अरे रसगुल्लेसे कोई भगवान वशमें होते हैं क्या? यह तो उनकी पुष्टिका तुम्हारे हृदयमें प्रतिबिंब पड़े उसीसे वश होते हैं. उनकी पुष्टिका तुम भक्ति रूप प्रतिबिंब डालो तो उनको आनंद आ जाए. वह तुरन्त कबूल कर लें कि सभी point पर मैं घूमा लेकिन echo point पर बहुत आनंद आया. मैंने ही आवाज दी और मुझे ही सुनाई दी. और जगह तो मैंने आवाज दी तो केवल दूसरोंने सुनी, लेकिन यहां तो मेरी आवाज मुझे ही सुनाईदी. बस मजा आ गया. यह निश्छल बाल लीला है.

जिस प्रकार हम अपना चेहरा कांचमें देखें तो बस मजा आ जाता है. Psychologist कहते हैं कि सभी बाथरूमके कांचमें विविध मुद्रामें अपने चेहरे देखते हैं. यह देखनेमें क्या मजा आता है? देखनेसे लाभ भी क्या? और न देखनेसे हानि भी क्या? लेकिन लीला है. मेरा सौन्दर्य मैं देखूं उसका आनंद आता है. क्या देखनेसे सौन्दर्य बढ़ जाता है? दर्पणमें सौन्दर्य नहीं देखा होता तो क्या सौन्दर्य घट जाता? लेकिन मेरा सौन्दर्य मैं दर्पणमें देखूं उसका मुझे आनन्द आता है. मेरी आवाज मैं सुनूं उसका मुझे आनन्द आता है. प्रतिबिंबका भी ऐसा आनन्द है. इसी प्रकार पुष्टिका प्रतिबिंब भक्तिमें पड़े उसका प्रभुको आनन्द आता है. इसलिये भगवान कहते हैं **तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामिप्रयतात्मनः**. यह भक्तिसे उपहृत हो तो फिर रसगुल्ला हो या छोला या मिश्री **तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयताम्तनः** वार्ता पढ़ो

तो पता चलेगा कि कभी भगवदीयोंने खाली जलकी झारी ही प्रभुको धरी. दूसरा कुछ धरनेको नहीं था. और प्रभुने आनन्दसे जल आरोगा. क्यों? इसमें नेग भोगका प्रश्न नहीं था कि नेग इतना माना था वह अब घट गया. यह जलकी लोटी **भक्त्युपहृत** थी. भक्तिके भावसे प्रभुको धरी गई थी.

महाबलेश्वरमें और भी बहुतसे स्थान हैं घूमनेके, परन्तु echo point का ऐसा मजा है कि बड़े बड़े ज्ञानी भी वहां जायें तो थाड़ा खेल खेलनेकी इच्छा हो जाये, एक बार आवाज लगानेकी इच्छा हो जाये. उसी प्रकार प्रभुके लिये सभी एकसे हैं. ज्ञानी भी वैसे ही हैं, कर्मी भी वैसे ही हैं और भक्त भी वैसे ही हैं, संसारी भी वैसे ही हैं. पर जिनमें पुष्टिका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका तो बस प्रभुको आनन्द ही आ जाता है. वह आनन्द ही हम प्रभुको देते हैं. मुझे तो नहीं करनी, तुझे मुझसे जितनी भक्ति चाहिये उतनी भक्ति तू मुझसे लेले प्रभु. मैं अपना कर्तापना, अपनी देहकी सामर्थ्य, अपनी इन्द्रियोंकी सामर्थ्य, चेष्ठाकी सामर्थ्य और जो देव है वह सभी तुझे समर्पित करता हूं. अब इसमेंसे जितना तुझे रुचे उतना तू लेले.

परोसनेके बाद उसे जो अच्छा लगे वह उसे खाने दो. केवल पूछते रहो कि यह लाऊं? वह लाऊं? पर जो हम चौकीदारी करें कि यह क्यों नहीं खाया वह क्यों नहीं खाया? तो क्या कहीं हिसाब रखना होता है इसका? दोनोंको टन्शन हो जाये. हमसे सहज रीतिसे हो सके उतनी भक्ति करेंगे तो प्रभुको भी खानेका स्वाद आयेगा, पर भक्तिमें चौकीदारकी तरह खड़े रहोगे

तो टेन्शन होगा ही. हृदयमें ऐसी उन्मुक्तता रखनी चाहिये कि मैंने सभी कुछ समर्पित किया है; उसमेंसे जो रुचे जैसा रुचे वह तू स्वीकार. आत्मनिवेदनका ऐसा भाव जो हमारे हृदयमें स्पष्ट हो गया तो फिर हमें चिंता नहीं होगी. इसीसे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति**। कोई भी चिंता कभी भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि तुमने आत्मनिवेदन किया है, तुम्हारे पांचा पांच अंग तुमने श्रीठाकुरजीको समर्पित कर दिये हैं; कर्ता, भोक्ता और दृष्टापनेका भाव भी तुमने इनको समर्पित कर दिया है. इसमेंसे जो रुचेगा उसका वह उपभोग करेंगे. जो रुचे वह आनंदसे खिलानेकी तुम्हारी वृत्ति होनी चाहिये. उसका हिसाब रखोगे तो चिंता बढ़ेगी ही. उन्हें भी शायद शर्म आ जायेगी कि यह तो हिसाब रखता है कहीं बादमें बिल तो नहीं पेश कर देगा!

आज तो पेइंग गैस्टका जमाना है. यह बहुत विचित्र पद्धति है. तुम्हें घरमें मेहमानके रूपमें रखा जायेगा लेकिन तुम्हें मेहमान होनेका पैसा चुकाना पड़ेगा. इस तरह हमें अपने घरको होटल है यह कहनेमें शर्म आती है इसलिये पेइंग गैस्ट रखते हैं. अरे भाई नंगे हो जाओ न एक बार कि घर नहीं होटल है. लाइसैन्स्वाला लॉजिंग बोर्डिंग नहीं, प्राइवेट है. लेकिन हम शब्दोंको घड़कर छलते हैं कि हमारे यहां पेइंग गैस्ट रहते हैं. रहने खानेकी पूरी सुविधा लेकिन बादमें उसका बिल पेइंग गैस्टको दे देते हैं. तो क्या भगवानको पेइंग गैस्टके तरीकेसे बुलाना है? कितनी भक्ति करी? कितना नाम जपा? कितना नेग भोग राग करा?

उसकी क्या रसीद फाड़नी है? आज लोग कहते हैं एक रुपयेकी भेंट लिखाई मंदिरमें तो जरा सा लड्डू भी नहीं दिया. अरे तो भेंट ही क्यों धरी? धरनी ही नहीं चाहिये थी. क्या पेइंग गैस्ट समझ रखा है प्रभुको? उनको घरका स्वामी मानकर घरमें भोग धरना चाहिये. लेकिन लोग जानकर मंदिरमे जाकर भेंट लिखाते हैं और फिर लड्डू मांगते हैं. प्रभुको पेइंग गैस्टकी तरह ट्रीट करते हैं. पूरा माहौल ही खराब हो गया है. हमारे भोक्तापनेमें कुछ गड़बड़ हो गई है. उसको सुधारना पड़ेगा. नहीं सुधारेंगे तो भक्तिमें अधिक चिंताऐं उपस्थित हो जायेंगी. इसलिए आत्मनिवेदनके भावको अच्छी तरह समझ जाओ फिर तुमको भक्तिमार्गमें अग्रसर होनेमें कभी चिंता नहीं होगी. ऐसा श्रीमहाप्रभुजी आश्वासन देते हैं.

अब थोड़े प्रश्नोत्तर कर लें.

प्रश्न: मलाडमें कई वैष्णव ऐसे हैं कि जो अपने ठाकुरजीके सामने दूसरे वैष्णवोंको ब्रह्मसंबंध कराते हैं. ऐसा हो सकता है कि नहीं? खुलासा करेंगे क्या?

उत्तर: हिन्दुस्तानकी यह खासियत है कि हम किसी भी व्यवस्थाको मानना नहीं चाहते. तोड़ ही देते हैं और जब तकलीफ होती है तो रोते हैं. एक कहावत है कि कुएमें भांग घोलें तो घोटनेवालेको भी नशा चढ़े और जो न घोटे उसे भी नशा चढ़े. ऐसा ही हो गया है. बसकी लाइनमें खड़ा रहना हमें अच्छा नहीं लगता और लाइन तोड़े बिना काम नहीं चलता. बादमें बसमें चढ़नेमें भीड़ हो कोई धक्का मारे तो हम शिकायत करते हैं कि कितनी भीड़ बढ़ गई है. अरे लेकिन भीड़

बढ़ाई किसने? तुमने लाइन नहीं तोड़ी होती तो क्या भीड़ बढ़ती? प्रवचन करतेमें मैं चरणस्पर्श नहीं देता उसका मुख्य कारण भी यही है. हमारे यहां शिष्टतासे चरणस्पर्श करनेकी पद्धति ही नहीं है. एक चरणस्पर्श करे तो दूसरा उसके ऊपर गिरे. दूसरा गिरे तो तीसरा उसके ऊपर गिरे. हमारे दादाजीके पैरमें घाव हो गया था तो दादाजीने चरणस्पर्श करनेवालोंके वर्गीकरण कर दिये थे. दूरसे ही दिखा देते थे कि वह चरणस्पर्श करेगा वह चरण प्रहार करेगा, वह चरण दंश करेगा, वह चरण पेषण करेगा. फुरसत ही नहीं है दर्शन करने जो दौड़ना है. दादाजी बिराजते तो ऐसा करके चले जाते पर उनको दुख हो उससे उन्हें क्या? इसलिये दादाजी खिड़कीमेंसे देखकर कि चरण पर प्रहार करनेवाले आरहे हैं तो चरणको इस प्रकार रख लेते थे. पहलेसे तैयारी कर लेते थे जिससे घाव नहीं दुखे. हम ऐसी जल्दबाजी करते हैं कि चरणस्पर्शको चरणस्पर्शकी तरह न करके प्रहारकी तरह, दंशकी तरह, पेषणकी तरह करते हैं. बैठकजीमें भी झारी धरनेमें ऐसी ही धांधल होती है कि एक झारी धरे और दूसरा जल धरनेकेलिये झारी पधरा ले. महाप्रभुजीको जल आरोगनेका मौका ही न मिले.

इस प्रकार सभी नियम हम तोड़ देते हैं, फिर ऐसा कहते हैं कि यह हो गया. रेलगाड़ीमें टिकिट न मिले तो दस पांच रुपये देकर बैठ जाते हैं; नियम किसने तोड़ा हमने ही ना!! हमने नियम तोड़ा और वह किसी दूसरेको भी बिठा ले तो हमें गुस्सा आता है. **सरकारमें भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया है, सीटसे ज्यादा आदमी**

बैठाने चाहियें क्या? अरे लेकिन तुम किस तरहसे रेलगाड़ीमें घुसे थे? हम अपने आपको तो गिनते ही नहीं हैं. बहुत बार ट्रैफिक जाम हो जाय तो कार चलानेवाले कहते हैं **साली ट्रैफिक कितनी बढ़ गई है.** लेकिन तुम्हारी कार न होती तो क्या बढ़ती? इस प्रकार हम अपनी गाड़ीको तो नहीं गिनते और दूसरी सभी गाड़ियोंको गिनकर शिकायत करते हैं कि ट्रैफिक बढ़ गया. ऐसी स्थिति हो गयी है, नियम तोड़नेकी प्रवृत्तिके कारण. यह वृत्ति दूसरी बातोंकी तरह धर्मपर भी लागू होती है. संस्कृतमें तो कहावत है **तिष्ठं मूत्रस्य इहगुरो धावन मूत्रानुवर्तिन** नियमके अनुसार बैठकर पेशाब करना चाहिये था लेकिन घुटना अकड़ जानेके कारण गुरुजीने खड़े होकर पेशाब किया तो चेलेने देखा कि अच्छा खड़ा रहकर पेशाब किया जा सकता है तो उसने दौड़ते हुए पेशाब किया. इसी प्रकार किसी बालकने ठाकुरजी बगैर ब्रह्मसंबंध दिया, किसीने व्रत कराये बिना ब्रह्मसंबंध दिया, किसीने माइक और लाउडस्पीकरकी मददसे एक साथ दो हजार वैष्णवोंको ब्रह्मसंबंध दिया, किसीने जल्दबाजीके कारण **आज ब्रह्मसंबंध लेलो कल व्रतकर लेना** ऐसा कहा, कहीं बेटीजीने जो ब्रह्मसंबंध नहीं दे सकतीं तब भी दिया, कोई शास्त्रीजी ब्रह्मसंबंध देने लगें तो फिर **धावन मत्रानुवर्तिन**. वैष्णव कहते हैं हम कैसे पीछे रह जायें. सब ले लें तो हम कैसे पीछे रह जायें. जिनके घर ठाकुरजी बिराजते हों वह भी ब्रह्मसंबंध देने लगे.

अब हमको इसमें निर्णय करना है कि क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये. हमको तो एक बात

समझनी है कि **चित्तोद्वेग विधायापि हरिर्यद्यत करिष्यति, तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंताम् द्रुतम् त्यजेत**। छोड़ दो चिंता. जो दे रहा है वह कोई ऐसा अनुयायी है जो दौड़ते दौड़ते कर रहा है. भगवानकी लीलाका यह भी एक पक्ष है. हमारे चित्तमें उद्वेग हो तो श्रीमहाप्रभुजी नवरत्नके आठवें श्लोकम आज्ञा करते हैं कि जल्दीसे चिंताको मनमेंसे निकाल दो. क्योंकि प्रभु सब तरहकी लीला कर सकते हैं. बुद्धि प्रेरक तो कृष्ण ही हैं न? भगवान उनको सद्बुद्धि दे अथवा भगवानको जैसी लीला करनी हो वैसी करें. हम इसमें क्या खटपट कर सकते हैं? हम सिद्धांत क्या है इसको अवश्य समझ सकते हैं और स्वयं उस प्रकार आचरण यथा शक्ति करनेका प्रयास कर सकते हैं. श्रीमहाप्रभुजी सर्वनिर्णयमें आज्ञा करते हैं **कृष्ण सेवापरं वीक्ष्य दंभादि रहितं नरं. श्रीभागवत तत्वज्ञं भजेत जिज्ञासुरादरात्**. गुरु कृष्ण सेवापरायण दंभादि रहित नर और भागवतके तत्वको जाननेवाला है ऐसा भली प्रकार जानकर ही उनसे ब्रह्मसंबंध लेना चाहिये. गुरु सेवाकरनेवाला होना चाहिये. क्यों? तो आचार्यचरण समझाते हैं कि जो तुमको कह रहा है कि **चढ़जा बेटा सूली पर भली करेंगे राम** वह स्वयं चढ़नेको तैयार है कि नहीं? जो तुमको सेवा करनेका उपदेश दे रहा है, सेवाकी दीक्षा दे रहा है, स्वयं सेवाको उत्तम मानता है तो स्वयं सेवा क्यों नहीं करता? **यो हि गुरुः सेवामुपदेश्यति स स्वयं चेत् तां उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्यात्? इति सेवापर एव गुरुः तत्रापि निमित्तानि वारयन्ति दंभादिरहितं इति**. इस प्रकार सेवा तो करता हा

लेकिन भीड़ इकट्ठी करने, प्रचार करने, यशकेलिये, आजीविकाकेलिये, जनताके हितकेलिये, चेले इकट्ठे करना आदि हेतुओंसे सेवा करता हो तो वह गुरु बननेके लायक नहीं है. इस तरह मार्गके सिद्धांतानुसार कृष्ण सेवा करनेमें परायण और श्रीभागवतके तत्वको जाननेवालेसे ही ब्रह्मसंबंध दीक्षा लेनी चाहिये. यह तो हुई सिद्धांतकी बात. मार्गकी प्रणालीके अनुसार, बल्लभकुलके गोस्वामी बालक ही ब्रह्मसंबंध और अष्टाक्षर दीक्षा देते हैं. तुम्हारे बड़े लोगोंने जिनसे ब्रह्मसंबंध लिया हो उनसे तुमको लेना चाहिये. और मैंने तुमको समझाया था **गुर्वभावे तत्पुत्र, तदभावे तत्पत्नी, तदभावे तत्कुलं**.

ब्रह्मसंबंध यह सेवा करनेकी दीक्षा है. एक व्यक्तिने प्रश्न किया है कि पहले भी कितने ही वैष्णव ब्रह्मसंबंध लेकरके सेवा नहीं करते थे और आज जो आप सेवाकेलिये ही ब्रह्मसंबंध देनेका आग्रह रखते हो तो हम तो फंस जावेंगे, हमारा तो ब्रह्मसंबंध ही नहीं होगा. मुझे इस प्रश्नको दो भागोंमें बांटना पड़ेगा. कितने ही लोगोंने जिन्हें सेवा नहीं करनी है परन्तु उन्होंने ब्रह्मसंबंध ले लिया है उन व्यक्तियोंके उदाहरणसे यदि तुम बात करते हो तो मैं एक ही जबाब दूंगा कि उस व्यक्तिने क्या किया इसका खुलासा तो मैं दे नहीं सकता. उस व्यक्तिसे अथवा उसके गुरुसे तुम्हें पूछना समझना चाहिये. सिद्धांतत: तुमको जानना हो तो यहीं नवरत्नके पहले श्लोकमें श्रीगुसांईजी स्पष्ट खुलासा दे रहे हैं कि **दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् एवं धर्मै: मनुष्याणां उद्धवात्मनिवेदिनाम्**

मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थास्यावशिष्यत' इत्यादि वाक्यैः तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत्. अर्थात् आत्मनिवेदन करनेके पश्चात भक्ति ऐसी खिलती है कि उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता और न ही प्राप्तव्य. मतलब कि भजनेच्छुको आत्मनिवेदनकी दीक्षा अवश्य लेनी चाहिये. आत्मनिवेदन यह श्रीगोकुलेशकी सेवाका साक्षात अधिकार है. जैसे ब्राह्मण जनेऊ न ले तब तक उसे संध्या करनेका अथवा यज्ञादि करनेका अधिकार नहीं मिलता वैसे ही जब तक हम ब्रह्मसंबंध न लें तब तक सेवाका अधिकार नहीं मिलता. **निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजन सिद्ध्यर्थमावश्यक व्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः अन्यथादारपरिग्रहोत्तरक्षणे एव तन्निवेदने कृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः** जो तुम निवेदन करनेके पश्चात सेवा नहीं करते तो तुम्हारा निवेदन व्यर्थ गया. निवेदन करनेके बाद असमर्पित वस्तुका उपभोग तुम कर रहे हो तो तुम्हारा निवेदन व्यर्थ गया. यह कोई श्यामुबाबाकी आज्ञा नहीं है, श्रीगुसांईजी आज्ञा कर रहे हैं. यदि कोई गुनाह है तो श्रीगुसांईजीका है, मेरा नहीं. अर्थात कि यह पद्धति थी पहले.

आजकल लोग ऐसे उस्ताद हैं कि स्वयं तो कुछ करेंगे धरेंगे नहीं और नौकरोंसे ठाकुरजीकी सेवा, परिचर्या सभी कुछ करायेंगे. आजकल ऐसा ही हो गया है. एक वैष्णवने जबरदस्त शिल्प कलाकृतिका देखने लायक मंदिर बनवाया और बहुत ही वैभवसे सेवा

पधराली. मुखिया, भीतरिया, जलघरिया रख लिये. जैसे ग्रहण उतरे ऐसे ही ट्रस्ट बनाकर सारा ग्रहण उतार दिया ठाकुरजीका, बस ज्यादा खटपट नहीं. अब हुवा क्या कि जो मुखियाजी थे उन्हें हार्टअटैक आया और वह श्रीनाथजीके चरणोंमें पधारे. दूसरे किसी मनुष्यको सेवामें नहलाकर पहुंचाया. तो वह जब अंदर गया तो शैया मंदिरमें सिगरेटके ठूंठ, प्याजके छिलके वगैरह मिले. अब यह मुखियाजीकी लीला थी कि ठाकुरजीकी यह तो ठाकुरजी ही जाने. इन वैष्णवने मुझे चिट्ठी लिखी कि महाराज ठाकुरजीको महान श्रम हो गया है आप जल्दी ही यहां आकर सारी शुद्धि करा दो. मैंने कहा **एक ही शर्त पर शुद्ध करने आऊंगा कि जिसके ठाकुरजी हैं उसके घर उसके माथे ठाकुरजी बिराज जावें. नहीं तो भूत गया तो प्रेत आयेगा. एक मुखियाको हार्टअटैक आया तो दूसरेको कदाचित ब्रेनअटैक आयेगा. इसलिये इसमें कोई छुटकारा होना नहीं है.**

ठाकुरजी ऐसे अनाथालयमें फंस गये है. यदि बालकको उसके मां बाप पालना नहीं चाहते हों एवं अनाथालयमें भर्ती करा दें तो उस बालककी ऐसी ही गति होती है. अपने आप सेवा करो. किसलिये दूसरेसे सेवा कराते हो. ठाकुरजीको क्या गरज है तुम्हारे नौकरोंसे सेवा लेनेकी, यदि तुमको सेवा करनेकी इच्छा नहीं होती तो? तुम बहुत बड़े सेठ हो तो भी ठाकुरजीके आगे तुम्हारी क्या बिसात? **किम् आसनम् ते गरुणासनाय किम् भूषणं कौस्तुभभूषणाय. लक्ष्मी कलत्राय किम् अस्ति देयं वागीश किम् ते वचनीयम्**

अस्ति. आचार्य चरण ऐसी आज्ञा करते हैं कि जो गरुड़ासन पर बिराजते हैं उनको उससे अच्छा कौनसा आसन तुम दे सकते हो? जो कौस्तुभ मणि धारण करते हैं उनको उससे अधिक अच्छा क्या शृंगार तुम धरा सकते हो? लक्ष्मी तो उनकी पत्नि है तुम उनको क्या पूंजी या फिक्स डिपोजिट दे सकते हो कि जिससे सेवा चले? तुमको कोई भ्रमणा है. यह कोई सेवामार्ग नहीं. **कृष्णसेवा सदाकार्या मानसी सा परामता चेतस्तत प्रवणं सेवा तत्सिद्धैः तनुवित्तजा**. तुम्हारे तनसे, तुम्हारे धनसे सेवा होती हो तो करनी नहीं तो नहीं करनी. यह किरायेकी सेवासे उत्तम है. सेवा नहीं होती हो तो ब्रह्मसंबंध नहीं लेना चाहिये.

पत्नीकी तरह साथ नहीं रहना हो तो विवाह नहीं करना चाहिये. विवाह करलो और कहो कि खाना नहीं बनाना पड़े, तब तक तो कोई परेशानी नहीं चलो एक नौकर रख लेंगे. लेकिन साथ तो रहोगे कि नहीं. **ना हम तो पीहर रहेंगे**. अरे, तो विवाह ही क्यों किया. विवाहके बाद साथ नहीं रहना तो फिर विवाहका क्या लाभ? एकके बदले दो घर बिगाड़े. विवाह नहीं किया होता तो तुम जैसे थे वैसे थे लेकिन विवाहके बाद एक मनुष्य फंस गया बेचारा. इसलिये आचार्यचरण आज्ञा करते हैं **प्रौढापि दुहिता यदवत् स्नेहात् न प्रेष्यते वरे, तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा**. तुम लड़कीका विवाह कर दो और ससुराल न भेजो. इस प्रकार यदि देहके साथ व्यवहार करोगे तो फिर निश्चित समझो कि वह तुमको तलाक देदेगा. ऐसी लड़कीको रखनेमें उनको बहुत रुचि नहीं होगी जो विवाहके बाद पीहर

रहती हो, ससुराल आती ही न हो. इसलिये ऐसी स्थितिमें ब्रह्मसंबंध न लेना ही बेहतर है. तुम विवाहित नहीं हो तो कौन तुमको पूछता है कि पीहर रहते हो कि ससुराल. लेकिन विवाहके पश्चात तो बाप भी दुखी हो कि विवाह तो किया पर वापस आ गयी और वह भी दुखी कि विवाह तो किया पर रहने नहीं आयी. इस प्रकार **इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट** धोबीका कुत्ता घरका ना घाटका. ऐसी स्थिति हमारी हो जाती है जब हम ब्रह्मसंबंध लेकर सेवा नहीं करते. विवाहके बाद ससुराल नहीं जानेकी इच्छा हो तो ब्रह्मसंबंध ही नहीं लेना चाहिये.

तुम लिख रहे हो **जीवकी आत्माका उद्धार किस प्रकार हो ? स्वरूपके साथ संबंध किस प्रकार हो?** अरे, लेकिन स्वरूपके साथ रहोगे ही नहीं तो स्वरूपके साथ संबंध किस प्रकार होगा. संबंधका अर्थ वचन देकर हस्त मिलाप करके **आना** कह देना? स्वरूप संबंधका अर्थ है हस्तमिलापके बाद हाथके साथ रहना. अलग नहीं होने देना. हाथ छुड़ाकर **आना** कह देना छलावा है. तुम अपने आपको छल रहे हो. जो दूसरोंको छले उसमें कमसे कम यह तो गुण है कि वह बुद्धिमान है, वह छल सकता है. तुम तो स्वयंको ही छल रहे हो. कैसे बुद्धिमान हो सकते हो?

आजकल तो ऐसा चलता है कि **धावन मूत्राणुवर्तिन** बालक कृपा करके जिसको सेवा नहीं करनी हो उसे भी ब्रह्मसंबंध देदेते हैं. वह हित विचार कर दूरदृष्टिसे देते होंगे ऐसी मेरी निश्चित श्रद्धा है लेकिन सिद्धांतकी बात जब तुम मुझसे पूछोगे तो एकबार नहीं हजार बार

यही कहना पड़ेगा कि सेवा नहीं करनी हो तो ब्रह्मसंबंध नहीं देना चाहिये और ना ही लेना चाहिये, क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी श्रीगुसांईजीकी आज्ञा है.

किसीको चिंता हो कि हम ब्रह्मसंबंध लेकर सेवा करते थे लेकिन अब उमर होनेसे अशक्ति या ऐसे अन्य कारणोंसे सेवा नहीं कर सकते तो? तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि चिंता नहीं करनी क्योंकि सोचो कि विवाहके बाद हम ससुरालमें रहते हों लेकिन ऐसी बीमारी आ जाये कि पतिका कोई भी काम न कर सकें तो पति कोई ऐसा क्रूर नहीं कि छोड़ दे. हमारा पति तो बहुत दयालु है. खैर यह तो आगे नवरत्नमें आयेगा. मुझे अभी कहना नहीं है लेकिन इतना निश्चित समझो कि जो व्यक्ति सेवा करनेको तैयार नहीं ह उसे ब्रह्मसंबंध नहीं लेना चाहिये. श्रीगुसांईजी स्पष्ट आज्ञा करते हैं **विचार्येव सदा देये कृष्णनाम विषेशत: अविचारित दानेन स्वयं दाता विनष्यति**. जो बिना विचारे भगवत्मार्गकी दीक्षाका दान करते हैं वह नष्ट हो जाती है उसका सर्वनाश हो जाता है. दान लेनेवाला हो तो हो पर दान देनेवाला भी नष्ट हो जाता है. इसलिये कमसे कम जो बालक तुम्हें ब्रह्मसंबंध दे रहा है उसका सर्वनाश, अहित न होजाय यह विचार कर तुमको ब्रह्मसंबंध नहीं लेना चाहिये जो तुम्हारी सेवा करनेकी तैयारी न हो तो. श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धांत तो यह ही है. प्रमेय बलसे जो बालक जो आज्ञा करें तो उसका खुलासा तो मेरे पास नहीं हो सकता. तुम्हें तुम्हारे गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही चलना चाहिये. यह खुलासा साथ ही कर देता हूं तो जब ब्रह्मसंबंधके नाम

पर इतने कांड चल रहे हैं तब एक और की उसमें वृद्धि सही. तो वैष्णव ब्रह्मसंबंध दें तो हमका इसकी चिंता नहीं करनी चाहिये **तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंतां द्रुतं त्यजेत**.

प्रश्न: घरका नौकर या जो घरका पानी भरता हो रसोई करता हो, उसको प्रभुके प्रति भाव नहो लेकिन अपनी सुविधाके लिये उसे ब्रह्मसंबंध दिलाना चाहिये कि नहीं?

उत्तर: मुझे अतिशय प्रसन्नता हुई कि तुमने यह प्रश्न पूछा. आज वास्तवमें सभी स्थानोंमें यह समस्या दिखाई दे रही है. एक बेचारा मनुष्य नौकरी करने आया हो, उसकी किसी न किसी तरहकी आर्थिक विपन्नता रही होगी इसलिये सहज संभव है कि तुम्हारे कृष्णमें उसकी सहज निष्ठा न हो. राम, शिव, देवी, या गणपतिमें निष्ठा हो तो भी वह ब्रह्मसंबंध लेनेकेलिये तैयार हो ही जायेगा. लेकिन यह पेट भरनेकेलिये तुम्हारे यहां नौकरी करने आया और तुम उसका धर्म खरीदो कितने क्रूर राक्षस हो तुम, ऐसी क्रूरता हमसे नहीं हो सकती. तुमने जो गाय या भैंस तुम्हें दूध दे रही है उसे ब्रह्मसंबंध दिलाया है क्या? यहां जोगेश्वरीकी कितनी भैंसोका दूध तुम पीते हो किसीको ब्रह्मसंबंध दिलाया है क्या? यदि नहीं तो इनका दूध भी मत पीयो. और जो गाय भैंसका दूध तुम उनको ब्रह्मसंबंध दिलाये बिना लेते हो तो फिर जो नौकर तुम्हारे यहां आया है उसका धर्म मत खरीदो. उसको यदि वास्तवमें तुम्हारे ठाकुरजीकी सेवा करनेकी श्रद्धा हो तो ही ब्रह्मसंबंध दिलासकते हो. तुम पैसे वाले हो

तो दूसरेका धर्म खरीदोगे? यह शुद्ध राक्षसी वृत्ति है. दैवी वृत्ति नहीं. धर्म खरीदने या बेचने जैसी वस्तु नहीं. यह बेचारा तुम्हारे यहां धर्म बेचने नहीं आया. नौकरी कर पेट पालने आया है. **महाराज पेट लाग्यो है तासों व्यावृत्ति करन जात हों, धर्म विक्रयकेलिये नाहीं जात हों**. इस तरह किसीका धर्म कभी खरीदा नहीं जा सकता. इससे अधिक क्रूर पाप दूसरा क्या हो सकता है और उसी कारणसे जब तुलसीदासजी गोकुल आये और कृष्णके पद गाने लगे तब गुसांईजीको टोकना ही पड़ा कि **तुम जैसे कृष्णके पद गाते हो वैसे तो हमारे यहां आठ आठ हैं, पर तुम्हारे जैसे रामचन्द्रजीके पद गाने वाला हिन्दुस्तानमें दूसरा कोई नहीं. इसलिये तुम अपने रामके ही पद क्यों नहीं गाते? तुम रामके भक्त हो तो रामके पद ही गाओ. हम कृष्णके भक्त हैं तो कृष्णके पद गायेंगे. इसीमें कृष्ण और रामकी शोभा है और इसमें ही तुम्हारी और हमारी शोभा है. हमको खुश करनेकेलिये तुम कृष्णके पद मत गाओ.** तुलसीदासजी जैसे परमभगवदीयको भी श्रीगुसांईजीने टोका तो महाराज इन रामा या घोंडू या पांडूको जबरदस्ती ब्रह्मसंबंध दिलवायें तो श्रीगुसांईजी क्या विचारेंगे, यह तो तुम कभी सोचो. जब तुलसीदासजी जैसी कोटीके भगवदीयको श्रीगुसांईजीने टोक दिया तो क्या श्रीगुसांईजीको किसीका धर्म खरीदना पसंद आ सकता है?

तुमने नियम लिया कि जिसने कंठी न ली हो उसके हाथका पानी नहीं पीना तो तुम निभाओ या फिर ऐसा कठिन नियम लो ही नहीं जो तुमसे न निभे. जो निभे

वैसा ही नियम लेना चाहिये. गलत नियम तुम ले लो और जबरदस्ती किसी गरीबका धर्म खरीदो इससे अधिक क्रूरता दुनियांमें दूसरी नहीं हो सकती. व्रत हम जितने लें वह अच्छी बात है उसमें कोई बुराई नहीं है. मैं नियम लेनेकी वृत्तिको खराब नहीं मानता. कोई ऐसा नियम लेले कि जिसने ब्रह्मसंबंध न लिया हो उसके हाथका मैं पानी नहीं पीऊं तो अच्छी बात है. अवश्य लो ऐसा नियम लेकिन इतना ध्यान रखो कि किसी दूसरेपर इस कारण जबरदस्ती न हो. जिस प्रकार तुम्हारा धर्म तुम्हारी आत्मामेंसे उत्स्फूर्त होना चाहिये उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यका धर्म उसकी आत्मामेंसे उत्स्फूर्त होना चाहिये. यह कोई कुत्तेके गलेकी चेन नहीं है कि हमारे घर आया है तो उसे बांध दो. कंठोकी महत्ताको समझो. यह कोई कुत्तेकी चेन नहीं, मनुष्यकी आत्मासे संबंध धरानेवाली वस्तु है. देहसे संबंध धरानेवाली वस्तु नहीं है. किसीकी आत्मिक अभिरुचि तुम्हारे इष्ट देव या मार्गके प्रति न हो तो उसको ब्रह्मसंबंध दिलवाकर उसका धर्म मत खरीदो. और यदि हम अपने धन बलसे, धन मदसे धर्म खरीदते हों तो हमारे जैसा क्रूर व्यक्ति कोई नहीं. इसलिये ऐसा पाप कभी नहीं करना चाहिये.

प्रश्न: हम समूहमें बैठकजी जावें तब श्रीमहाप्रभुजीको सखडी आरोगानी हो तो क्या करना चाहिये? बालक साथमें न पधारे हों तो क्या करना चाहिये?

उत्तर: बालक यदि नहीं पधारें हो तो सखड़ी भोग कभी नहीं धरा जा सकता क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीका ऐसा नियम था कि दूसरे किसी भी व्यक्तिके हाथकी सखड़ी

नहीं आरोगनी. बहुतसे लोगोंको ऐसी आदत होती है कि नियम तोड़े बिना उन्हें चैन नहीं आता. इसलिये श्रीमहाप्रभुजीका स्वरूप पुरुषोत्तमका स्वरूप; इसलिये फिर क्या करते हैं कि पलना झुलाते हैं, कुलह धराते हैं, सूथन धराते हैं, फिर छप्पन भोग धराते हैं. क्यों? हमारा पुरुषोत्तमभाव है. श्री महाप्रभुजीमें तो स्वामिनीजीका भी भाव है तो फिर साड़ी क्यों नहीं धराते, चोली क्यों नहीं धराते? स्वामिनीजीका भाव नहीं है क्या महाप्रभुजीमें? महाप्रभुजीमें तो एक नहीं सैंकड़ो भाव हैं. इन सब भावोंसे तुम सेवा करने लगो तो महाप्रभुजीका स्वरूप ही विकृत हो जायेगा. कभी शांत चित्तसे इतना ता विचारो भले मानसों कि जो, पुरुषोत्तम आचार्यरूपम प्रकट हुवे तो वो आचार्य रूपमें ही सेवनीय हैं, पुरुषोत्तम रूपमें उनकी सेवा नहीं हो सकती. वह साक्षात पुरुषोत्तम हैं इसमें दो मत नहीं हो सकते लेकिन सेवा उनकी पुरुषोत्तम रूपमें नहीं हो सकती. नहीं तो महाप्रभुजीने रास क्यों नहीं किया? चीरहरण क्यों नहीं किया? यह बात क्यों माननी क्योंकि आप आचार्यरूपसे प्रकट हुवे हैं.

आज हम महाप्रभुजीको सूथन धराते हैं, कल उनके रासलीलाके पद गाने लगेगें. चीरहरण लीलाके पद गाने लगेगें. कभी विचारो कि उनके रूपको कितनी हानि होगी. इसलिये गलत पुरुषोत्तमभाव करके हम ऐसी छूटछाट ले लें, यह उचित नहीं है. इससे आचार्यचरणके स्वरूपको हानि होगी, रसाभास होगा. हम तो ठाकुरजीकी भी बालभावसे सेवा करते हैं. वह बालरूपसे प्रकट हुए तो पलनेमें झुलाते हैं. नहीं तो

भगवानको क्या पालनेमें झुला सकते हैं? तो परमात्मा जिस रूपमें प्रकट हुवा वह रूप माननेका है या दूसरा रूप? एक सामान्य बात समझो कि हम कृष्णको ही पालनेमें झुलाते हैं नरसिंहजीको नहीं. ऐसा विकराल स्वरूप पालनेमें बैठे तो तुमको झुलानेमें ही मुश्किल हो जाय. कुछ decency समझो. बातका मजा समझो. खानेका रसगुल्ला भी होता है और अचार भी. और दानों पेटमें ही जाते हैं लेकिन रसगुल्ला अचारके साथ नहीं खाया जाता. तुमको स्वादकी समझ ही नहीं है. यदि तुमको स्वादकी decency पता हो तो तुम ऐसी कुभ्रद लीला मत करो. कल तो तुम श्रीमहाप्रभुजीको साड़ी धराओगे, नंगा रखोगे. क्योंकि पुरुषोत्तमकी तो **आज देख्यो री हरि नंगम नंगा** भी लीला है. इस प्रकार पुरुषोत्तमत्व काम नहीं आता. थोड़ा समझो कि किस स्वरूपसे पुरुषोत्तम प्रकट हुवा है. जिस स्वरूपसे प्रकट हुवा है उस स्वरूपसे ही उसकी सेवा हो सकती है. बाकी हृदयमें भाव रखे जा सकते हैं. पुरुषोत्तम नहीं है ऐसा नहीं है. **गुरुः साक्षात परब्र**ह्म लेकिन सेवा पुरुषोत्तम रूपसे नहीं हो सकती. सेवा जिस रूपमें आप प्रकट हुवे हैं उस रूपमें ही हो सकती है. स्वामिनीजी भी भगवदात्मक ही हैं लेकिन स्वामिनीजीको कभी तनियां नहीं धराते. साड़ी चोली ही धराते हैं. और ठाकुरजीको पुरुषोचित श्रृंगार ही धराते हैं. यह decency न समझना और सब चौपाटीकी भेलपूरीकी तरह करते रहना इसमें जीवनका चटकारा तो हो सकता है लेकिन पेटका स्वास्थ्य और शरीरका लाभ नहीं हो सकता.

इसलिये बालक न पधारे हों और तुम कहो कि हम अपने आप सखड़ी धरा देंगे तो यह आचार्यचरणकी मर्यादाके खिलाफ है. इसलिये वैष्णव बैठकजीमें आचार्यचरणको सखड़ी भोग नहीं धरा सकते.

प्रश्न: आप कहते हो कि पंचामृत स्नान चार जयंतीको ही होता है. लेकिन सेठ पुरुषोत्तमदासके यहां आचार्यचरण जब जब पधारते तब तब पंचामृत स्नान कराते थे ऐसा क्यों?

उत्तर: ऐसा है कि कोई भगवदीय ठाकुरजीमें पुरुषोत्तम भावके साथ साथ आचार्य भाव भी करते थे. उस समय किसीने अलगसे बल्लभपंथ नहीं निकाला था. इसलिए पुष्टिपंथ ही था. आज कितने ही धूर्त लोगोंने अलगसे वल्लभपंथ निकाला है. यह लोग क्या करते हैं कि ठाकुरजीकी सेवा हटा देते हैं और कहते हैं कि महाप्रभुजी साक्षात पुरुषोत्तम हैं इसलिए ठाकुरजीकी सेवा नहीं करनी और महाप्रभुजीकी सेवा करनी. असल पद्धति यह है कि जो वैष्णव अपने घरमें ठाकुरजीकी सेवा करते थे वह कृष्ण स्वरूपकी ही सेवा करते थे और कृष्णको ही गुरु भी मानते थे. एसे वैष्णवोंके यहां महाप्रभुजी पधारते थे तब पंचामृत कराके स्वरूपको शुद्ध करते. क्यों ? इसी बातमें पहलेके प्रश्नोंका खुलासा आ जाता है कि यदि आचार्यकी पुरुषोत्तम रूपमें सेवा हो सकती हो तो शुद्ध करनेकी क्या आवश्यकता थी? लेकिन आचार्य चरण जानते थे कि इसका भाव शुद्ध पुरुषोत्तम भाव नहीं है, आचार्य भाव मिश्रित पुरुषोत्तम भाव है इसलिये कि सेवा पुरुषोत्तमकी करते हैं लेकिन पुरुषोत्तममें आचार्य भाव स्थापित करते हैं.

इसलिये उनके घर पधारकर भोग धरके प्रसाद लेना हो तो पंचामृतसे शुद्ध करके पुरुषोत्तम भाव रूपसे भावना करके फिर भोग धरते. यह ही बात इस बातका प्रमाण है कि आचार्यकी पुरुषोत्तम भावसे सेवा नहीं हो सकती.

प्रश्नः 'चतुराई ताकी सांची जो बल्लभनंदनजू को स्मरण करे.

जो जन निकट रहे कि दूर रसना श्री विट्ठलेश धरे.

सेवाकरे कि नाकरे मनक्रमवचन इनहीकेचरण अनुसरे

चतुरबिहारी कहै ऐसो सेवक हृदय कमल सों कबहूं न टरे'.

तो सेवा करे न करेसे क्या समझना?

उत्तरः अरे भाई तुम्हें धन्यवाद कि इतना जोरदार सवाल तुमने किया. मुझे अतिशय प्रसन्नता हुयी. लेकिन समझनेकी बात इसमें इतनी ही है कि सेवा करे न करे यह सेवा करनेका निषेध नहीं है. मैं ऐसा कहूं कि मेरे पड़ोसी इतने अच्छे हैं कि मैं अच्छा होऊं या बीमार हर समय मेरा ध्यान रखते हैं. तो इसका अर्थ यह नहीं कि मुझे बीमार ही हो जाना चाहिये. इसी तरह सेवा करता हो या न करता हो लेकिन गुसांईजीका ध्यान धरता हो उसका गुसाईजी ध्यान रखते हैं. सेवा करे वह तो अच्छा है व जो नहीं करे वह बीमार है तो बीमारका भी ध्यान रखते हैं क्योंकि आप दयालु हैं. लेकिन क्या जानबूझ कर बीमार पड़ना. तुम ध्यान रखते हो इसलिये बीमार पड़ जायें यह तो छलावा कहलायेगा. छोटे बालकोंमें ऐसी कमजोरी

आजाती है कि मां उसे बहुत प्यार करती हो तो फिर रोता ही रहता है क्योंकि कमजोरी हाथ आजाती है कि रोऊंगा तो मां ध्यान रखेगी, पर यह बचपना है. इसी प्रकार सेवा करे न करेका अर्थ यह नहीं है कि सेवा नहीं करनी. इसका अर्थ श्रीगुसांईजीकी महिमा है कि तुम बीमार भी हो, पुष्टिमार्गमें ब्रह्मसंबंध लेनेके बाद किसी कारणसे सेवा नहीं कर सकते, तो गुसांईजी ऐसे दयालु हैं कि फिर भी तुमको नहीं छोड़ते. लेकिन जानबूझकर बीमार पड़ना यह तो मूर्खता है. स्वस्थ रहनेका प्रयास करो. बीमार हो जाओगे तो श्रीगुसांईजी ख्याल रखेंगे.

oooooooooooooooooo

प्रवचन दिनांक: २९.८.८४

कलके प्रसंगमें हमने देखा कि समस्त जगत भगवत्लीला रूपसे प्रकट हुवा है. जगतकी उत्पत्ति, पालन या उपसंहारकी जो क्रियाऐं प्रभु करते हैं वह लीला रूपसे ही करते हैं. जो जगत उत्पन्न न हो तो प्रभुका कुछ घटेगा नहीं और जगत उत्पन्न हो जाये तो प्रभुका कुछ बढ़ेगा नहीं. लीलाकी परिभाषा समझाते हुवे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि जो कृति फल या प्रयोजनको लक्ष्यमें रख करकी जाती है, फलकी कामनासे या प्रयोजनकी पूर्ति करनेमें आती है उस कृतिको लीला नहीं कह सकते. लीलाका अर्थ भीतरके आनंदको बाहर अभिव्यक्त करती हुई कृति है. वह स्वभावसे ही होती है. वह अपने आपमें ही एक प्रयोजन है, उससे कुछ होता नहीं है. जैसे हिन्दुस्तान व पाकिस्तानका क्रिकेट मैच हो रहा हो तो मैच जीतनेकी एक होड़ जो रहती है और जो जीते उसे मान मिले, रुपया मिले, सब उसके autographs लेनेको लालायित हों, ऐसी सभी वस्तुऐं प्रेरक हो जाती हैं. परन्तु अपनी गलीके बालक क्रिकेट खेलते हैं उसमें ऐसा नहीं होता. कई बार स्टंप न भी हों तो दीवारपर तीन लाइन खेंचकर ही काम चल जाता है. इसमें किसीका सन्मान नहीं होता. किसीको जीतनेकी कामना नहीं होती. बस मनमें बाल्यावस्थाका उल्लास है और वह उल्लास प्रकट होना चाहता है. तो यह बालक जो क्रिकेट खेलते हैं उसे हम लीला कहते हैं.

स्टेडियमके खेलनेमें और बच्चोंके खेलनेमें दोंनो खेल होते हुए भी दोनोंमें अंतर है. एक सामर्थ्यसे खेलनेमें आता है. इसलिये उसमें कोच रखकर ट्रेनिंग देनी पड़ती है. फिर होड़ होती है. ख्याति एवं धन मिलता है. इस प्रकार खेलमें भी और बातें महत्वपूर्ण हो जाती हैं. केवल खेलकी ही भावना नहीं रह जाती. परन्तु बच्चे जब खेलते हैं तो ऐसा कुछ भी नहीं होता. खेल अर्थात खेल. कोई होड़ नहीं. कुछ खोना अथवा पाना नहीं. और खेलनेवाले दो ही हों तो पांच बार आउट होकर भी खेलते रहते हैं. इसका नाम है खेल. इसका नाम है लीला. इसी प्रकार जगत भगवानकी क्रीड़ा है. लेकिन व्यवसायिक खिलाड़ीकी क्रीड़ाकी तरह नहीं. किसोकी होड़में भगवान क्रीड़ा नहीं कर रहे. उन्हें कोई कप नहीं जीतना कोई ऑटोग्राफ नहीं देने, कुछ नहीं करना. भगवान सच्चिदानंद हैं, आनन्द उनका स्वभाव है. आनन्दका स्वभाव ही स्वच्छंद होता है. इस आनन्दात्मक स्वभाववश ही प्रभुने सृष्टि उत्पन्नकी है. प्रभु आज्ञा करते ह कि मुझे करने जैसा कुछ नहीं है फिर भी करता हूं. मुझे कुछ प्राप्त नहीं होना फिर भी मिल जाये तो मुझे कोई परेशानी नहीं. इसलिये भूख नहीं फिर भी भोजन कर सकता हूं. नींद नहीं आती तो भी शयन कर सकता हूं. कोई आनेवाला नहीं है फिर भी प्रतीक्षा कर सकता हूं.

ऐसी स्थिति जो सृष्टिकी हो और हमें लीलाकी ध्वनि सुनाई देती हो तो उसकी गूंज तो अपने हृदयमें होनी चाहिये न? जैसे एक गायक गायन करता हो और संगत करनेवाला सुर न मिलाये या उसी तालमें अथवा

लयमें साज न बजाए तो गड़बड़ हो जाती है. ऐसी गड़बड़ न हो इस प्रकार प्रभुकी लीलाके सुरकी हमें संगति करनी चाहिये. इस संगतिके अर्थ ही विभिन्न मार्ग प्रकट हुवे हैं. हममें कर्तापनेका भाव हो तो हम निष्काम कर्म करके लीलाके सुरमें संगति दे सकेंगे. संगति न करनेके दो अतिरेक हैं. एक तो कर्म ही न करनेकी जिद पकड़ लें और दूसरा गोल्ड कप मिले, धन मिले, ख्याति मिले ऐसे सभी हेतुओंकेलिये हम कर्म करें तो ऐसा कर्म भी लीलाके सुरकी संगति नहीं कर सकता. भगवान कहते हैं कि अच्छी संगति करनी हो तो निष्काम करो.

यदि तुममे दृष्टापनेका भाव प्रबल हो तो तुम ज्ञानमार्गसे प्रभुकी संगति कर सकते हो. अर्थात तुम सब कुछ जान लो और तुम्हें पता हो कि कोई कार्य करनेसे कुछ लाभ नहीं होना और तुम लीलारूपमें यह कार्य करो. **लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि** तुम विद्वान हो गये इसीलिये कर्मका त्याग करदो ऐसा नहीं है. यदि जाननेके पश्चात भी तुम कार्य कर सको तो ज्ञानमार्गसे संगतिकी ऐसा कहा जायगा.

इसी प्रकार भोक्तापनेका भाव तुममें प्रबल हो तो तुम भक्तिमार्गसे संगति कर सकते हो. मैंने तुम्हें समझाया था कि जिसका भोग करना हो उसके आगे व्यक्तिकी अहंता नष्ट हो जाती है. बाकी रही ममता. जिसे भोगना हो चाहे वह अन्न हो, धन हो या यश हो, उसमें ममता प्रबल हो जाती है. ऐसे संजोगोकी संगति करनेके मार्ग भगवानने गीता, उपनिषद और भागवतमें समझाये हैं. और श्रीमहाप्रभुजीने उस स्थापित मार्गको

व्यवस्थित संप्रदायके रूपमें प्रवर्तित किया. **दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनं** भक्तिमार्ग यह नहीं कहता कि तुम भोक्ता हो तो भोक्तापनेको मार दो. तुम्हारी प्रबल ममताको छोड़कर निर्मम बन जाओ. ऐसी कठोर बात भक्तिमार्ग कह ही नहीं सकता. भक्तिमार्ग कहता है ममता भले ही रहे लेकिन प्रभुमें प्रत्येक वस्तुका विनियोग करते जाओ. जा जो तुमको भोगना है उसे प्रभुको समर्पित करो. समर्पण अर्थात? हमने निवेदन करते समय हाथमें तुलसी लेकर प्रभुको निवेदन किया कि जिस भोक्तापनेके कारण प्रत्येक वस्तु मैंने अपनी मान ली थी वह मैं तुम्हें सौंपता हूं. तुम्हें जिस तरह उसका प्रयोग करना हो उस प्रकार करो.

निवेदन करनेके बाद समर्पण न करें तो सौगंध लेकर तोड़ने जैसी बात होगी. उससे तो दो अपराध लगेंगे. झूठ बोलनेका और ठगनेका. जैसे तुम मुझे घरपर आमंत्रित करो और मैं आऊं और तुम घरमें ही न मिलो और मैं प्रतीक्षा करता रहूं. फिर तुम कहो कि अभी मुझे समय नहीं. एक तो तुम गलत बोले कि घर आओ मैं मिलूंगा और बादमें दूसरे कामसे बाहर चले जाओ. कामकी ना नहीं है परन्तु बुलाना तो नहीं चाहिये था ना फिर. उस दिन बुलाना चाहिये जिस दिन धंधेके लिये तुम्हें भागदौड़ न हो. उसी प्रकार यदि मुझे अपने व्यवसायकी धांधल हो तो मुझे आत्मनिवेदन करना ही नहीं चाहिये था प्रभुको. और जो किया तो जिस जिस वस्तुका निवेदन किया है वह सभी समर्पण करनी चाहिये. मेरी भोगमयी वृत्तिको प्रभुमें विनियोग करनेके बाद मैं लूं. एक रद्द करना है तो एक स्थगित

करना. स्थगित करना अर्थात् ? जो आज करना है वह कल करना होगा. रद्द करना मतलब हो ही नहीं. तो हम अपनी भोगमयी वृत्तिको रद्द नहीं करते. प्रभु उपयोग करलें तब तक हम स्थगित रखते हैं. भक्तिमार्गमें रद्द करनेको कोई नहीं कहता. **मुझे भोजन करना है, मुझे घरमें रहना है कोई परेशानी नहीं. निश्चित रहो पर प्रभुको पधराकर. प्रभुको भोग धरकर भोजन करो.** इसमें कोई बहुत अधिक समय तुम्हें नहीं लगाना पड़ेगा. एक दिन या एक घंटेका प्रश्न नहीं है बस एक सहज वृत्तिका प्रश्न है कि प्रभु सेवामें विनियोग करके मैं वस्तुका उपभोग करूं.

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुंजिथा मा गृह कस्यश्चित् धनम् उपनिषदमें कहा है कि यह पूरा जगत् भगवानके उपभोगके अर्थ है. यह बात भक्तको ही समझमें आती है. ज्ञानी या कर्मीको नहीं. घरमें जो तुमने बनाया है वह भगवानके भोगके अर्थ है यह बात तुम्हारे हृदयमें भक्तिका भाव हो तो ही समझमें आयेगी. तुम्हारे हृदयमें ज्ञानका भाव हो तो तुम्हें लगेगा कि भगवानको भोगकी क्या आवश्यकता? जो भगवानको भोग धरना हो उस पर पहले तुम अधिकार न करो. पहले अधिकार किया तो भक्तिका भाव नहीं रहा केवल भोगका भाव रहा. तो फिर यह संसारत्मिका वृत्ति हो गयी. तो जो तुम्हारे भोक्ताके भावका भक्ति भावमें उन्नतिकरण करना हो, भोक्ताको जो भक्त बनाना हो तो तुम्हें समर्पण और विनियोग करना पड़ेगा.

प्रभुको तुम भोग न धरो तो प्रभु भूखे रह जावेंगे? ऐसा नहीं है. तुम्हारी सेवाकी प्रभुको आवश्यकता है? ऐसा भी नहीं है. पर प्रश्न यह है कि तुममें भक्ति भाव है या नहीं? जो कोई मेहमान घरमें आवें तो सभी भूखे ही आते हैं ऐसा नहीं है. संतुष्ट मेहमान भी आते हैं. पर हममें इतनी इंसानियत है कि नहीं कि घरमें आये अतिथिका स्वागत करें. बस बात इतनी ही है. मेहमान आयें इसका आनन्द लेनेकी सामर्थ्य है या नहीं? इस प्रकार प्रभु हमारे सामने अपनी लीला प्रकट करें तो उसका आनन्द लेनेकी हमारी तैयारी है या नहीं. मैं कई बार ऐसा कहता हूं कि जो भगवदलीलाको माने वह ही आदमी है. सच्ची मनुष्यता भगवानका आनन्द लेनेमें ही है. मानते तो सभी ही हैं भगवानको. व्यवसायमें नुकसान हो जाय तो नास्तिक भी आस्तिक हो जाता है. पहले बड़ी बात करेंगे कि हम तो केवल पुरुषार्थको ही मानते हैं, कोई भगवान बगवानको नहीं मानते पर कालके दो चार थप्पड़ पड़े नहीं कि बादमें सांईबाबामें जाने लगते हैं, सिद्धविनायकमें जाने लगते हैं, सभी जगह जाने लगते हैं. तो मान तो सभी दोचार थप्पड़में ही जाते हैं. तकलीफ है मजा लेनेकी. **दुखमें सुमिरन सब करें सुखमें करे न कोय**. सुखमें भगवानका आनन्द लें तो वह मनुष्य, अन्यथा क्या मनुष्य हो सकता है वह भला?

भगवद्लीलाके सुरकी भक्तिसे संगति करें तो लीलाका हम आनन्द ले सकते हैं. भक्तिमार्गीय संगतिका यह प्रकार है कि जो अपने भीतर रहा हुवा भोक्तापनेका भाव है उसे अन्यथा न रख प्रभुके साथ रखें. **जिन**

नहीं चाख्यौ सुनो रे भैया मेरी हथेरी चाट तो भगवान भी हमारे साथ अपने आनन्दको बांटना चाहते हैं. उस समय हम कहने लगें कि हमें अभी समय नहीं हैं व्यवसायकी धांधल है तो व्यवसायमें ही फंसो. **पुनर्मूषिका भव**. पर सहीमें आनन्द लेनेकी इच्छा है तो थोड़ा रुको, विनियोग करनेके बाद प्रसाद ग्रहण करो, भोक्ता बनो. **भोक्ता तो मैं बनूं पर प्रसादका बनूं. भगवद् स्वरूपके आनन्दका भोक्ता बनूं. विषयानन्दका नहीं**'. बस बन गयी भक्ति. तो भोक्तापनेको खत्म नहीं करना है थोड़ा स्थगित करना है, भगवानकी ओरसे न आये तब तकके लिये. **एवं धर्मे: मनुष्याणां उद्धवात्म निवेदनाम् मयि संजायते भक्ति कोन्योर्थोस्यावशिष्यते** ऐसे भक्तको कुछ करने जैसा रह नहीं जाता. ऐसी भगवान आज्ञा करते हैं. तुम प्रभुके सहभोक्ता या अणुभोक्ता होनेका भाव रखो तो तुम्हारा व्यवहार विचार सबकी भगवद्लीलाके साथ संगति तुम बैठा सकते हो.

और आत्मनिवेदन समपर्णकी प्रक्रियासे जब हम भक्ति करते हैं तो चिंताका कोई कारण रह नहीं जाता. जैसे दो दोस्तोंमें आपसमे झगड़ा हो तो बहुत दुख होता है परन्तु दोस्तीकी मस्तीमें अगर वह झगड़ें तो झगड़नेमें भी मजा आयेगा. मैं जब बनारसमें था तो वहां युनिवर्सिटीमे लाइनमें दस पंद्रह होस्टल थे. गर्मीके दिनोंमें रातको भी लू चलनेकी वजहसे लड़कोंको नींद नहीं आती थी. क्या करें फिर ? रातको सब छतपर चढ़कर दो होस्टलवाले आमने सामने बैठकर एक दूसरेको गाली देना शुरु कर देते थे. ऐसा खेल चालू

कर देते थे. अब शर्त यह रहती कि एक बार दी हुई गाली दुबारा दें तो हार माननी पड़े. ऐसी उद्दंडताके खेलमें भी उन्हें आनन्द आता था, क्रोध नहीं. नई नई गाली ढूंढ कर एक डेढ़ घंटा खेल चलता. दूसरा कोई सुनले तो कानका मैल साफ हो जाये. इसी प्रकार यदि गाली जैसी वस्तुको भी लीला रूप दिया जाय तो वह आनन्द ही देती है. और इसमें यदि व्यवसायिक वृत्ति आजाये तो पंचायत खड़ी हो जाती है.

बालकोंको गालीमें भी आनन्द आता है पर कर्जदार देनदारकी तारीफ करे तो उसे क्या आनन्द आयेगा, गुस्सा ही आयेगा. क्योंकि **कर्जा तो चुकाता नहीं, तारीफ करता है** आ गया प्रयोजन लीला नहीं रही. इसलिये तारीफमें भी गुस्सा ही आता है. **देखो कैसा बदमाश है** तो लीलाका आनन्द कैसा है? तो भगवान जो लीला कर रहें है उसकी संगति यदि हम कर सकें तो प्रभुको कितना आनन्द आयेगा. हम यदि मजाकमें कोई बात कहें और सामनेवाला उसे गम्भोरतासे लेकर बैठ जाये तो हम क्या कहेंगे कि मजाक भी नहीं समझता. इसी प्रकार भगवानने सृष्टि लीला रूपसे रची है और हम उसे गम्भीरतासे लेकर बैठ जायें जैसे इससे मुक्ति मिलेगी, इससे स्वर्ग मिलेगा, इससे धंधा चलेगा. अरे भाई लीलामें धंधा चलेगा तो केवल लीलाका ही चलगा; कहीं गैर लीलारूपसे गंभीरतासे धंधा चलेगा? मेरे साथ जो भी घट रहा है वह भगवदलीला है इस बातको स्वीकार करनेके भक्तिमार्गीय प्रकारको हम आत्मनिवेदन कहते हैं. और ऐसा करके तो हम भी भगवानके जैसा कह सकते हैं **न मे पार्थास्ति कर्तव्यं**

त्रिषु लोकेषु किंचन मैं तेरी भक्ति करता हूं पर उससे कुछ मुझे मिलेगा ऐसा कभी नहीं चाहता, तू जो दे रहा है वह मैं ले रहा हूं, मुझे कुछ मिल जाये ऐसी मेरी कोई भी इच्छा नहीं है. भगवान कहते हैं कि जो तू मुझे भक्तिपूर्वक देगा तो मैं बहुत ही प्रयासपूर्वक उसका भोग करूंगा. इसी पकार हम भी भगवानको कह सकते हैं कि जो तू प्रसन्नतासे अपना कुछ भी प्रसाद मुझे जो देगा मैं उसीका प्रसन्नतासे उपभोग करूंगा.

इसीसे एक उर्दूके शायरने कहा है कि जो दर्द मेरे दिलमें पैदा होता है वह यद्यपि मुझे तकलीफ देता है फिर भी उसे मिटानेका प्रयास मैं नहीं करता क्योंकि यह मेरे प्रियतम द्वारा मुझे दी गई एक भेंट है. मेरा प्रियतम मुझे जो भेंट दे उसे मैं फेंकूंगा नहीं सहेज कर रखूंगा, चाहे वह दर्द ही क्यों नहो. यह भाव लीलाका भाव है कि जो हो रहा है उसे स्वीकार लें.

यह उत्कृष्ट कोटिका भाव जगतकी प्रत्येक वस्तुमें हम कहें कि सध जाये, आज आत्मनिवेदन किया, सेवा पधराई और जगतकी प्रत्येक वस्तुको हम लीला रूपमें लेनेमें समर्थ हो गये इतना सरल नहीं है. हम पाखंड करें तो उसका कोई अर्थ नहीं है. महाप्रभुजीके कहनेका अर्थ यह है कि तुमने आत्मनिवेदन किया है तो आत्मनिवेदनके भावको स्वीकारो, अमलमें लाते जाओ. अर्थात? एक सामान्य उदाहरण देता हूं. घरमें समझो कि किसीकी मृत्यु हो गयी हो तो गमगीनी छा जाती है. सभी माथा पकड़ कर बैठ जाते हैं और उसकी चाहे कभी याद आती भी न हो पर उस समय बहुत ही याद आती है. फिर धीरे धीरे कोई काम करना शुरु करो

फिर देखो तुम कितनी देर तक उसे याद रख सकते हो. बैठे रहोगे तो बहुत अधिक याद आयेगी. थोड़ा अपनेको व्यस्त बनाओ. अपना पुत्र हो, पति हो, पिता हो, कोई किसीका अपना इतना नहीं है कि जिन्दगी भर माथा पकड़कर बैठे रहो उसकी यादमें. कोई महीना बैठेगा, कोई चार महीना बैठेगा, कोई एक साल तक, पर आखिरमें काममें लगना ही पड़ेगा. माथा पकड़ कर तुम बैठे रह ही नहीं सकते, तुम्हें कुछ तो करना ही पड़ेगा. **न हि कश्चित क्षणमपि जातुं तिष्ठत्यकर्मकृत्** कर्म करे बिना कोई रह ही नहीं सकता. तो जब काम चालू करूंगा तो शोक खुदबखुद निवृत्त हो जायेगा.

इसलिये तुम भोक्तापनेके भावको बढ़ाकर जो तकलीफ पा रहे हो उससे छुटकारा पानेकेलिये आत्मनिवेदनके भाव द्वारा उसे थोड़ा काबूमें लाओ और काबूमें लाकर थोड़ा सेवाका प्रकार शुरू करो. धीरे धीरे तुम्हें पता चलेगा कि तुम भोक्ता नहीं रहे. प्रत्येक बातमें तुम्हें प्रभु याद आने लगेंगे. बाजारमें तुम गये और कोई सुन्दर फल दीखा तो उसे खानेकी इच्छा तुम्हारी नहीं होगी तुम्हें लगेगा कि प्रभुको भोग धरूं. यह आदत डालो तो प्रत्येक वस्तुके सौंदर्यकी परख तुम्हें प्रभु परक लगेगी कि प्रभुके काममें आये ऐसी सुन्दर है कि नहीं. धीरे धीरे तुम्हारे भोक्तापनेका कुसंस्कार सुधरता जायेगा. यह तुम्हें पता ही नहीं पड़ेगा कि किस तरह सुधर रहा है. जैसे शोक संतप्त व्यक्तिको पता ही नहीं चलता कि किस दिन कितने बजे उसने शोक छोड़ा. घरके काममें व्यस्त हो जाये तो धीरे धीरे शोक

स्वयं ही कम होता जाता है. कभी भूल भी जाता है कि क्या हुआ और क्या नहीं. उसी प्रकार हमारे भोक्तापनेका भाव जो कि स्वार्थमय भाव है और जो हमारे भीतर चिंता प्रकट करता है वह भाव धीरे धीरे हल्का पड़ता जाता है. जैसे जैसे प्रभुके साथ हम भक्तिमय संबंध स्थापित करते हैं और निभाते हैं वैसे वैसे लीलाके सुरकी संगति देनेकी योग्यता आती जाती है हममें. और हमें लगता है कि अब चिंता करने जैसा कुछ है ही नहीं. जो कुछ हो रहा है वह भगवदलीला है. बस आ गयी बात ठिकाने पर.

श्री गुसांईजीकी टीकाका भावार्थ

उपक्रम

जिनके चरणकमल रूपी पराग अपने जीवोंको होती चिंताकी कड़ियोंको तोड़नेवाली है ऐसे श्रीआचार्यजीको बारंबार मैं प्रणाम करता हूं.

यहां एक प्रश्न उठता है कि भगवदीयोंको चिंता किसलिये हो सकती है? इसका खुलासा इस प्रकार हा सकता है भगवत्सेवाका अधिकार केवल आत्मनिवेदन दीक्षा लेनेवालोंको होता है, दूसरोंको नहीं. अब आत्मनिवेदन दीक्षा लेते ही अपने पास प्रभुको समर्पित न हो ऐसी लौकिक अथवा पारलौकिक कोई भी वस्तु रहती नहीं. तो फिर देह, परिवार आदिका निर्वाह किस प्रकार करना चाहिये? जो निवेदित किया उससे अथवा जो अनिवेदित है उससे?

निवेदित कर दिया हो उससे निर्वाह करना उचित नहीं लगता क्योंकि निवेदितकी हुई वस्तु तो प्रभुकी हो गयी. इससे प्रभुकी इच्छाको जाने बिना फिरसे अपने

काममें लेने योग्य नहीं रही और इच्छा जान सकें ऐसा कोई प्रकार नहीं. और निवेदित जीवात्मा तो सेवक होनेसे स्वामीकी इच्छाको जान भी ले तो स्वामीकी वस्तुका उपभोग करनेका अधिकारी नहीं हो सकता.

अब कोई कहे कि निवेदित आत्माका देह परिवार भी तो निवेदित होनेसे अंतमें तो प्रभुका ही है, इससे प्रभुकी वस्तुओंसे प्रभुकी हो गयी देहका या परिवारका पोषण दोषावह नहीं होना चाहिये. तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि स्वयं निर्णय लेकर इन निवेदित वस्तुओंका उपयोग दोषरूप ही होता है और प्रभुकी इच्छा अपनी उपभोगकी वस्तुओंके बारेमें क्या है यह जान सकें ऐसा कैसे संभव है?

इसीसे जो अनिवेदित वस्तुओं द्वारा अपना काम चलाना भी अपने धर्ममें स्वीकारा नहीं गया है. अपने जीवननिर्वाह आदि क्षुद्र हेतुओंकेलिये प्रभुको निवेदितकी हुई वस्तुओंके उपभोगका तो विचार भी करना उचित नहीं है क्योंकि देहाभिमान बिना जीवन निर्वाह आदिकी चिंता हो ही नहीं सकती और देहाभिमानको तो दूर करनेकेलिये आत्मनिवेदनकी दीक्षा दी जाती है. पर ऐसी विचित्र स्थितिमें तो देह टिकेगी कैसे? और देहके बिना तो भगवद्सेवा भी संभव नहीं. इस प्रकार आत्मनिवेदनकी दीक्षा भी व्यर्थ बन जाती है. इस प्रकार आत्मनिवेदनपूर्वक भगवद्सेवामय जीवन जीनेका यह मार्ग ही उच्छिन्न हो जानेकी संभावना लगती है क्योंकि जो आत्मनिवेदन दीक्षासे भगवद्सेवाका अधिकार मिलता ऐसे आत्मनिवेदनसे तो भगवद्सेवाका निर्वाह ही संभव नहीं. इस प्रकार दोनों दिशा यहां अवरुद्ध दिखाई

देती हैं. इस प्रकारकी एक चिंता भी भगवदीयोंको हो सकती है.

इस प्रकारकी चिंताके निवारणको इस प्रकार समझना चाहिये **पत्नी, संतति, घर, प्राण वगैरहका परमात्माको निवेदन करना. इस प्रकारके धर्मोसे आत्मनिवेदीको ऐसी भगवद् भक्ति सिद्ध होती है कि कुछ भी बाकी रह नहीं जाता.** ऐसे शास्त्रके वचनोंके आधारपर आत्मनिवेदन तो आवश्यक है ही क्योंकि श्रीगोकुलेश कृष्णके साक्षात भजनका अधिकार आत्मनिवेदनसे ही मिलता है. जैसे वैदिक कर्मोंके सम्पन्न करवानेका अधिकार गायत्री मंत्रोंके उपदेशसे मिलता है. तो फिर आत्मनिवेदनकी सार्थकताकेलिये और देहादिक आवश्यक निर्वाहकेलिए भी प्रभुको निवेदित वस्तुओंका अपनेलिए उपभोग करना चाहिये. जो ऐसे न किया जा सकता हो तो विवाहके बाद पति या पत्नीका भी समर्पण प्रभुको हो जानेसे पति अथवा पत्नी जैसा संबंध तोड़ना पड़ता हो तो विवाह करना ही व्यर्थ है.

प्रभुको जो कुछ भी दान या भेंट रुपमें देनेमें आता हो तो हम भी उस वस्तुका उपभोग नहीं कर सकते. यह बात भी निवेदनके ऊपर लागू नहीं हो सकती. नहीं तो भगवानको निवेदित अन्नका भी प्रसाद नहीं लिया जा सकता. यहां भूलना नहीं चाहिये कि अनिवेदित अन्नका भोजन तो निषिद्ध ही है. दासधर्म होनेके कारण निवेदित वस्तुओंका भगवद्सेवामें विनियोग होनेके पश्चात भगवद्प्रसाद रूपमें उपभोग तो उचिततर कृति ही मानी जायगी. भागवतमें भी इसीलिये कहा गया है कि भगवानके दासरूप जीव

भगवदुच्छिष्टका ही भोजन करते हैं. भगवद्प्रसाद ग्रहण करनेसे आत्मा भी शुद्ध होती है.

इस तरह ऐसी चिंताऐं तो अविचारणीय होनेपर भी एक चिंता तो स्वभाविक रूपसे हो सकती है कि जो वस्तु प्रभुको निवेदनकी जाती है उसका एक बार प्रभुसेवामें विनियोग होनेके बाद फिरसे उसके उपार्जनका प्रयास करना चाहिये कि नहीं? क्योंकि उपार्जनके प्रयासमें लगनेसे कदाचित बहिर्मुख हो जानेकी संभावना और भगवदसेवामें प्रतिबंध आ सकता है. धर्म, अर्थ और काम संपादनमें लगे हुवे जीवोंके त्रैवर्गिक आयासमें भगवान स्वयं विघ्न उत्पन्न करते हैं अर्थात भगवद्प्रतिबंधकी भी संभावना है. परन्तु जो त्रैवर्गिक आयास करे ही नहीं तो प्रभुको निवेदन ही कैसे और क्या करे? सेवोपयोगी सामग्रीके उपार्जनका जो प्रयास न करें तो प्रभुको निवेदनीय वस्तुके अभावसे ही दुख होगा. ऐसी चिंता जो अपने मार्गके अनुयायियोंको होती है उसे दूर करनेके लिये श्रीमहाप्रभुजीने **चिंता कापि न कार्या** का उपदश दिया है.

चिंताकापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्. ।।१।।

अन्वयार्थ:

निवेदितात्मभि: :जिन्होंने आत्मनिवेदन की दीक्षा ली हो वह

कदापि :कभी भी

कापि चिंता :किसी प्रकार की चिंता

न कार्येति :करनी नहीं क्योंकि

पुष्टिस्थौ :पुष्टिमार्गीय संबंध रखने वाले

भगवानपि :भगवान श्रीकृष्ण भी

लौकिकीं च गतिम् :लौकिक में आसक्ति बढ़े ऐसी गति

न करिष्यति :हमारी नहीं करेंगे.

भावार्थ: लौकिक चिंताओंकी तरह अलौकिकके बारेमे भी चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि पुष्टिप्रभुने जो हमारा अंगीकार किया है उसीसे स्वत: वह ही सभी कुछ सिद्ध करेंगे ऐसा विश्वास पुष्टिजीवोंको रखना चाहिये. भगवानका भी ऐसा नियम है कि पुष्टिजीव जो कुछ भी अंगीकार कराता है वह प्रभु कृपास्नेहसे, रुचिसे आरोगते हैं. किसी समय कभी जीवकी परीक्षा अथवा प्रारब्धका भोग भुगतवानेकेलिये प्रभु भक्त मनोरथ पूर्तिमें विलंब करते हों तो भी चिंता नहीं करनी चाहिये. यहां यदि किसीको शंका हो कि सामान्य लोकमें जैसे कुटुम्ब आसक्ति प्रबल होती है वैसे ही पुष्टिमार्गीय होनेसे मुझमें तो कुटुंबासक्ति शिथिल होती दिखलाई नहीं देती. कहीं प्रभु मेरी लौकिक गति तो नहीं करना चाह रहे? ऐसी चिंता भी दूर कर देनी चाहिये, क्योंकि पुष्टिमार्गमें प्रभु और पुष्टिजीव कृपामय संबंधसे बंधे हुवे हैं और इसीलिये मर्यादामार्गीय वैराग्य आदि गुण हममें नहीं हैं. श्रीमहाप्रभुजी द्वारा यह जीव मुझे

निवेदित हुवा है ऐसा विचारकर प्रभु भी आत्मनिवेदी जीवको अपना मानते हैं इसीलिये लौकिक गति कभी नहीं करते.

व्याख्यान: **क्रोडार्थमात्मान इदम् त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्य तु तत्र कुधियोपर ईश कुर्यु:।** सारा जगत प्रभुने क्रीडाकेलिय ही उत्पन्न किया है पर हम यह बात भूल गये और समझ बैठे कि मेरेलिये जगत प्रकट हुवा है. मेरी क्रीडाकेलिये प्रकट हुवा है. फिर हममें अपना स्वामित्व आ गया. भोक्तापना, मैं मेरा मुझे आगया, सुख दुख, राग द्वेष, उद्वेग आदि लग गये. परन्तु एक लीलाका भाव हृदयको स्पर्श होत ही सारे भाव अपने आप शांत हो जाते हैं. **स्वस्थ शेते मृत्युरस्मादपेति** ऐसा मनुष्य फिर मरता नहीं सोता है. मृत्युको भी भक्त रातमें सोने जैसी सरलता एवं सहजतासे ले सकता है. उसे विश्वास है कि यह भगवदलीला है. फिर जागेंगे, फिर सेवा करेंगे, क्योंकि वह भक्त है. उसने प्रत्येक बातको भगवदलीला रूप में स्वीकारा है. उसे कभी चिंता या उद्वेग होता ही नहीं है. इसलिये श्रीगुसांईजी कहते हैं **ननु भगवदीयानां कथं चिंतोदभव:.** भगवदीयको चिंता किस प्रकार हो सकती है वह मुझे समझाओ. आगे उत्तर देते हैं कि **आत्मनिवेदनो हि भगवद्भजनार्हा:, नेतरे**. भगवदभजनका सच्चा अधिकरी वह है जिसने आत्मनिवेदन किया है.

अब तुम समझ सकते हो कि आत्मनिवेदनकी भगवद भजनमें कितनी महत्ता है. अगर वह न किया हो तो सुरकी संगति कैसे होगी? भगवान लीलाके सुरमें गावें और तुम दूसरे सुरमें गाओ तो वह तो दुर्गीत हो

जायेगा, संगीत नहीं रहेगा. इसीलिये वेदके सुस्वर पाठ करनेके बहुत सारे निर्देश हैं. उसमें एक मजेदार निर्देश यह भी है कि हम वेदपाठ करते हों और उस समय कुत्ता, सियार, घोड़ा, गधा, भैंस या ऊंठ इत्यादि बोल पड़ें तो अनध्याय कर देना चाहिये क्योंकि अपना सुर यदि उसके सुरमें मिल गया तो जो थोड़ा बहुत हमने सुर बांधा हो वह तो बिगड़ ही जायेगा न? मनुष्य आत्मनिवेदन करे तो वह संपूर्ण भजनको, लीलाको, लीला रूपमें ले सकता है अथवा अपनी सामर्थ्यके रूपमें भी ले सकता है. थोड़ा सा भजन किया नहीं कि लगेगा मैं प.भ. हो गया. हृदयमें यह भाव जागृत होना चाहिये कि यदि मैं भक्ति कर रहा हूं तो भी यह भगवानकी लीला है और यदि मुझसे भक्ति नहीं हो पा रही है तो यह भी भगवानकी लीला ही है. और यह मेरा मन भगवानके खेलनेकी एक गेंद है. इसको किसी समय प्रभु इधर उछालते हैं कभो उधर. मैंने अपना मन प्रभुको समर्पित कर दिया है अब इससे कैसे खेलना है वह उसकी इच्छा है. खेलनेवालेको किसी हिसाबकी चिंता नहीं होती. बालकको यदि कुछ खेलनेको दो तो उसे थोड़ी आजादी भी दो खेलनेकी. उसको जैसे अच्छा लगे वैसे वह खेले. इसको तोड़ दे, फेंक दें, किसी और को दे दे अथवा अपने पास ही रखे. इसीलिये अपने यहां कहा गया है कि भगवान अर्थात् **कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सर्व सामर्थ्य युक्त;** यह ऐसा बालक है जो खेलनेमें भी समर्थ है, न खेलनेमें भी समर्थ है और कभी मैदानमें खेलता है तो कभी आंगनमें. कभी पड़ौसीके लड़केके साथ तो कभी

घरके भाईबहनोंके साथ. खेलनेकी इसे आजादी दोगे तभी आनन्द आयेगा. और यदि उसमें विधि निषेध लगा दिये तो खेलनेका मजा ही नहीं रह जायेगा. इसीलिये प्रभुको मन ऐसी भावनासे दो कि प्रभु एक खेलनेवाले बालक हैं और मन एक गोल मटोल गेंद है. चाहे तो लौकिक विषयोंकी तरफ उसे फेंक दें या वैदिक विषयोंकी तरफ या फिर अपने काममें लें. इसमें फिर किसी प्रकारकी धांधल अथवा जिद नहीं की जा सकती, कुछ हठ या दुराग्रह रखा नहीं जा सकता.

अतएव श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि जिसने आत्मनिवेदन किया है वही भगवद्भजन करनेका अधिकारी है. **तत्र च ऐहिक पारलौकिकयोः अर्थयोः न अवशिष्टं किंचिद् असमर्पितम्**. जबकि हमने आत्मनिवेदन कर दिया तब यह लोक अथवा परलोक संबंधी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रह जाती कि जो समर्पित न की गयी हो. आत्मसमर्पणका भाव यह है कि मैं और मेरा जो कुछ भी है वह प्रभु सभी कुछ आपका है. मेरा और तेरा का यह भेद तो सहीमें भक्तिमें है ही नहीं. भक्तिका अर्थ सभी कुछ हमारा है. मैंने अपनी ममताके साथ तुझे जोड़ दिया है. अपने घरमें तुझे पधरा लिया है अर्थात तेरेमेरेका यह भेद अब मेरे और तेरे बीच रहा ही नहीं. जो मेरा है वह तेरा है. और जो तेरा है वह मेरा है. यह भाव रहे तो भक्तिका सच्चा आनन्द आयेगा, नहीं तो नहीं.

दूसरी वस्तु आत्मनिवेदनमें यह समझनेकी है कि हम प्रभुको कुछ देते नहीं है. यदि दें तो फिर ले नहीं सकते. आत्मनिवेदनके, समर्पणके भावको दानके भावसे

भिन्न समझना चाहिये ऐसा श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं. जिस वस्तुका हम दान करते हैं वह वस्तु हम वापिस उपभोगमें ले नहीं सकते पर निवेदन अथवा समर्पण जिस वस्तुका किया हो उसका अर्थ ही यह है कि तेरे और मेरे बीचमें तेरे और मेरे का भेद मैंने समाप्त कर दिया है. धीरजसे समझनेकी बात है कि दान और समर्पणके बीचमें बहुत गहरा भेद है. आज हमें यह भेद समझमें आना बंद हो गया है. यह संप्रदायकी सबसे बड़ी विडम्बना है. हमने ग्रंथोंका स्वाध्याय तो किया नहीं कि यह किस कारणसे हुवा. जैसे ब्राह्मणको हम एक रुपया दक्षिणामें देते हैं तो वह दान कहलायगा. देनेके बाद चार आने वापिस लो तो हमने जो दिया वह वापस लिया तब वह **दत्तापहार** कहलायगा और शास्त्रमें इस जैसा पाप और कोई दूसरा वर्णित नहीं है. दान न दें यह पाप नहीं है लेकिन दान देकर वापस लें यह सबसे बड़ा पाप शास्त्रानुसार है. जैसे लोग ठाकुरजीको भेंट धरकर कहते हैं कि **एक रुपया भेंट धरा तो कमसे कम एक लड्डू तो प्रसादमें मिलना ही चाहिये न** तो तुमने भेंट कहां धरी तुमने तो रुपयेको लड्डूमें परिवर्तित किया. नगदीको वस्तुमें बदल लिया. यह तो समर्पण नहीं कहलायेगा और दान भी नहीं कहलायेगा. यह तो कोई और ही कौभाण्ड कहलायेगा.

अपने यहां इसीलिये ठाकुरजीको भेंट धरनेकी मनाही है. आजकल तो सभी मंदिरोंमें भेंट लेनी शुरु हो गयी है. यह तो कोई अपने मार्गमें प्रमेय लीला चल रही है परन्तु महाप्रभुजीके सिद्धान्तानुसार वैष्णवोंसे मंदिरोंमें भेंट नहीं धरवाते. और जो वैष्णव मंदिरोंमें भेंट धरें

तो वह देवद्रव्य है. फिर तो देव द्रव्यके बदलेमें जो वह प्रसाद मांगे और ले तो वह देवद्रव्य खानेवाला कहलायेगा और श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा की है कि **मेरो व्है के देव द्रव्य खायगो वह मेरो नहीं कहायगौ**. इसलिये भेंट धरनेकी अपने यहां मनाही थी. हम भी अपने ठाकुरजीको कभी भेंट नहीं धरते तुम्हारी तो दूर रही. हमारे घरमें बिराजते ठाकुरजीको हमारा जन्म दिवस हो तो भी हम भेंट नहीं धरते, महाप्रभुजीको भेंट धरते हैं. ठाकुरजीको तो भेंट धरी ही नहीं जाती. ठाकुरजीको तो केवल आत्मसमर्पण ही होता है. जो कुछ मेरा है वह तेरा है.

एक सामान्य दृष्टांत देता हूं. आदर्श व्यवस्थामें पति पत्नीमें ऐसा मेल होता है कि कमाकर लाये हुए धनमें मेरा तेरा रह ही नहीं जाता. इसे ही हम समर्पणकी व्यवस्था कहते हैं. जो पैसा घरमें आया वह केवल पतिका ही नहीं परन्तु दंपतिका पैसा कहलाता है. ऐसी व्यवस्था न हो और कुत्तेकी तरह पालनेकी भावना पतिकी हो कि मैं कमाकर लाया हूं, तुझे खरचा करना है तो तुझे हिसाब रखना पड़ेगा, तो तुमने पत्नी नहीं घरमें एक मैनेजर रखा है जिसके आगे तुम रोज टुकड़ा फेंक रहे हो. पत्नीकी अधिक चलती हो तो वह बड़ी बनकर तुम्हारे साथ कुत्तेका सा व्यवहार करे तो यह कोई समर्पणकी भावना नहीं है. समर्पणका भाव यह है कि जो घरमें आया उसके बारेमें तेरेमेरेका भेद नहीं रह जाता. घरम आनेके बाद सभी कुछ अपना है. उसमें कोई झगड़नेका प्रश्न रह ही नहीं जाता. जिसको जितना उपयोग करना हो उतना करे. तुम्हारा खर्चा मैं

आंक सकता हूं और मेरा तुम. यह तुम्हारा मेरा चाहिये ही नहीं. अपना खर्चा स्वयं संभालना है. यह समर्पणका परिवारका भाव है.

भगवान आज्ञा करते हैं **गृहशुश्रुषणं मह्य दासवद् यद् अमायया.** मेरी सेवा इस भांतिसे करनी कि जैसे घरमें मालिककी सेवा होती है. आज तो नौकर मालिकका संबंध बस पगार भर देनेका रह गया है इसलिये हमको पता नहीं चलता, परन्तु पुराने जमानेमें दासप्रणाली थी. इसलिये पूर्व परम्परासे कितने ही लोग किसीके यहां दास रूपसे ही रहते थे. यह कुलदास कहलाते थे और दूसरा कुलस्वामी कहलाता था. ऐसा संबंध तो अब समाप्त हो गया है इसलिये हमको यह भाषा समझमें नहीं आती. परन्तु इसी तरह हम आज पति पत्नीके संबंधका विचार करें तो हमको यह बात सीधी तरहसे समझमें आ जायगी कि पतिपत्नी एक दूसरेके सहायक हैं. उनको कोई पगार या छुट्टी नहीं लेनी होती.

बचपनमें एक कहानी पढ़ी थी. एक लड़केको मां ने एक काम सौंपा कि छोटे भाईको तुझे स्कूल छोड़ना है और बाजारसे साग भाजी लानी है. उसने कभी कामर्स या अर्थशास्त्रका अध्ययन किया होगा इसलिये जितने जितने काम करता गया उनका हिसाब रखता गया और बिल बनाता गया. स्कूल छोड़ने गया उसके चार आने, बाजारसे साग खरीदा उसके पांच पैसे, दूध लाया उसके पांच पैसे. बादमें बिल बनाकर मां की अलमारीमें रख दिया. मां को यह देखकर बहुत ही दुख हुवा कि ऐसा व्यापारी बेटा क्यों पैदा हुवा? मां ने भी एक बिल बना

दिया कि तुझे नौ महीने पेटमें रखा उसका पैसा नहीं लिया, जन्मके बाद दूध पिलाया उसका पैसा नहीं लिया, आज तक नहलाया, खिलाया, पिलाया उसका पैसा नहीं लिया. फिर वह बिल बना कर उस लड़केको दे दिया.

कहनेका मुद्दा यह है कि मां अपने बालकसे कोई अपेक्षा नहीं रखती. बालकसे कुछ कमानेका विचार उसे यदि आये तो उसका मातृत्व लजाये. और यदि हम मां के पाससे कामकी पगार मांगे तो हमारा पुत्रत्व लजाये. जैसे पति पत्नीसे कहे कि कल खाना बनाया उसके दसरुपयेसे ज्यादा नहीं दूंगा. तो भाई ब्याहके क्यों लाये? कोई रसोइया लाना था न! ऐसे ही पत्नी कहे कि मैंने झाड़ू लगाई, कपड़े धोये उसके इतने पैसे चाहियें तो फिर कहां जानेकी आवश्यकता है? तो फिर कहीं और जानेकी क्या जरूरत है! सचमें ऐसा व्यवहार पति पत्नीमें हो जाय तो तलाककी इच्छा हो जाये.

यदि हम ऐसा व्यवहार प्रभुके साथ करेंगे तो प्रभुको भक्तिका संबंध तोड़नेकी इच्छा होगी कि नहीं? और इसीलिये प्रभुको हम दान नहीं देते. दान देनेमें एक अहंकार छुपा हुवा है कि **मैं दे रहा हूं. तुभ्ये अहं संप्रद्यते** और यदि अपना यह अहकार नहीं गया तो भक्ति तो हो ही नहीं सकती. इसलिये दान हमारे यहां कर्मके अंतर्गत गिननेमें आता है, भक्तिके अंतर्गत नहीं. भक्तिके अंदर तो केवल समर्पण होता है. दान एक कर्म है और शास्त्र जो विधान करता है वह कर्म हमें करने होते हैं. जैसे कि कन्यादान करते हैं, ग्रहणमें धानका दान करते हैं, भिक्षुकको दान करते हैं तो यह सब शास्त्रमें विधान है. भिक्षुकको दान दिया जा सकता है

लेकिन घरमें आये हुवे मेहमानको दान नहीं दिया जाता. **लो तुमको चार रोटी दानमें देता हूं**. तो मेहमान कहेगा कि **मैं कोई भिखारी नहीं हूं, खिलाना हो तो खिलाओ नहीं तो नहीं.** जब मेहमानको दान नहीं दे सकते तो स्वामीको किस प्रकार दे सकते हैं अर्थात नहीं दे सकते. यह मैं कह रहा हूं तो गुनहगार हूं पर यह तो श्रीगुसांईजी अपनी व्याख्यामें कह रहे हैं **दाने हि न स्वविनियोग** जो कोई वस्तु प्रभुको हम दान रूपमें देंगे तो उससे कुछ बदला रिटर्न नहीं ले सकते. वह तो प्रभुकी हो गई.

परन्तु निवेदनमें ऐसा भाव नहीं है कि **मैं तुझे दे रहा हूं**. निवेदनका सीधा सीधा भाव है कि तेरे और मेरे बीचका तेरा और मेरा कहना मैंने छोड़ दिया है, जो कुछ अपना है वह अपना है. जो तेरे योग्य है वह तू उपभोग कर और जो मुझे उपयोगमें लाना है उसका उपभोग मैं करूं. हमसे तो प्रभुको समर्पण ही होता है, दान नहीं होता, नहीं होता और नहीं ही होता. और जो भेंट धरें तो उसका किसी भी हालतमें अपनेलिये उपयोग नहीं हो सकता. कितनी ही जातियोंमें तो यह प्रथा अभी तक जीवित है कि जिस घरमें कन्यादान किया हो उस घरका पानी भी नहीं पीते. अपनी सगी लड़की न भी हो, गांवकी अनाथ लड़की हो लेकिन उसका भी यदि कन्यादान किया हो तो पानी नहीं पीते. इतनी बात रखते हैं. इसलिये जो दान हमने दिया उसका दुबारा अपनेलिये हम उपयोग नहीं कर सकते यह हमारी असल संस्कृति है.

लेकिन अब तो हम रुपया धरनेके साथ ही कहते हैं कि रसीद लावो. और केवल रसीद दें तो लगता है कि **व्यवस्था खराब है. साथ में पूरा प्रसाद नहीं तो कमसे कम आधा लड्डू तो देना ही चाहिये था.** यह क्या घोटाला हो गया है? यह कैसी भक्तिका नाटक हम करते हैं महाप्रभुजीके नाम पर, कभी विचारो तो सही शान्तिसे.

मूलत: तो जो निषिद्ध वस्तु है वह करनी ही नहीं चाहिये और भूलसे हो जाय तो सावधानी रखनी चाहिये, स्वविनियोग नहीं करनेकी. उसके बदले हम भेंट रखकर दावा करते हैं कि भेंट रखी है तो प्रसाद तो लाओ. इस प्रकार जो दान नहीं करना चाहिये वह किया और करनेके बाद वापिस नहीं लेना चाहिये वह भी ले लिया. ऐसे सभी गड़बड़ाध्याय हम करते हैं यह तो समझ में आता है लेकिन यह सब महाप्रभुजीके नामपर करते है इसीलिये कहना पड़ता है. नहीं तो कहनेकी भी गरज नहीं है. जिसको जो करना हो सो करे क्योंकि लोकशाही है. लेकिन हम महाप्रभुजीको इसमें लपेटते हैं कि वल्लभ संप्रदायमें ऐसा चलता है. सच ही यह सब आपश्रीके और संप्रदायके नामसे करके हम श्रीमहाप्रभुजीको कितना कष्ट दे रहें हैं. यदि ऐसा काम करना है तो दूसरे किसीका नाम लो पर श्रीमहाप्रभुजीका नाम मत लो ? और जो तुम श्रीठाकुरजीको भेंट धरते हो तो तुम वल्लभ संप्रदायके अनुयायी नहीं. और यदि तुम भेंट धरकर उसका प्रसाद रूप मांगते हो तो निश्चित समझों कि तुम वल्लभमार्गके एकसौ मील निकट भी नहीं फटकते. तुम्हें ब्रह्मसंबंध

नहीं लेकिन भ्रम संबंध हो गया है. भेंट धरी नहीं जाती और यदि धरी जाय तो उसके बदलेमें कुछ मांगा नहीं जाता. क्योंकि **मेरो व्है के देवद्रव्य खायगो वह मेरो नहीं कहायेगो, महापतित व्है जायगौ.** कितने आक्रोश भरे शब्द प्रयोग किये हैं श्रीमहाप्रभुजीने. शास्त्रमें पतित उसको कहा जाता है जिसने ब्रह्महत्या या गौ हत्याकी हो, दारू पी हो, गुरुपत्नीके साथ समागम किया हो. श्रीमहाप्रभुजी हमें यह कह रहे हैं कि क्या कर रहो हो, शान्त चित्तसे विचारो, किसी भी दिन ऐसा कुकृत्य मत करो.

इसीलिये श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं **दाने हि न स्वविनियोगः, न तु निवेदने** दान किया हुवा बादमें उपयोगमें नहीं आ सकता. पर निवेदनमें तो तेरे मेरे बीचका भेद रखा ही नहीं, खत्म कर दिया. तो प्रभुको जो वस्तु भी योग्य है उसका उनमें विनियोग कर प्रसादी रूपमे हम अपने काममें लेते हैं तो इसमें किसी प्रकारकी भी बाधा नहीं है. जो दान किया हो तो हम उसका प्रसाद नहीं ले सकते परन्तु दान अपने यहां निषिद्ध होनेसे हम करते नहीं हैं. हम तो निवेदन करते हैं. इससे निवेदित अन्नका हम भोजन कर सकते हैं. जिसका तुमने प्रभुके समक्ष निवेदन नहीं किया उसे तुमको ग्रहण नहीं करना चाहिये यह व्रत है. व्रत और सिद्धांतमें थोड़ा भेद रहता है. जैसे एकादशीके दिन उपवासका व्रत लेकर और बादमें अन्न लो तो व्रत भंग हुवा कहलाता है. अगर तुमने व्रत ही नहीं लिया हो और भोजन करो तो इतना ही कहा जायगा कि व्रत नहीं लिया पर व्रत लेकर तोड़ना यह बड़ा अपराध है.

जैसे मनुष्य गृहस्थ रहे तो शास्त्र इसका दोष नहीं मानता पर सन्यास लेनेके बाद यदि विवाह करे तो शास्त्र उसे आरूढ़ पतित कहता है अर्थात ऊपर चढ़ा और नीचे गिर गया.

सन्यास वैराग्यका व्रत है, त्यागका व्रत ह उसे लेनेके पश्चात व्रत भंग करे तो नहीं चल सकता. व्रत न लेनेसे लेकर तोड़ना महा अपराध है. उसी प्रकार ब्रह्मसंबंधमें हमने व्रत लिया है कि **असमर्पित वस्तूनां तस्मात् वजर्नम् आचरेत्** और **तस्मात् आदौ सर्वकार्ये सर्व वस्तु समर्पणं** व्रत लेनेके पश्चात अनिवेदितका उपयोग करे तो हमने व्रत भंग किया, ऐसा कहा जायगा.

इसीलिये श्रीगुसांईजी कहते हैं **निवेदितानां अर्थानां भगवद्भोगार्थे विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा, दासधर्मत्वात्.** जो निवेदित अर्थ है उसका जब भगवानकी सेवामें विनियोग हो जाता है उसके बाद प्रभुके दिये हुवे प्रसादके रूपमें अपने लिए उसका उपयोग करना चाहिये. इसलिये भगवानको यदि घरमें पधराओ तो घरमें तुम्हें रहना चाहिये दास रूपमें, घरके परिवारके सदस्य रूपमें. हमने प्रभुके साथ एक परिवारका संबंध बांधा है. इस परिवारमें तुम्हारा घर तुम्हारा घर नही है और न ही यह भगवानका बैकुंठ है. तुम्हारा घर और वैकुंठ दोनों ही अपने हो गये तुम्हारे और भगवानके बीच. भगवानको तुम्हारे घरमें वैकुंठका और तुमको वैकुंठमें तुम्हारे घरका भाव जगना चाहिये. इस प्रकार एक दूसरेको एक दूसरेका ऐसा तादात्म्य अनुभावित हो

उसका नाम है आत्मनिवेदन. सेवा आत्मनिवेदनपूर्वक एक परिवारकी तरह अपने प्रभुके साथ करनी चाहिये. **गृहं सुश्रूषणं मह्य दासवद्, यद् अमायया** जिस प्रकार एक घरमें एक पत्नी पतिकी सेवा करे उसका चार्ज न ले, वह खाये उसके दर्शन करवानेका चार्ज न ले **झूले के ऊपर हम साथ झूल रहे हैं आओ दर्शन करने** ऐसा न कहे. तुम झूल रहे हो यह तुम्हारा विषय है. गांवको इकट्ठा करके तुम्हें क्या लेना देना? जो तुम गांवका पैसा लेना चाहो तो यह तादात्म्य नहीं रहा. दिखावा हो गया, दाम्पत्यकी गरिमा जाननी आनी चाहिये. हमको इसी प्रकार प्रभुको भी अपने तरीकेसे स्वीकारना चाहिये, भेद नहीं रखना चाहिये.

इसीलिये कहा है कि **त्वयोपभुक्त स्त्रक् गन्धवासोलंकारचर्चित: उच्छिष्ट भोजनो दासा तव मायां जयेमहि** तेरी सेवामें उपभोग किया हुवा वस्त्र, अन्न, पुष्प, श्रृंगार, घर, धन, परिवार सभी कुछ जो तेरी सेवामें उपयोग हो चुका है उसका जो उपभोग करता है वह तेरी मायाको जीत जाता है. किसलिये? क्योंकि इसको कर सकोगे और संगति करोगे तो तुम चिंता पर काबू पा सकोगे.

ऐसा जो विश्वास तुम्हें न हो तो सेवाके झमेलेमें पड़ो ही मत. सेवाके झमेलेमें नहीं पड़ना उसका सीधा सीधा अर्थ यह है कि ब्रह्मसंबंध लेना ही नहीं. श्रीमहाप्रभुजी ऐसा नहीं कहते कि तुमने ब्रह्मसंबंध नहीं लिया हो तो तुम पुष्टिमार्गमें नहीं आ सकते. इसीलिये हमारे यहां दो कंठी पहनायी और पहनी जाती हैं. एक अष्टाक्षरकी कंठी और एक ब्रह्मसंबंधकी. शरणागतिकी कंठीका अर्थ

यह है कि ऐसा विश्वास हो तो भी तुम्हारी शरणमें हूं और विश्वास न भी हो तो भी तुम्हारी शरणमें हूं. **मुझमें विश्वास पैदा करना प्रभु यह तुम्हारा विषय है, मेरा नहीं. सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज. अहं त्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षयिस्यामि मा शुच**. भगवान कहते है कि तू चिंता मत कर. तेरे कोई पाप होंगे, अविश्वासके विश्वासके, स्नेहके अस्नेहके, कर्मके कुकर्मके या दुष्कर्मके उन सभीको मुझपर छोड़ दे. यह शरणागतिका भाव जो निचले दर्जेका भाव होते हुवे भी बहुत व्यापक भाव है, और यह व्यापक भाव प्रभुके माहात्म्यको समझ कर स्वीकारना है.

तो जबकि हम संसारी हैं, भक्तिकेलिये तैयार भी नहीं हैं और भक्ति मार्गके ऊपर अग्रसर होनेको हम तैयार भी नहीं हैं तब श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि कोई बात नहीं, उतावली मत करो. अभी ब्रह्मसंबंध लेनेकी जल्दबाजी मत करो. तुम प्रभुका मार्ग स्वीकारते हो कि नहीं; प्रभुका माहात्म्य स्वीकारते हो कि प्रभु महान हैं; प्रभु सभी प्रकारसे हमारा उद्धार करनेमें समर्थ हैं तो तुम अष्टाक्षरकी दीक्षा लेकर श्रीकृष्ण:शरणंमम इस भावको - भगवत शरणागतिको स्वीकारो. और उस भगवतशरणागतिके धरातलपर खड़े होकर तुम अपने हृदयमें पहले ऐसा विश्वास जाग्रत करो; अपने विचारोंमें, अपने व्यवहारमें, अपनी वाणीमें, प्रभुकी महानता स्वीकारो, ऐसा विश्वास जगाओ कि जिस विश्वासके सहारे तुम भक्तिमार्गकी ओर बढ़ सको. पहलेसे जल्दबाजी करके भक्तिके मार्ग पर मत चल पड़ो, नहीं तो भक्तिके मार्गमें गड़बड़ हो जायगी.

जैसे हम पहले सगाई करते हैं फिर विवाह, ऐसा किसलिये? इसलिये कि विवाहका जो निर्णय लेना है उसके लिये पर्याप्त समय मिले, जल्दबाजीमें निर्णय नहीं ले बैठें कि जिससे बादमें पछताना पड़े. हम सगाई करके थोड़ा सा संबंध बना कर देखते हैं कि वह चलेगा कि नहीं? यदि नहीं चलता तो अभी बाजी अपने हाथमें है कि हम जिसे तोड़ सकते हैं; पर विवाहके बाद तुम कहो कि अब हमें अविश्वास है तो तुम्हारी बुद्धिमतामें कुछ कमी है. तुम्हें विश्वास होनेका, इसको परखनेका, विचारनेका अवसर इसीलिये सगाईके बाद दिया जाता है. इस अवसरमे तुम्हें पूरी छानबीन कर लेनी चाहिये, तुम्हें सभी प्रकारकी छूट होती है; इस दौरान संबंध तोड़ा भी जा सकता है और जोड़ा भी. उसी प्रकार यह जरूरी नहीं है कि हम भक्तिमार्गपर तुरन्त ही जा चढ़ें. पहले प्रपत्तिके भावसे प्रभुका माहात्म्य स्वीकारो और अपने हृदयमें विश्वास जाग्रत करनेका प्रयास करो. जिस दिन विश्वास हो जाय, तुम लीलाके भावको स्वीकार करनेको तैयार हो और उसका आनन्द लेने लायक हो जाओ उस दिन ब्रह्मसंबंध लो. उससे पहले ब्रह्मसंबंध लेनेकी जल्दबाजी मत करो क्योंकि ब्रह्मसंबंध लेकर तुम सेवा नहीं करोगे तो तुम भी अपराधी बनोगे और गुरु भी अपराधी बनेंगे और श्रीमहाप्रभुजीका मार्ग बिगड़ेगा. ऐसा काम हमसे कैसे हो सकता है?

हम जानते हैं कि लड़की शैतान है तो शादी करनेमें थोड़ा विलंब करना अच्छा, क्योंकि शैतानी अपने घरमें करे तो एक ही घरमें तकलीफ होगी ना, परन्तु दूसरे

घर जाकर हल्ला मचाये तो अपने घरकी बदनामी तो होगी ही परन्तु दूसरा बिचारा गरीब भी नाहक दुखी होगा. उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा ? ऐसे ही प्रभुने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है कि जबरदस्ती उन्हें सेवामें पधरा लो? जबरदस्ती उनको आत्मनिवेदन करो और कहो कि अब म सेवा या समर्पण नहीं करूंगा, क्योंकि हमारे घरमें तो नलका जल आता है और तुम्हें कुएके बिना चलेगा नहीं. तो भगवानकी सेवा किसलिये करते हो कुएकी ही करो ना भाई! अरे भगवानकेलिए कोई कुएका जल पवित्र कहा जायगा? श्रीमहाप्रभुजीने तो कुएके जलको भी अपवित्र गिना है. जलभेद ग्रन्थमें आता है कि **उद्धृतोदक वत्सर्वे पतितोदकवत्तथा** तो कुएका जल भी अपवित्र होता है. पर अपने पास यदि कुएका जल है तो वह समर्पित करो. जैसी अपनी सामर्थ्य वैसा प्रभुको समर्पित करना चाहिये. तुम कोई भागीरथकी तरह आकाशमेंसे गंगा नीचे नहीं उतारके ला सकते. पवित्र जल ही आरोगाना ऐसी तपस्या करने बैठेगो तो सारा जीवन तपस्यामें ही व्यर्थ हो जायगा और सेवा होगी ही नहीं. गंगा उतर कर आयेगी तब तक तो तुम स्वर्गवासी हो चुके होगे.

इसलिये जो मेरे पास है वही मुझे समर्पित करना है. भगवान भी लीलाके सहज भावसे ऐसी ही मांग कर रहे हैं कि जो तेरे पास है वह तू मुझे समर्पित कर. जो तेरे पास नहीं है उसकी मांग प्रभु भी नहीं करते. तुम्हारे पास चने हों तो चने भोग धरो, मिश्री हो तो मिश्री भोग धरो, कुआ हो तो कुएका जल, नदी हो तो नदीका जल, तालाब हो तो तालाबका जल; जो तुम्हारे

पास है वह भोग धरो. तुम ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण शरीरसे सेवा करो; मलेच्छ हो तो मलेच्छ शरीरसे सेवा करो. क्या ताजबीबीने सेवा नहीं करी? इनका शरीर क्या शुद्ध था शास्त्रके हिसाबसे? शास्त्रके हिसाबसे तो उनकी योनि, जाति, देह, अपवित्र ही गिनी जाती थी, पर भागवतमें क्या खूब लिखा है **किरात हूणांध्र पुलिन्द पुल्कसा आभीरकंका यवना खगादय: येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम:** किरात हो अर्थात जंगली भीलकी जातिका हो हूण अर्थात चीनी या मंगोल जाति, यवन जातिका हो कोई भी पुण्यशाली या पापशाली जातिका हो; भगवद भक्तिमें जो प्रवृत्त हुवा है वह भगवदभक्तिकेलिये तो शुद्ध ही है. भगवदभक्तिमें कोई अशुद्ध है ही नहीं, अपने भोक्तापनेको तुम भक्तपनेमें बदल दो, फिर देखो कि सब कुछ शुद्ध ही है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह भगवानकी लीला है और उस लीलाका तुम्हें भक्तिभावसे आनन्द लेना है.

भक्तिमें किसी प्रकारकी शुद्धि और अशुद्धिका विचार नहीं है. यह व्यवहार अपने जीवनमें है. अपने शास्त्रानुसार शुद्धि अशुद्धिका प्रत्येक विचार हमें जानना चाहिये, पर जो हम यह न जान सकते हों तो भक्तिमें यह विचार लागू नहीं पड़ते. भक्तिमें तो भगवान मोहना भंगीके हाथकी भी कढ़ी आरोग सकते हैं और भक्ति न हो तो कोई बड़ा पुण्यशाली ब्राह्मण भी हो तप स्वाध्याय, संयमरत हो, विरक्त हो, शास्त्र शुद्ध हो पर भक्ति रहित हो उसका नहीं आरोगते. यही बात भगवान गीतामें कहते हैं **तदहं भक्तयुपहृतं अश्नामि** यदि भक्ति सहित जो भी तुमने मुझे समर्पित किया है

उसका उपभोग मैं करता हूं अन्यथा नहीं करता. यह इस बातका प्रमाण है कि प्रभु तुम जैसे भी हो वैसा तुम्हें स्वीकारनेको तैयार हैं. फिर भी तुम्हें डर लगता हो श्रीमहाप्रभुजी तुम्हें एक बात कहते है **सूर व्है के घिघियात काहे को है, कछु भगवतलीला गा.** तू शूर है, भक्तिपथपर चलनेवाला शूर, तुझे क्या ऐसे डरना चाहिये कि यह समर्पित करूंगा तो प्रभु नहीं लेंगे, यह समर्पित करूंगा तो अपराध पड़ेंगे? प्रभुको क्या कुएकी मर्याद है? प्रभुने तो मोहना भंगीके यहांको कढ़ी आरोगी तो क्या यह पूछ कर आरोगी कि यह कुएके जलकी है कि नहीं? भक्तिमें ऐसा प्रभु यदि पूछने लगें तो बहुत गड़बड़ हो जाय. इसलिये भक्तको भक्ति भावसे जो समर्पित करे **पत्रं पुष्पं फलं तोयं** इन सभीको प्रभु अंगीकार करते हैं कोई भेद नहीं रखते.

यह जो भेद है वह गलत है ऐसा मेरे कहनेका अर्थ न ले लेना. यह भेद सच्चा है, शास्त्रानुसार हमको इस भेदको जानना है. हम जान सकें यह तो बहुत उत्तम बात है, पर यदि यह भेद न जान पायें तो यह भक्तिमें अपने एवं प्रभुके बीच आने वाला नहीं है; कर्ममार्गमें आड़े आ सकता ह परन्तु भक्तिमार्गमें आड़े नहीं आ सकता. कारण यह कि भक्तिमार्गमें भगवान भी ऐसे मूडमें रहते हैं कि भक्तका उच्छिष्ट भी खा सकते हैं. शबरी क्या ऊंची जातिकी थी ? यह तो भील जाति, अधम योनिमें थी. चतुर्वर्णके परे थी अर्थात पांचवी अपशूद्र जातिकी शबरीके झूठे बेर जो प्रभु आरोग सकते हों भक्तिके कारण, तो तुम्हारे घरमें कुआ न हो तो कितना अपवित्र हो सकेगा? शास्त्रकी दृष्टिसे शबरीके

झूठे बेरसे तो अधिक अपवित्र नहीं ही होगा. तुम वैसे जलका भोग धरोगे प्रभुको भक्तिसे तो प्रभु यहीं कहेंगे न कि तुम शबरी जैसे हो; नहीं तो और क्या कहेंगे? भक्तिसे अर्पित किया होना चाहिये, आत्मनिवेदनसे धरा होना चाहिये. प्रभु दानसे धरा हुवा नहीं आरोगते हैं - ऐसा निश्चित समझ लेना. तुम कुएके जलकी झारी भी यदि दान रूपसे धरोगे तो प्रभु नहीं आरोगेंगे.

शास्त्रके अनुसार बहता हुवा जल गंगा जैसी महानदियोंका जल सबसे पवित्र है; कुएका जल भी उससे अपवित्र है. अरे आजकल तो सब महानगरीयोंमें कुएमें गटरके पाइपका पानी भी मिल जाता है. पर यदि तुम भक्तिभावसे वह भी धरोगे और तुम भी वही पीते हो तो प्रभु भी आरोगनेको तैयार हैं. परन्त, हम क्या करते हैं कि अपने पीनेका जल तो नलका रखते हैं साफ सुथरा और ठाकुरजीको कहते हैं कि **तुम्हें कहां चलता है कुएके बिना** इसलिये कुएके जलमें बास भी आती हो, कॉरपोरेशनके अफसरने इसे **पीने लायक नहीं** ऐसा घोषित भी किया हो तो भी हम कुएका जल ही धरते हैं और फिर कहते हैं कि ठाकुरजीको तो कुएके जलकी झारी है. यह तो कपट है, पाखण्ड है. **गृहंसुश्रुषणं मह्य दासवद् यद् अमायया** घरमें सेवा करते समय तुम पाखण्ड मत करो कि जो अच्छा लगे वह सब मेरा और बाकी सभी कृष्णार्पण; भगवान तुम कुएका जल आरोग लेना, मैं तो नलका साफ जल ही पीऊंगा. भले ही कुएका जल पीने लायक हो अथवा नहीं. आप पालो कुएकी मर्याद क्योंकि आप सर्वसमर्थ हो. अरे तो फिर नलका जल ही क्यों नहीं आरोग

सकते? यह तो पाखण्ड है. परिवारके सदस्यकी तरह प्रभुको स्वीकारो, मानो; नहीं तो प्रभुकी भक्ति मार्गकी मर्यादाका हम उल्लंघन कर रहे हैं यह बात समझो.

यदि तुम कहो कि हमारी कुटुम्बासक्ति नहीं छूटती, हमसे वैराग्य नहीं सधता, हमसे अपरस नहीं पाली जाती और घरमें यदि प्रभुको पधरा लें और प्रभु हमारे कुकृत्य देखलें और हमें नरकमें डाल दें तो? तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि तुम यदि घरमें प्रभुको नहीं पधराओगे तो क्या प्रभु देखते नहीं हैं कि तुम क्या कर रहे हो? न पधराओ तो भी देख तो रहे हैं. शायर गालिब कहता है **जब नशा चढ़े तो एक दिन सभी कुछ कुबूल कर लो न आकर, नहीं तो मुझे ही तुम्हें छेड़कर सब बात तुम्हारे मुंह से उगलवानी पड़ेगी.** इसलिये भक्तिके नशेमें प्रभुको घरमें पधराकर एक दिन कुबूल करही लो कि लो महाराज यह होगा मुझसे और यह नहीं होगा मुझसे. फिर प्रभु कहेंगे कि कोई बात नहीं क्योंकि दोस्तके सामने एक बार निखालिसतासे कुबूल कर लेना गुनाह नहीं है पर बात दोस्तसे छिपानेमें गुनाह है. प्रभु कहेंगे **जा, कोई बात नहीं. अहं त्वा सर्व पापेभ्यो: मोक्षयिष्यामि मा शु च. तू मेरा जिगरजान दोस्त है, तेरे गुनाह मैंने माफ किये.** प्रभु तो लीला करनेकेलिये बिराजमान हैं. प्रभु जो यदि हमारे पापोंको गंभीरतासे ले लें तो कभीकी हमारी अंतिम दशा कर देते. सेवा करते हों कि नहीं; अपने सदाचारके, असदाचारके, अपरसके, अपरस छोड़नेवालोंके, सत्य भाषणके, असत्य भाषणके, शांतिके, क्रोधके, कामके, निष्कामके, ब्लैकके, व्हाइटके सभी

गुनाहोंको प्रभु देखते ही हैं. देखते ही हों ऐसा ही नहीं है जानते भी हैं और हो सकता है इनका आनन्द भी लेते हों. अन्यथा ऐसा सब कुछ किस प्रकार चल सकता है? एक पत्ता भी नहीं हिल सकता समझे. प्रभु भी तो जानते ही हैं कि **मियां की दौड़ मस्जिद तक** अंतर केवल इतना ही है कि जो कुछ भी तुम गड़बड़ घोटाला करना चाहते हो जितनी भी छूटछाट चाहते हो एक दिन निखालिस तरीकेसे उनके आगे बयान कर दो, जैसा हूं वैसा ही हूं पर हे कृष्ण तेरा ही हूं. **जैसो हूं तैसो कहाऊ तेरो. यादृशोस्मि हरे: कृष्ण तादृशं मां हि पालय.** फिर प्रभु कहेंगे कि यह तो मुझे पहले ही से पता था. यह नहीं कहा होता तो क्या मुझे पहले पता नहीं था? चल, अब इस सबकी चिंता छोड़ हम साथ ही रहेंगे. इस लीलाके भावसे प्रभुका आनन्द लेना जानो, परिवारके भावसे प्रभुको मानो फिर तुम्हें ज्ञात होगा कि भक्तिकी तरंग कैसी होती है!

एक भाईने मुझे पत्र लिखा ह वह पढ़कर सुनाता हूं. **मैं ब्रह्मसंबंध लेनेके बाद भी कितने जन्म भटकता रहूंगा? मैं बहुत पापी, दुष्ट जीव हूं. मेरे पूर्व जन्मके ऐसे कैसे पाप हैं कि मनुष्य देह मिलनेके बाद भी मूढ़ अवस्थामें जी रहा हूं? अभद्र हूं....'** पर ऐसा कुछ भी क्यों न हो, जैसा हूं वैसा ह् तो तेरा ही न? हम बाहर जाते हैं तो मुंह धोकर जाते हैं; पर ऐसे कितने लोग हैं जो कि पैर धोकर जाते हैं? पर क्या इससे पैरोंसे द्वेष किया जा सकता है. अपने अंगसे भी द्वेष किया जा सकता है क्या? पैर गंदे भी हों तो भी उनसे द्वेष तो नहीं किया जा सकता आर मुंह सुंदर हो तो

उसका अभिमान नहीं किया जाना चाहिये. क्योंकि पैर भी मेरे और मुंह भी मेरा है. जो मेरा है उसके साथ द्वेष नहीं किया जा सकता. हां जो मेरा न हो उसके साथ तो राग द्वेष किया जा सकता है. प्रभुको जो तुम अपना मानोगे तो प्रभु भी तुम्हे वैसा ही मानेंगे. फिर तुम कदाचित स्वच्छ न भी हो, अपरस नहीं पालते हो तो भी प्रभु यही तो कहेंगे कि **यह मेरा चरण है** यह भी तो कोई कम उत्तम कक्षाकी बात नहीं है. और यदि तुम स्वच्छ हो तो प्रभु कहेंगे कि **'यह मेरा मुंह है, कैसा स्वच्छ है'**. अर्थात् **ब्राह्मणोस्य मुखमासीत बाहु: राजन्य कृत: उरु तदस्य यद् वैश्य: पदभ्यां शूद्रोअजायत्.** जो स्वच्छ नहीं रह सकता वह प्रभुके चरणस्थानीय है, जो शक्तिशाली है वह प्रभुके बाहुस्थानीय है, जो पेट भरनेमें लगा हुवा है बनियावृत्तिसे वह प्रभुके उदरस्थानीय है और जो स्वच्छ, सुंदर, सत्कारशील है वह प्रभुके मुखस्थानीय है और आखिरमें हैं तो सभी प्रभुके ही अंग. अब जबकि सभी प्रभुके अंग ही हैं तो प्रभुको ही जानना है कि यदि पग गंदे मैले हो गये हैं तो भी काटे नहीं जा सकते. तो प्रभुने हमसे कोई भेद भाव, छुआछूत नहीं रखी है, प्रभु तो हमको पूर्णरूपसे स्वीकारनेको तैयार हैं, पर हम ही छूत अछूत रखते हैं. हम ही अज्ञानवश प्रभुको अपना कहनेमें हिचकिचाते हैं. क्योंकि अभी यदि प्रकट हो हमें अपने साथ वैकुंठमें ले जायें तो विडम्बना खड़ी हो जायेगी! प्रभुने तो हमसे कुछ भेद भाव नहीं रखा. यदि तुम कहो तो हममें ही प्रकट हो जायें. प्रकटनेकी भी क्या जरूरत है, जिनकी सेवा कर रहे हो क्या वह प्रभु

नहीं हैं? क्या पत्थरकी पूजा कर रहे हो? अपने यहां तो ऐसा भाव ही नहीं है. अपने यहां तो साक्षात प्रभुकी ही सेवा हम करते हैं. यह प्रकट स्वरूप ही तो है. हम एसा क्यों नहीं मानते कि जिससे हमारे अन्दर ऐसा भावही न जागे कि अब प्रभु प्रकट होंगे? और यह जो यदि पत्थर हों, धातु हों, तो फिर भक्ति मत करो भाईसाहब. फिर तो कोई ज्ञानकी साधना करो, उपासना करो. यह भाव उपासनाका है कि हम चित्तको मूर्तिमें एकाग्र करक भगवानकी ओर देंखे. यह भाव कोई भक्तिका भाव नहीं है. भक्ति और उपासनाके भावमें थोड़ा अन्तर होता है वह समझो. यह अंतर इतना ही है जितना तुम अपनी गाड़ी और टैक्सीमें समझते हो. टैक्सीका बिल तुमने चुकाया फिर तो बादमें वह टैक्सी कहीं भी भटके. इसको आर. टी. ओ. का अफसर पकड़ कर ले जाये या कुछ हो यह चिंता तुमको नहीं सताती. तुम्हारा स्वार्थ टैक्सीके साथ इतना ही होता है कि जहां इसे तुम्हें पहुंचाना है वहां तक तुम्हें टैक्सीने पहुंचाया या नहीं? पर तुम्हारी गाड़ीके साथ तुम्हारा ऐसा व्यवहार नहीं होता. तुम्हारी गाड़ीको तुम पार्क करते हो, ताले लगाते हो, और कोई इसमें टक्कर मार दे तो तुम्हें गुस्सा आता है इतना अधिक तुम्हें अपनी गाड़ीमें ममत्व है. उसी प्रकार जिस स्वरूपकी हम सेवा करते हैं उसे हम टैक्सी जैसा नहीं समझते कि मुझे प्रभुमें चित्त चौंटाना है उसकी यह टैक्सी है. चित्त चौंट जायगा तो उसके बाद इसका विसर्जन कर दूंगा. ऐसा पूजन हम नहीं करते. हम तो प्रभुकी सेवा करते हैं, भक्ति करते हैं. जो इन प्रभुमें

मेरा चित्त चौंट गया तो फिर दूसरा मुझे क्या चाहिये? यह ही तो साक्षात प्रभु हैं. इनके सिवाय कोई दूसरा क्या मेरा प्रभु हो सकता है? अर्थात प्रकट प्रभुकी हम सेवा करते हैं.

इसीसे हमारे संप्रदायकी प्रणाली है कि मूर्ति नहीं कहते. मूर्ति नहीं कह सकते ऐसा नहीं है; पर मूर्ति कहनेवालेका यदि ऐसा भाव हो कि मूर्ति पर चित्त चौंटा कर परमात्माको प्राप्त करना है तो तुमने उसे टैक्सी जैसा ही माना और अपने यहां तो ऐसा व्यवहार नहीं है, अर्थात स्वरूप ही है. एक पादरीने मुझे लिखा कि **हम** क्राइस्टका **ध्यान धरकर परमात्मा तक पहुंचना चाहते हैं.** मैंने जबाबमें लिखा कि **मैं तो कृष्ण भक्त हूं इसलिये कृष्णके साथ कालगर्ल जैसा व्यवहार नहीं पर प्रियतम जैसा व्यवहार करता हूं; कृष्णका ध्यान धरकर मुझे कहीं पहुंचना नहीं है. तुझे कहीं दूसरी जगह जाना हो तो तू बिल पेमेन्ट करके छूट जा.** तब वह बोला - **ना ना मैं भी** क्राइस्टका **भक्त ही हूं और परमात्माको पानेकेलिये** क्राइस्टका **ध्यान नहीं धरता. मैंने कहा हां अब आये न ठिकाने पर.** हम कृष्णको प्रियतमाकी तरह चाहते हैं. वहां जो चित्त चौंट गया तो हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिये. **स्वर्गापवर्ग नरकेषु अपितुल्यार्थदर्शिनः** तेरे सिवाय मुझे कुछ दूसरा नहीं चाहिये, ऐसे सुदृढ़ स्नेह भावसे ही हमें प्रभुकी सेवा करनी चाहिये.

आजकल कितने ही लोग हमें ऐसा कहते हैं कि **आंख मींच कर सेवा करनी चाहिये.** अरे, कोई मेहमान घरमें आये तो क्या तुम आंख मींच कर बैठ जाओगे

और क्या ध्यान धरोगे कि अब यह समर्पित किया, अब बिस्कुट समर्पा - और बोलो नहीं उसके साथ तो कितनी देर बैठेगा मेहमान? पागल समझकर भाग जायगा. इसलिये प्रभुको सामने पधराकर आंख नहीं मींचनी होती. आंख खोलकर दर्शन करो इनके. फिर ध्यान धरनेकी आवश्यकता नहीं है. हाथसे सेवा करनेकी आवश्यकता है इनकी. ध्यान धरनेके बहुत सारे अवसर हैं. दुकान पर बैठे हो, उस समय ध्यान धरो न ! प्रभुको सामने पधराकर जो तुमने आंख मींची तो फिर जीवन भर तुम्हारी आंख खोलनेकी शक्यता तुममें नहीं आ पायेगी भक्तिमार्गमें. भक्तिमार्गमें प्रभुके सामने आंख नहीं मीची जाती ; प्रभुके दर्शन करना, शृंगार करना, कीर्तन करना, इसीका नाम भक्ति है. ध्यान दुकानमें बैठकर धरना. फिर देखो कितना मजा आता है. निश्चय ही फिर प्रभु भी प्रसन्न रहेंगे. परन्तु यदि सेवा करते समय जो तुमने ध्यान धरना चालू किया तो **मुद्दई तू इश्करा नालायकी.** फिर तो तुम स्नेह करने लायक ही नहीं हो जबकि तुमने अपने प्रियतमके सामने आंख ही मींच ली. आंख खोलकर दर्शन करो, खूब दर्शन करो. **नैन भर निरखों नन्द कुमार** ऐसा कीर्तनकार कहते हैं. निहारते जायें और तृप्त न हों. पलक पड़े तो असंतोष हो जाये. ऐसी निरखनेकी वृत्तिका नाम ही भक्ति है. ऐसी वृत्तिसे सेवा करनी हो तो करनी. नहीं तो शरणागतिकी दीक्षा लेकर, अर्थात अष्टाक्षर दोक्षा लेकर श्रीकृष्ण:शरणंमम जपते रहना ही अधिक अच्छा उपाय है, यह श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धांत है.

आगे कहते हैं **ननु लोकवत् कुटुम्बादि आसक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपि इति. मैं संसारमें यदि जीवित हूं इससे प्रभु मेरी लौकिक गति तो नहीं कर देंगे?** ऐसी चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है. जबकि तुम अपने कुटुम्बमें कुटुम्बके सदस्यकी तरह प्रभुकी सेवा शुरु कर दोगे तो फिर तुम्हें लौकिक गतिकी चिंता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्रभु पुष्टिमार्गस्थ हैं. उसी प्रकार मर्यादामार्गीय वैराग्य तुम्हारे अन्दर नहीं भी हो तो भी कोई बात नहीं, तुम भक्त हो. भक्त विरक्त हो या अनुरक्त, भक्त तो प्रभुको अच्छा ही लगता है. **यो मद् भक्तः समे प्रियः** ऐसा भगवान कहते हैं. विरक्त भक्त भी मुझे अच्छा लगता है और अनुरक्त भक्त भी. तुम्हारा लड़का गोरा हो अथवा काला, यदि वह तुम्हारा लड़का है तो तुम्हें अच्छा लगेगा, लगेगा और लगेगा ही. इसी प्रकार आत्मनिवेदनी प्रभुके ही हैं. वह अनुरक्त हैं तो भी प्रभुको अच्छे लगते हैं और विरक्त हैं तो भी प्रभुको अच्छे लगते हैं. हमने प्रभुके साथ भक्तिका नाता जोड़ा है; किसी कर्म, ज्ञान, तप, अथवा वैराग्यका संबंध नहीं जोड़ा. भक्तिका संबंध स्नेहका संबंध है; यदि हमें स्नेह निभाना आता है तो प्रभुको हमसे दुगना निभाना आता है. ऐसा विश्वास यदि तुममें होगा तो ही भक्तिपथ पर तुम्हें आगे आना चाहिये, नहीं तो श्रीमहाप्रभुजी कहेंगे कि **बरजे हते जो या मारगमें मति आओ पर आये ताको फल पावत हैं.** ऐसा हो तो तुम्हें भक्तिमार्गमें नहीं आना चाहिये. आये

हो तो इतना विश्वास तुम्हें रखना चाहिये प्रभु पर कि जैसा वह हमें रखेंगे वैसे ही हम रहेंगे.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **चिंताकापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति. भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्** कैसी भी चिंता - लौकिक, वैदिक, भक्ति अथवा भगवानकी चिंता हो, तुम्हें कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि **भगवानपि पुष्टिस्थो** भगवान तुम्हें मिलनेकेलिये पुष्टिस्थ होकर पधार रहे हैं. तुमने आत्मनिवेदन करक भक्तिमार्गपर एक कदम आगे बढ़ाया तो प्रभु भी पुष्टिके दस कदम भरकर तुम्हारी ओर दौड़ते हुए पधारेंगे. अब जबकि वह दौड़ते हुए पधारते हों तो क्या तुम चिंता करने जाओगे? लक्ष्मी टीका करने आयेगी तब क्या तुम मुंह धोने जाओगे? ऐसे नहीं जाया जाता, ऐसे चिंता भी नहींकी जाती. तब क्या करना चाहिये? तो श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै:** तुम्हें चिंता हो रही हो तो उसे त्यागकर तुम आत्मनिवेदनका स्मरण करो कि **मैंने आत्मनिवेदन किया है तो फिर मुझे चिंता करनेकी आवश्यकता है क्या?** यह श्रीमहाप्रभ‍ुजी लौकिक वैदिक नहीं अपितु भक्तिकी चिंताके बारेमें कह रहे हैं.

एक बार एक भाईने मुझे एक अफ्रीकन ड्रम भेंट किया. मैंने पहली बार अफ्रीकन ड्रम देखा था. इसलिये दो चार दिन जोश जोशमें खूब बजाया; पर कितने दिन बजाता? मेरे घरमें इस ड्रमका क्या उपयोग हो सकता था? इसलिये मैंने क्या किया कि एक कुर्सीके सामने उसे रखकर पढ़नेकी टेबलकी तरह उसको उपयोगमें

लाना शुरु कर दिया. अब अगर वह भाई ऐसी जिद रखे कि महाराज मैंने ड्रम भेंट किया इसलिये तुम बस बजाते ही रहो तो मैं भी परेशान हो जाऊंगा और मेरे पड़ौसीकी भी यही गति होगी. मुझे इसका उपयोग ड्रमकी तरह करना है या टेबलकी तरह, मेरी इस प्रसन्नताका भी तो तुम्हें ख्याल रखना चाहिये न. नहीं तो ले जाओ अपना ड्रम वापिस. अतः देकर तुम मुक्त हो गये. अब इसका क्या करना है वह मेरी सहूलियतकी बात है. आत्मनिवेदन करना यह अपनी सामर्थ्यकी बात थी. अब उसका सेवामें कैसे विनियोग करना है - अपनी देहके साथ, मनके साथ, इन्द्रियके साथ, आत्माके साथ, प्रभुको किस प्रकारका खेल खेलना अच्छा लगता है वह प्रभुके ऊपर छोड़ दो. उसमें उनका आनन्द है; और जिसमें उनका आनन्द है, जिसमें तत्सुखका विचार है उसका नाम ही सेवा है, उसीका नाम आत्मनिवेदन है, उस ही का नाम लीलाके सुरमें सुर मिलानेका भाव है. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति** वह सर्वेश्वर है, सर्वात्मा है, उसको उसकी इच्छा हो वह उसे करनेकी छूट दो. और यदि यह छूट देनकी तैयारी न हो तो निवेदन मत करो. पर यदि तुमने कर दिया हो तो उसे ड्रमकी तरह अपना उपयोग करना है अथवा टेबलकी तरह, यह छूट तो उसे देनी ही होगी. इसमें तुम दखलअंदाजी मत करो.

प्रश्न : चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें रामानन्द पंडितको श्रीमहाप्रभुजीने श्रीमद्भागवतको भोग धरकर लेनेकी

आज्ञा दी है; तो श्रीमद्भागवतका प्रसाद लिया जा सकता है कि नहीं?

उत्तर : ऐसा है कि श्रीभागवत श्रीमहाप्रभुजीके हिसाबसे श्रीनाथजीका साक्षात शब्दात्मक स्वरूप है; इसलिये भागवतका अर्थ श्रीनाथजी और श्रीनाथजीका निरूपण भागवत. ऐसी स्थितिमें भागवत और श्रीनाथजीमें हम भेद नहीं मान सकते. वैसे ही जैसे श्रीठाकुरजीका प्रसाद लिया जा सकता है वैसे ही भागवतका प्रसाद भी लिया जा सकता है. परन्तु इसमें सावधानी एक ही रखनी है कि अपने यहां नित्यक्रममें श्रीमद्भागवत पूजनमें बिराजती हैं, सेवामें नहीं बिराजती. हस्ताक्षर स्वरूपसे बिराजे तो दूसरी बात है परन्तु भागवत सेवामें बिराजती हो ऐसी अपने यहां प्रणाली नहीं है. मुझे लगता है कोई निषेध भी नहीं है. इसलिये किसीके घर सेवामें बिराजती हो तो प्रसाद लिया जा सकता है. बाकी भागवतजी सेवामें अपने यहां पधरानेका रिवाज नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीके हस्ताक्षर रूपमें कई लोगोंके यहां भागवतजी सेवामें बिराज रहीं हैं तो आचार्य भावसे ही उनकी सेवा होती है; पुरूषोत्तम भावसे नहीं. अगर भागवतजीकी सप्ताह बैठे वहां शास्त्रीय विधिसे भागवतका पूजन हो उस समय भोग भी धरा जाता है और उस समय प्रसाद लेनेमें अपने यहां किसी प्रकारकी मनाई नहीं है.

प्रश्न : आपने कहा कि हमें जो बड़े लोगोंसे मिला उसका दुरुपयोग अथवा अनुपयोग नहीं करना चाहिये तो **जस की तस धर दीनी चदरिया** ये अनुपयोगका भाव क्या पुष्टिका भाव है?

उत्तर : प्रभुने जो कुछ भी अपनेको दिया उसका अनुपयोग नहीं करना चाहिये. जैसे हमको पैसा दिया और हमने उसको छिपा कर रख दिया कहीं जमीनमें, तो न हमने खाया और न किसीको खाने दिया. धनकी तीन गति होती हैं - दान, भोग और नाश. तीनमें से पहली दो गति न हों तो नाश ही होगा. प्रभुने हमको देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, अहंता, ममता वगैरह जो कुछ भी सामर्थ्य दी उसका हमको अनुपयोग अथवा दुरुपयोग नहीं करना चाहिये यह सिद्धांत मैंने तुमको बताया था. चदरिया अर्थात देह. प्रभुने मुझे बाल्यावस्थाका देह दिया जिसमें कोई कामादिके विकार नहीं थे. ऐसा शुद्ध देह प्रभुने मुझे दिया. अब कामादिके चक्करमें पड़े बिना जो मैं इसे प्रभुको समर्पित कर सकूं तो उसे कबीर कहते हैं कि **जस की तस धर दीनी चदरिया.** उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मैंने उसका उपयोग नहीं किया अथवा उसका दुरुपयोग किया. उपयोग तो किया पर ऐसी सावधानीसे किया कि उपयोगके बाबजूद उसमें कोई दाग या धब्बा नहीं लगा. श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **भगवत्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि: न अन्यथा भवेत्.** जो पुष्टि सृष्टि है वह तो भगवत्सेवार्थ ही प्रकट हुई है और जो भगवत्सेवा करे तो समझना कि वह पुष्टि सृष्टि है; नहीं तो समझना कि कुछ गड़बड़ है. पुष्टिजीव देहादिका उपयोग दूसरा न करे. तो **जस की तस धर दीनी चदरिया** का अर्थ है जो सेवाके लिये प्रभुने मुझे देह दिया, सामर्थ्य दिया उसे मैंने कहीं और नहीं खर्चा, केवल प्रभुकी सेवामें ही

खर्चा; उसका अन्यत्र उपयोग कर उस पर कहीं दाग नहीं लगाया.

प्रश्न: अपने यहां मंदिरमें ध्वजा, कलश नहीं चढ़ता और श्रीनाथजीमें तथा मर्यादामार्गीय मंदिरोंमें ध्वजा, कलश चढ़ता है, उसका क्या कारण?

उत्तर : अपने यहां पुष्टिमार्गमें ठाकुरजीकी गृहसेवा है, मंदिरसेवा है ही नहीं; परन्तु श्रीनाथजी आरंभसे ही महाप्रभुजीके घरमें कभी बिराजे नहीं. वार्ता बांचो तो पता चलता है कि बंगालीओंने सेवाकी, जिनको ब्रह्मसंबंध भी नहीं था और जो कि शाक्त थे, देवीके उपासक थे. श्रीनाथजीने स्वयं इच्छा की कि मैं घरमें नहीं बिराजना चाहता, जगतमें पुजवाना चाहता हूं. महाप्रभुजी फिर क्या करें, मालिकका तो कोई मालिक नहीं हो सकता न. वार्तामें आता है महाप्रभुजीने पूछा **बाबा, आपकी क्या इच्छा है?** तब श्रीनाथजीने कहा **जगतमें पुजवायवेकी.** श्रीनाथजीने मानो कि श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतका चीरहरण कर लिया हो. तो श्रीनाथजीका उदाहरण अपने यहां सिद्धांतका उदाहरण नहीं कहा जा सकता भगवद् इच्छाका उदाहरण है. इसीलिए श्रीजी के मंदिरपर ध्वजा है, कलश है. रातका जागरण नहीं होता, चतुर्मासमें आप बैंगन आरोगते हैं- क्यों? क्योंकि श्रीजी किसीके घरमें नहीं बिराजते, मंदिरमें बिराजते हैं. यह व्यवस्था महाप्रभुजीके समय से ही है. इसीलिये जब श्रीगुसांईजी ब्रजमें पधारे तो जतीपुरा घर न बनाकर गोकुलमें घर बनाया और घरके ठाकुर श्रीनवनीतप्रियाजीकी सेवाके बादमें ही श्रीजीकी सेवाकेलिये पधारते थे. श्रीजीके साथ मंदिरका

व्यवहार ही रखा आपने. श्रीजी स्वयं मंदिरमें ही बिराजमान रहना चाहें तो श्रीगुसांईजो दूसरा क्या करें?

ब्रजलीलामें भी तुम जानते ही हो कि प्रभु द्वारिका पधारे तो ब्रजभक्त जो चाहते तो क्या द्वारिका नहीं जा सकते थे? और जाते तो क्या प्रभु उनको नगरमें नहीं आने देते? परन्तु ब्रजभक्तोंका भक्तिमय स्वाभिमान ऐसा था कि ब्रजमें रहकर प्रभुके विरहमें रोते रहे पर द्वारिका तोमें नहीं ही गये. उनकी यह जिद थी कि मेरे घरमें आओ, मैं आपकी अपने घरमें सेवा करूंगा. मैं वहां सेवा करने नहीं जाऊंगा. उसीसे ब्रजमें रहकर उद्धवजीको पूछा कि **यहां कब पधारेंगे? हमें याद करते हैं कि नहीं?** पर तो भी द्वारिका तो नहीं गये न. उसी प्रकार जो पुष्टिभक्त हैं वह घरमें ही सेवा करते हैं और पूछते हैं कि श्रीजी कभी क्या याद करते हैं कि नहीं? श्रीजी तो शुरुआतसे ही घरमें नहीं बिराजे. पूरे पांचसौवर्षका इतिहास देख लो कि महाप्रभुजीने विनतीकी तो भी नहीं बिराजे, श्रीगुसांईजीने कहा तो भी नहीं बिराजे. श्रीगिरिधरजी तो घरमें पधरा भी लाये तो भी नहीं बिराजे और सिंहाड़ पधारनेके बादका तो तिलकायतका तुम इतिहास देख लो तो ख्यालमें आयेगा कि हरेक दूसरी तीसरीके पीढ़ी बाद जो भी तिलकायत हुए उन्होंने यह संहर्ष किया कि श्रीनाथजी घरमें बिराज जाऐं, पर बिराजे नहीं. अंतमें वर्तमान तिलकायत सुप्रीमकोर्ट तक लड़कर हार गये कि यह घरके ठाकुर हैं. अब जो यह जगतमें पुजवाना चाहें तो इनका कौन मालिक? श्रीजीका कोई काम सिद्धांत नहीं है, श्रीजीकी चर्चा हमसे नहीं हो सकती. उनकी

लीलाका श्रीमहाप्रभुजीके ग्रंथोंसे विवेचन नहीं किया जा सकता. इस कारण हम श्रीजीकी नकल नहीं कर सकते, यह समझो.

संप्रदायका दुर्भाग्य है कि हरेक व्यक्ति आज अपने मंदिरको श्रीनाथजीकी नकल करके चलाना चाह रहा है. उसका सीधा सीधा मतलब मेरे मतसे यह है कि तुम्हारे घरमें ब्रजके ठाकुरजी बिराज रहे हैं आर तुम उन्हें कह रहे हो कि प्रभु आप द्वारिका पधारो. उसका सीधा परिणाम यह आया कि गोस्वामी महाराजाओंके जितने घर थे वह आज पब्लिक ट्रस्ट मंदिर हो गये. गोस्वामी महाराज पुजारी हो गये. हमारे घरके ठाकुर हमारे माथे बिराजते थे, हम कभी प्रभुके माथे नहीं बिराजते थे; पर ऐसी दुर्गति हमारी हो गयी क्योंकि हमने श्रीनाथजीकी नकल करके अपने मंदिर चलाने चाहे. हमारे यहां भी और वैष्णवोंके यहां भी ग्रह सेवा ही थी, **घरके ठाकुरके सुत जायो, नंददास तहां सब सुख पायो. माई आज बधाई.** तो हम उसकी बधाई लेते थे कि हमारे घरमें ठाकुर पाट बिराजता है. घरका ठाकुर है इसलिये ठाकुर कहते थे, मालिक कहते थे. आज हम उनको घरमें रखना नहीं चाहते हैं, उनका ट्रस्ट बनाना चाहते हैं, उनको रजिस्टर करते हैं. हम यह इन्कार करते हैं कि तुम हमारे नहीं पब्लिकके हो. तुमने क्या अपने बेटेको इन्कारा है कि तू मेरा नहीं पब्लिकका है? क्या अपनी बहूजीको इन्कारा है कि तुम मेरी बहूजी नहीं पब्लिककी बहूजी हो? तो फिर ठाकुरको कैसे इन्कारा कि ठाकुर मेरे नहीं पब्लिकके हैं. यदि कोई मुझसे पूछे तो मैं कहूंगा कि निश्चय ही

पुष्टिमार्गके ५०० वर्ष आज पूरे हो गये है कि वल्लभाचार्यजीके वंशमें होने पर भी हमें यह बात कहनी पड़ी कि ठाकुर हमारे नहीं पब्लिकके हैं. और पब्लिक भी ऐसी भ्रांत हो गयी है और यह समझ बैठी है कि गोस्वामीओंके ठाकुर पब्लिकके ठाकुर हैं और स्वयं सेवा नहीं करती. यह कैसी गड़बड़ हो गयी संप्रदायमें ! इस अर्थमें तो ५०० वर्ष पूरे हो गये.

श्रीवल्लभाचार्यजीकी कीर्ति इतनी अधिक विमल, विशद कीर्ति है जो कि ५०० वर्षमें सीमित रह सके ऐसी नहीं है. हमारे सिद्धांत ऐसे सुदृढ़ पाये पर टिके कि ५०० वर्षमें उनको कोई हिला सके ऐसा कोई पैदा नहीं हुवा. कितने ही लोग रो रहे हैं कि २५ -२५ वर्षसे हम लगातार प्रयास कर रहें हैं वल्लभ संप्रदायको समाप्त करनेका परन्तु कोई लाभ नहीं. एक व्यक्तिने मुझसे आकर कहा कि एक उपदेशकने खुद उससे बात कही कि श्रीमहाप्रभुजीने कैसे पायेपर यह पुष्टिमार्ग चलाया है कि २५ वर्षके लगातार प्रयासके बाद भी पुष्टिमार्गका कुछ बिगाड़ नहीं सके. अभी भी वैष्णव ऐसेके ऐसे ही दिखलाई दे रहें हैं. यह क्या चक्कर है? यह पाये कोई मनका विकार नहीं हैं. प्रमाण चतुष्टियोंके पाये हैं. **वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि. समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तत्चतुष्टयम्.** श्रीमहाप्रभुजी डंकेकी चोटपर कहते हैं **अर्थोयमेव निखिलेरपि वेद वाक्य रामायणे सहित भारत पंचरात्रे अन्येष्च शास्त्रवचने सह तत्वसूत्रै: निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव** वेदका, महाभारतका, रामायणका, गीताका, सभी शास्त्रोंका निचोड़ यह है जो

कि मैं कह रहा हूं. मैंने कोई अपनी मनघड़ंत बात नहीं कही है.

इतने सुदृढ़ पाये पर खड़े हुए पुष्टिमार्गके भवनकी हमने दीवारें तोड़ दी क्योंकि हम उसमें दीमककी तरह लग गये. हमने उसमें जीना नहीं चाहा, हमने दीवार और पायेका विवेक न रखकर उसे नुकसान पहुंचाया. महाप्रभुजीने हमको यह बात समझाई है कि घरमें सेवा करनी चाहिये. **ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते. सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो ब्रजाधिप:, स्वस्य अयमेव धर्मोहि नान्य क्वापि कदाचन.** अपना धर्म ब्रजाधिपकी सेवा है दूसरा कोई धर्म नहीं है पुष्टिमार्गके क्षेत्रमें. हम वह सिद्धांत तो भूल गये. हम यह सिद्धांत भी भूलगये कि **गृहसुश्रुषणं मह्यम् दासवद् अमायया** हमने अपनी गृहसेवाको धन्धेमें बदल दिया, ठाकुरको शॉपिंग सैन्टरमें खड़ा कर दिया. इसका फल भोग रहे हैं हम आज. **जान बूझकर जहर पिया है हमने यह.** हमने महाप्रभुजीके साथ विश्वासघात किया है उनके सिद्धांत न पाल कर. महाप्रभुजीका सिद्धांत ऐसा नहीं था. यह सनातन सिद्धांत है. पुष्टिमार्गके ५०० साल पूरे नहीं हो सकते. अपने हृदयमें पुष्टिमार्गके ५०० साल पूरे हो सकते हैं. हम इस मार्गपर चलते चलते बीमार हो गये हैं क्योंकि महाप्रभुजीने चलनेके जो नियम निर्देश दिये थे हमको, वह हमन ठीक तरहसे नहीं पाले और स्वीकारे. यह बात समझ लो कि श्रीनाथजीकी नकल नहींकी जा सकती, नहींकी जा सकती और नहींकी जा सकती. जैसे जगदीशजीमें किसीके भी हाथकी सखड़ी ली जा सकती

है इसका अर्थ यह नहीं कि सभी जगह ली सकती है. प्रभुकी लीलाका हम अनुकरण नहीं कर सकत और करें तो जेल जाना पड़े. प्रभुकी आज्ञाका अनुकरण करना चाहिये लीलाका नहीं यह बात ध्यानमें रखो तो पुष्टिमार्ग शाश्वत सनातन मार्ग है.

प्रश्न : आपश्रीने आज्ञाकी है कि गुरुआज्ञा शिरोमान्य होनी चाहिये पर कितनी ही बार आज्ञा जीवकी कसौटी करनेकेलिये हो तो फिर किस प्रकार विवेक रखना चाहिये?

उत्तर : एक ही विवेक और कसौटी, श्रीमहाप्रभुजीने ग्रंथोंमें जो बात लिखी हो, उस पर परख कर देख लो. सच हो गुरु आज्ञा है और सत्य न हो तो बालक आज्ञा है.

प्रश्न : हृदयमें प्रभुके परिश्रमके विचारसे तथा अलौकिक उद्वेगके कारण भगवद्नाममें या सेवामें चित्तवृत्ति नहीं लगती हो तो उसकी निवृत्तिकेलिये क्या करना चाहिये?

उत्तर : हमारे यहां तो बस एक ही बात श्रीमहाप्रभुजीने बताई है कि **सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढ़ा भवेत्. यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मर्तिमम्** जितनी बने उतनी सेवा करो और कथामें अपनेको तन्मय बनाओ तुम्हारा कभी नाश नहीं होगा.

प्रथम श्लोकमें कोई भी चिंता - लौकिक या अलौकिक, अपनेलिये या भगवानकेलिये, भक्तिकी साधना या भक्तिके फलकेलिये - करनी नहीं ऐसा श्रीआचार्यजीने उपदेश दिया उसका विचार हमने किया.

oooooooooooooooo

प्रवचन दिनांक ३०.८.१९८४
दूसरा श्लोक

अब ऐसे जो सभी विचारने लगें तो पुष्टिमार्गमें स्वच्छंदतया लोग व्यवहार करना शुरु कर देंगे और अंतमें बहिर्मुख हो जायेंगे. उसको रोकनेकेलिये महाप्रभुजी कहते हैं **निवेदनं तु स्मर्तव्यं.......'**

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै: ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति ।।२।।

अन्वयार्थ:

तादृशै: जनै: : ऐसे आत्मनिवेदी लोगोंको
निवेदनं तु : प्रभु समक्ष किये गये अपने आत्मनिवेदनका तो
सर्वथा : आवश्यकतया
स्मर्तव्यं : स्मरण चिंतन करना चाहिये
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा : और प्रभु केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वात्मा भी हैं
निजेच्छात: : अपनी इच्छासे
करिष्यति : जो योग्य है वही करेंगे. ।।२।।

भावार्थ : हमेशा सभी प्रकारसे जो अपने आत्मनिवेदनसे सिद्ध हुई भगवदीयताका अनुसंधान करता रहे तो प्रभु कभी भी उसकी लौकिक गति नहीं करेंगे. किसी प्रकारकी अशक्तिके कारण जो भगवत्सेवा स्मरण पुष्टिजीवसे न निभती हो तो भी आत्मनिवेदनका अनुसंधान तो करते ही रहना चाहिये. जो भगवत्सेवा स्मरण निभा सकते हैं उन्हें भी आत्मनिवेदनका अनुसंधान तो करते ही रहना चाहिये क्योंकि स्वच्छंदता दोष तो दूर करना आवश्यक ही है. अथवा ऐसा भी अर्थ घट सकता है कि जो आत्मनिवेदनके द्वारा सर्वथा संपूर्ण रूपसे भगवत्परायण बन गये हैं उनकी संगति, उनके साथ हिलमिलकर, आत्मनिवेदनका अनुसंधान करना चाहिये. इससे संग दोषकी भी बुराई खत्म हो जायगी. उसमें जो आत्मनिवेदी नहीं हैं उनके बीच अपने आत्मजनित भावोंको गुप्त रखना चाहिये. क्योंकि **सर्वथा**के स्थानपर **सर्वदा** पाठ भी देखनेमें आता है. उस पाठको स्वीकारें तो आत्मनिवेदनका अनुसंधान निरंतर करते रहना चाहिये ऐसा अर्थ होता है, कारण यह अनुसंधान छूटते ही आसुरावेश होनेका डर है.

अलौकिक अथवा लौकिक वस्तुकेलिये प्रभुकी प्रार्थनाकी जा सकती है कि नहीं का जबाब **ना** ही है. जिन्होंने आत्मनिवेदन किया है उन सभीके प्रभु ईश्वर हैं. उसमेंसे भी आत्मनिवेदीयोंके आत्मारूप भी स्वयं प्रभु ही बन जाते हैं. इसीसे सेवक जैसे जैसे अधिक प्रपन्न शरणागत होता जाता है वैसे वैसे ही प्रभु भी अपने अंगीकृत जीवोंका स्वामित्व अधिक अधिक प्रकट करते

जाते हैं. उसीसे ऐसे जीवके हित संपादनमें प्रभुसे प्रार्थनाकी अपेक्षा नहीं रह जाती. अथवा ऐसे भी अर्थ घट सकता है कि प्रभु काल, कर्म, स्वभाव वगैरह प्रत्येकके स्वामी हैं. अगर प्रभुको फल दान करनेकी इच्छा हो तो कालादि कृत प्रतिबंध प्रभुके सेवकोंकेलिये संभव ही नहीं है. इससे पुष्टिजीव इच्छा कर तो भी फलदान तो प्रभु अपनी इच्छासे ही करते हैं. अतएव प्रार्थना नहीं करनी चाहिये. अथवा दूसरी प्रकारसे इसको ऐसे भी देखा जा सकता है कि प्रभुको आत्मनिवेदन करनेवाले जीव निज सेवक बन जाते हैं. अत: ऐसे निज सेवकोंकी प्रचुर इच्छा तो प्रभु प्रार्थनाकी अपेक्षा रखे बिना ही पूरी कर देते हैं. इसलिये प्रार्थना करनी आवश्यक नहीं है. इसमें इतनी सावधानी रखनी चाहिये कि सेवककी इच्छा विकृत सोपाधिक नहीं होनी चाहिये।।२।।

व्याख्यान : श्रीगुसांईजी दूसरे श्लोकका विषय उठाते हुए यह प्रश्न पूछते हैं कि **एवं चेत् स्वाच्छनद्य व्यवहारापत्या बहिर्मुखं स्यात्** जो लौकिक अथवा अलौकिक किसी भी प्रकारकी चिंता नहीं करनी चाहिये ऐसा उपदेश, किसीके गले उतर गया तो फिर जीवनमें स्वच्छंदता आ जायगी. कारण फिर जैसा मन होगा वैसा लोग करेंगे और किसी बातकी चिंता नहीं करेंगे. '**सेवा नहीं करते**' '**क्यों नही करते?**' क्योंकि **चिंता कापि न कार्या** सेवाकी चिंता करनेको कहां कहा है? हम भेंट लेते रहें और कोई कहे कि सिद्धांत विरुद्ध है तो भी लेते रहें. क्यों? क्योंकि महाप्रभुजीने कहा है कि **चिंता**

कापि न कार्या. हम घरके बदले बाजारमें सेवा करने लगें और कोई पूछे तो कहें **चिंता कापि न कार्या**. ऐसे चिंता न करनेका उपदेश बहुत गंभीर उपदेश है और सभीके सामने जो यह रहस्य खोल दिया जाय तो लोग उसका दुरुपयोग करे बिना रहेंगे नहीं. सभीका व्यवहार स्वच्छंद हो जायगा. किसी प्रकारका नियम किसीको मान्य नहीं होगा. ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये? अब यदि हमको संप्रदायमेंसे, विचारमेंसे, व्यवहारमेंसे, व्यक्तिमेंसे स्वच्छंदता हटानी हो तो चिंता तो पैदा करनी ही पड़ेगी. यह सिद्धांतानुसार नहीं हो रहा ऐसा डर तो मनमें बैठाना ही पड़ेगा. जो सिद्धांत विरुद्ध अपनी रीति भांति है उनके दुष्परिणामोंकी हमको चिंता करनी पड़ेगी; पर यदि चिंता करें तो **चिंता कापि न कार्या** महाप्रभुजीके इस वचनका बाध होता है और नहीं करते तो व्यवहार, विचार, व्यक्ति और समाजमें स्वच्छंदता आती है. ऐसे दोनों ओरसे घिर जाते हैं. इसका निराकरण किस प्रकार करना चाहिये? इसका भी श्रीमहाप्रभुजीने भली भांति उपदेश दिया है.

मनमें बात जंच गई और कह दिया कि चिंता मत करो; फिर जो होना है सो हो - चढ़ जा बेटा सूलीपर भली करेंगे राम - ऐसी उपदेश प्रणाली अपने श्रीमहाप्रभुजीकी अथवा श्रीगुसांईजीकी नहीं है. जब कोई उपदेश या आदेश आप देते हैं उसके प्रत्येक पहलूका विचार आप पहले करते हैं. जैसे रोटीको आगे पीछे सभी ओरसे भली प्रकार सेक करही हम खाते हैं, कच्ची नहीं खाते हैं और इतनी अधिक भी नहीं सेकते कि जल ही जाये सारी. उसी भांति परिपक्व करके आप

हमें उपदेश देते हैं. हम चिंता न करें तो अपने व्यवहारमें स्वच्छंदता न आ जाये, ऐसी परिपक्वता किस प्रकार आयेगी? तो उसकेलिये श्रीमहाप्रभुजी दूसरा श्लोक लिखते हैं **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै:. सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति**. जब तुम्हें किसी बातकी चिंता सताये- लौकिक हेतुओंके पूर्तिकी, स्वार्थकी अथवा भगवदार्थकी - तब चिंता न करके तुम आत्मनिवेदनका चिंतन करो, स्मरण करो. ऐसी श्रीआचार्यचरण आज्ञा करते हैं. यह ही सच्चा उपाय है, चिंता सच्चा उपाय नहीं है. **सर्वथा** अर्थात प्रत्येक रीतिसे तुम आत्मनिवेदनका चिंतन करो.

संस्कृतमें एक देहली दीपक न्याय है कि देहलीपर दिया रखो तो उसका प्रकाश इस ओर भी आता है और उस ओर भी. तो **सर्वथा** शब्द महाप्रभुजीने देहलीदीपकन्यायसे रखा है. **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा** इस ओर भी लगता है और **सर्वथा तादृशै: जनै:** इस ओर भी लगता है. जिसने आत्मनिवेदन किया है, जो स्वयं आत्मनिवेदनके भावको जान सकता है और जीवनमें अमलमें ला सकता है उसका संग साधकर उसके सहयोगसे तुम अपने आत्मनिवेदनके भावका और सिद्धांतका चिंतन करो, मार्गका चिंतन करो. तुमने ऐसे भगवदीयके साथ सतत आत्मनिवेदनका चिंतन जो किया तो बस बात बन गई. फिर तुम्हें स्वयं ही समझमें आ जायगा कि तुम्हें क्या करना चाहिये और तुम क्या कर रहे हो. **'भक्तिकी साधना करनी है तो क्या करना चाहिये?' 'फल पाना है तो क्या करना चाहिये?' 'स्वार्थ हानि हो रही है तो क्या करना**

चाहिये?' 'सेव्य स्वरुपके बारेमें कोई अड़चन है तो क्या करना चाहिये?' यही करना चाहिये कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैः जनैः.** निवेदनका सर्वथा स्मरण करना और सर्वथा जिसने आत्मनिवेदनको जिया है ऐसे व्यक्तियोंके साथ स्मरण करना चाहिये. उनके संगमें अपने आत्मनिवेदनके भावको हृदयमें सुदृढ़ बनानेका प्रयास करो चिंतन करक. बस, प्रत्येक बातका उपाय तुम्हें मिल कर रहेगा.

चार पांच दिनसे मैं सतत तुम्हें कड़वी बात कह रहा हूं पर मैं निश्चित ही ऐसा दृढ़ विश्वास तुम्हें दिला सकता हूं कि जो कटुता उत्पन्न हो रही है उसमें मेरा कोई व्यक्तिगत रागद्वेष नहीं है और स्वार्थ भी नहीं है. तुम मानो कि न मानो मेरे सामने बस एक ही बात है कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा** जो संप्रदायमें अजीबसी स्थिति आ गई है उसमें हम क्या कर सकते हैं? निवेदनका स्मरण ही तो कर सकते हैं इस नवरत्नके माध्यमसे और हम वही कह रहे हैं. तुमने मुझे प्रवचन करने बुलाया है. मुझे कोई प्रवचन करनेका शौक अथवा रुचि अथवा उत्कंठा नहीं है और मुझे यह पद्धति कुछ रास भी नहीं आती. पर कोई बुलाये तो हठ या दुराग्रहपूर्वक न जाकर अपने संप्रदायके सिद्धांत नहीं कहना, ऐसा भी मुझे महाप्रभुजीने नहीं समझाया है. इसलिये कोई बुलाये तो जो श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धांत है वह मुझे कहना ही पड़ेगा और इसी हेतुसे मैं कहता हूं. अब किसीको यह पगड़ी अपने सिर पर फिट बैठती लगे तो ठीक और न भी बैठती हो तो उसे फिट बैठानेका मेरा आशय भी नहीं है.

मैं तो तुम्हें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांत समझा रहा हूं और वह यह कि **निवेदन तु स्मर्तव्यं सर्वथा** भगवान गीतामें कहते हैं कि **यथेच्छसि तथा कुरु** मेरा काम गीताको समझाना था सो मैंने तुझे समझा दी अब तुझे जो करना हो वह कर. लड़ना हो तो लड़, नहीं तो नहीं. ऐसे ही मेरा काम समझाना था. अब तुम इसका विमर्श करो कि महाप्रभुजीने तुम्हें क्या आज्ञा दी है. फिर जो मनमें आये वह करो. तुम्हारे अंदर बैठा हुवा अंतर्यामी जैसी तुम्हें प्रेरणा दे वैसा ही करो. मैं तुम्हें बार बार यही कह रहा हूं कि मैं कहूं ऐसा मत करो. तुम्हारे गुरु जैसी तुम्हें आज्ञा दें वैसे करो. मैं कोई तुम्हें आज्ञा देने नहीं आया हूं. मुझे यह तो मानना पड़ेगा कि मैं **सर्वथा तादृशैः जनैः** नहीं हूं. निवेदनके सभी सिद्धांत मैं ही अमलमें नहीं ला पाता हूं तो मैं किस प्रकार तुमको उनको पालनेकेलिये जोर दे सकता हूं? और मैं इतना डरपोक भी नहीं हूं कि महाप्रभुजीकी वाणी जो कि मैं तुम्हें समझा रहा हूं उसे मैं व्यासजीकी पोथीका कीड़ा ही समझूं. मेरा हृदय स्पष्ट है कि तुम श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांत जानना चाहते हो इसी कारण मैं तुम्हारे बीच इन सिद्धांतोंका बखान कर रहा हूं. तुम्हें न जानने हों तो घर बैठो पर मैं तो सिद्धांत ही कहूंगा. दूसरा कोई सिद्धांत मुझ कहना नहीं है, क्योंकि जैसे तुम कितने ही सिद्धांतोंको जीवनमें नहीं उतार सकते वैसे ही मैं भी नहीं उतार सका हूं; फिर भी मैं अपना इतना अधिकार तो मानता ही हूं कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं** यह आज्ञा जो तुम्हारेलिये है वैसे ही मेरेलिए

भी है. मुझे यह सिद्धांत तो कहना ही है, तुम्हारे साथ अथवा अकेलेमें.

मेरा अटल सिद्धांत है कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं** मैं तादृशी होऊं या नहीं, पर श्रीमहाप्रभुजीकी वाणी तादृशी है. मैं श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीका संग करता हूं, व्यक्तिका संग नहीं करता. और यह स्पष्टीकरण मैं तुम्हें दे दूं कि तुम इसे श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीके रूपमें स्वीकारते हो तो ही स्वीकारो. अगर तुम इसे श्यामुबाबाकी वाणीके रूपमें स्वीकारते हो तो तुम भ्रांत हो समझे. इसीलिये मैं सर्वथाको हमेशा इस तरफ जोड़ना पसंद करता हूं कि **निवेदनं तु सर्वथा स्मर्तव्यं** एकांतमें अथवा तुम्हारे साथ निवेदनका स्मरण करूं, पर ऐसा जन आज कहांसे लायें कि जो सर्वथा तादृशै: हो. होगा, नहीं होगा ऐसा मैं नहीं कहता. श्रीमहाप्रभुजीकी ऐसी विपुल सृष्टि है कि एक नहीं अनेकों होंगे. लेकिन मैं तुमको अपनी बात तो कह सकता हूं कि कमसे कम मैं तो ऐसा नहीं हूं जो कि निवेदनके प्रत्येक सिद्धांतको जीवनमें अमलमें ला सका होऊं. परन्तु अमल हो या न हो, किसी भी संजोगमें आत्मनिवेदनका चिंतन तो सतत चलते रहना चाहिये. जो कल्याणके पथकी ओर अपना मुख रखकर चलता है वह किसी भी दिन दुर्गतिको प्राप्त नहीं होगा. वैसे ही हम यदि आत्मनिवेदनका चिंतन करते रहेंगे तो अपनी कभी भी लौकिक गति नहीं होगी. यह जो श्रीमहाप्रभुजीने हमको आश्वासन दिया है उस पर मुझे पूर्ण विश्वास है, और इसी विश्वाससे मैं तुम्हें उसके चिंतनके लिये कह रहा हूं. आत्मनिवेदनका चिंतन यदि नहीं करें तो निश्चित ही जीवनमें स्वच्छंदता आ

जायेगी. और जो स्वच्छंदता आगयी है उसका अंकुश भी किसके पास लेने जाओगे? आत्मनिवेदनका हम जो चिंतन करें वही उसका अंकुश है.

स्वच्छंदता अर्थात? एक भाईने मुझे पत्रमें हिदायत दी है कि **आप बातोंके बड़े मत बनाओ, श्रीमहाप्रभुजीकी तरह घर घर जाकर संप्रदायका प्रचार करो**. यह तो सच है कि आपको मेरे हितकी कामना तो है और आपके इस अधिकारको भी मैं हृदयसे मान्य करता हूं. सचमुच मुझे बुरा नहीं लगा. जब हम एक परिवारके भावसे बैठकर दोष चिंतनकेलिये नहीं अपितु आत्मनिवेदनके चिंतनके लिये कुछ करते हों तो जैसा मैं तुमको कहता हूं और तुमको कोई पाग फिट बैठती हो तो तुम्हें पहननेकी इच्छा होती हो ; ऐसे ही तुम कुछ कहो और यह पाग मेरे माथे पर फिट बैठती हो तो मुझे भी तो विचारना चाहिये न? तुमने सिद्धांतानुसार बात कही है इसमें संशय नहीं है और न ही दो मत. पर मुझे यह सूचित करना रहा कि यदि तुम्हें इन सब बातोंके बड़े अच्छे नहीं लगते तो तुम्हें यहां बैठना ही नहीं चाहिये. मेहरबानी करके घर जाओ. यथाशक्ति सेवा कथा करो. तुम यदि कानके कटोरे मेरे सामने करोगे तो जो बातोंके बड़े मैं दूसरोंको परोस रहा हूं वही तो तुमको परोसुंगा. महाप्रभुजीकी बातोंके बड़े बना रहा हूं अपनी बातोंके नहीं. मैं तो निवेदनके सिद्धांतकी ही बात कह रहा हूं, अच्छी लगे तो बैठो नहीं तो घर जाओ. इतना खुलासा कर दूं, क्योंकि समय ज्यादा निकल गया है, हजारों वर्ष

निकल गये. तुम्हें मेरी बात सुननेम समयकी व्यर्थता लगे तो मत सुनो. स्वच्छंदता बस यही है.

भगवानने गीतामें यह ही समझाया है **युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसुयुक्त स्वपनावबोधस्य योगो भवति दु:खहा** जिसका आहार, विहार, बात, कृति, स्वपन, जागरण सभीमें युक्तता हो, संतुलित हो, out of proportion न हो उसे दुखका हरण करनेवाला योग होता है. हम हदसे अधिक खातें जायें और शौच न जायें तो हौस्पिटलमें जाना पड़ेगा. तो प्रत्येक बातमें युक्तता होनी चाहिये. युक्त आहार, जैसे लौकिकमें अन्न आहार है और उससे शरीरका पोषण होता है. उसकी युक्तता जाननी चाहिये. वैसे ही मार्ग अथवा संप्रदायमें श्रद्धा यह अपना आहार है. भगवत्स्मरण या भगवत्चिंतनकी प्रणाली द्वारा हमें श्रद्धाको अपने भीतर लाना है. जैसे लोकमें अन्न आहार है वैसे ही भक्तिमार्गमें अथवा दूसरे किसी भी मार्गमें श्रद्धा आहार है. फिर विहारकी भी आवश्यकता भी पड़ेगी. तुम केवल श्रद्धा बढ़ालो और कुछ करो धरो नहीं तो तुम्हें कब्जियत हो जायेगी श्रद्धाकी. विहार अर्थात जो श्रद्धासे जो तुमने समझा है उसे बुद्धिपूर्वक अमलमें लानेका प्रयास. और इसमें युक्तता चाहिये, अयुक्तता नहीं चाहिये.

जागृति और सुषुप्तिमें युक्तता होनी चाहिये. सिद्धांतका यदि बोध जो हमको हो जाये तो अपनी जागृति है और कदाचित सिद्धांतके बोधके अनुसार जीनेका प्रयास करते हुये उससे थक जायें और अपना कभी स्खलन होने लगे तो वह अपनी सुषुप्ति है.

सुषुप्तिकी इतनी चिंता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अभी यदि मनुष्य सुषुप्त है तो फिर जागेगा भी, फिर सवेरा होगा और फिर सारा कार्य करेगा. जाग्रत अवस्थाके क्रिया कलापोंका मानसिक और शारीरिक दबाब हम न निभा सकें तो सोना तो पड़ेगा ही न? पर मनुष्य यदि सो जाय तो परिवारके सदस्य रोने नहीं लगते, इतनी निष्ठा रखते हैं कि फिर जागेगा. इसी तरह वल्लभ संप्रदायके अनुयायियोंको इतनी निष्ठा रखनी पड़ेगी कि किसीका स्खलन हो रहा है तो वह सुषुप्त है लेकिन कोई बात नहीं. जागनेपर फिर काम पर लग जायेगा. और जगानेकी एलार्मकी घंटी महाप्रभुजीके वचन ही हैं दूसरा कुछ नहीं. जगानेवाला सूर्योदय महाप्रभुजीका सिद्धांत रूपी प्रकाश है दूसरा कोई प्रकाश वल्लभ संप्रदायमें हमको जगानेमें समर्थ नहीं है. हजारों वर्षोंसे हम प्रभुसे विछुड़े हुवे हैं और जिससे बिछुड़े उसे ही भूल गये तो अगर कंठी लेकर सिद्धांतको भूल गये तो इसमें कोई अधिक समय नहीं हुवा है. पच्चीस तीस पचास वर्ष हुये होंगे आत्मनिवेदनके सिद्धांतको भूले तो कोई खास बात नहीं. जब समझमें आयेगा, जिस दिन समझमें आयेगा और जिस दिन सिद्धांतानुसार सेवा करने लग जाओगे उस दिन संप्रदाय तुम्हारा योग, तुम्हारी चिंता, क्लेश व उद्वेगको दूर कर देगा. भगवान हमको यह वचन देते हैं. श्रीमहाप्रभुजी हमको वचन देते हैं. इसलिये मुझे बातोंके बड़े करनेका या सुननेमें कोई परेशानी नहीं है, शर्त यह है कि बातें महाप्रभुजीकी होनी चाहियें, सिद्धांतकी होनी चाहियें, संप्रदायकी होनी चाहियें, आत्मनिवेदनकी होनी चाहियें और

चिंतानिवृत्तिकी होनी चाहिये. सभी एक दूसरेके सहारेसे चलें तो संप्रदाय है. **अब मर रहा है तो मरने दो न इसे** यह व्यक्तिवाद है संप्रदायवाद नहीं है. संप्रदायका अर्थ है कि मैं तुम्हें सहारा देकर ठीक रास्ते पर चलानेका प्रयास करूंगा और तुम मुझे.

इसी संदर्भमें एक और प्रश्नका खुलासा करना चाहूंगा **भगवत्भक्तोंको श्रीमुख निरखे बिना शांति नहीं होती वैसे ही श्रीजीको भी सेवकोंका मुख भी जब देखनेको मिलता है तो शांति मिलती है. यह तो करोड़ोंका स्वामी है तो क्या कोनेमें बैठे रहने वाला है?** बात तो सच्ची है, स्वामी तो करोड़ोका ही है. वास्तवमें करोड़ गिनती भी कम है, स्वामी तो अनन्त कोटि प्राणियोंका है. फिर जब तुम दर्शन करो तो गधेको भी बांधो वहां, एक बैल भी बांधों, एक भैंस भी बांधो वहां. क्या इनके स्वामी नहीं हैं ठाकुरजी? मनुष्योंको ही केवल इकट्ठा करते हो. श्रीनाथजी क्या केवल मनुष्योंके ही हैं? प्रभु तो जगन्नाथ हैं. करोड़से काम पूरा नहीं होता. सचमें यदि हिम्मत है तो दर्शन खुलें तो शेरको लाओ, उसके भी तो स्वामी हैं, शेरका मुख देखकर प्रभुको शांति होगी. तुम्हारे लिये भी अहो भाव जागेगा कि यह मेरा सच्चा भक्त ह कि शेरको मेरे दर्शनोंकेलिये लाया है. यह तो बालक है. ऐसी लीला उसे बहुत अच्छी लगेगी. कभी करके तो देखो. और शेर जो तुमको कुछ करे तो निष्ठा रखो कि तुम्हारी लौकिक गति नहीं होगी.

प्रश्न : आनन्द प्रमोदके अर्थ सभी ठाकुरजी पधारते हैं उन्हें आडम्बर या तमाशा या प्रदर्शन कहकर रोकने

वालोंको यह याद दिलाना जरूरी है कि दामोदरदासजीने श्रीजीको मिलने आनेकेलिये रोका तो श्रीमहाप्रभुजीको बहुत बुरा लगा और इसे अपराध मानकर उन्हें श्रीठाकुरजीसे आपश्रीने दूर कर दिया. आसुर - व्यामोहलीलाके समय साथ ले जानेकेलिये जब कहा तो आपश्रीने आज्ञा की कि तुम्हारा अपराध दस जन्म बाद दूर होगा. स्वरूप निजेच्छासे वल्लभीजनके पास पधारते हैं और जो कोई भी क्षति हो उसे श्रीमहाप्रभुजी दूर करते हैं.

उत्तर : दामोदरदासजीने श्रीनाथजीको श्रीमहाप्रभुजीके पास पधारनेकेलिये रोका उसके अर्थ महाप्रभुजीने उन्हें वर्जित किया यह बात तो सही है. बादकी कथा जो तुमने लिखी है वह फिर बांच कर तुम्हें बताऊंगा. मेरी स्मृति जरा थोड़ी है, पर इतना तो मुझे याद आता है कि श्रीजीने स्वयं आज्ञाकी थी कि आप दामोदरदासको कुछ मत कहो. दामोदरदासने जो कुछ किया वह अपने अधिकारानुसार ठीक किया. और यदि दस जन्मोंका अंतराय हुवा तो मैं तो बहुत ही आशावादी हूं, और उसमें भी जबकि श्रीमहाप्रभुजी हमें आज्ञा कर रहें हैं कि **चिंता कापि न कार्या** तो हमें निराशावादी किसलिये होना चाहिये? हजारों जन्म जब बीत गये तो फिर दसजन्मका अंतराय कुछ बहुत बड़ा नहीं है, बहुत ही साधारण अंतराय है.

दूसरी रही बात कि स्वरूप निजेच्छासे पधारते हैं और वल्लभीयोंके साथ बंधे हुवे हैं तथा वल्लभाष्टकके चौथे श्लोकका तुमने उदाहरण दिया सो यह बिल्कुल ठीक है, निजेच्छासे ही पधारते हैं. अब निजेच्छासे

पधारत हों तो फिर विचारनेका कुछ रहा ही नहीं. पर जहां निजेच्छा शब्द है **सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात करिष्यति** वहां श्रीगुसांईजीने और अनेक व्याख्याकारोंने अर्थ किया है कि निजेच्छा अर्थात अपनी इच्छा और निजेच्छा अर्थात निजजनोंकी इच्छा. तो प्रभु अपनी इच्छासे पधारें तो मालिकका कोई मालिक नहीं हो सकता. जो बात मैंने तुम्हें श्रीजीके प्रसंगका उदाहरण देकर समझाई थी कि सिद्धांत विरुद्ध मंदिरमें आप बिराजे तो उसका विचार तो हम नहीं ही कर सकते. परन्तु निजजनोंकी इच्छा ऐसा अर्थ भी श्रीगुसांईजी और अन्य टीकाकारोंने किया है, वह कोइ खाली मैं ही तो नहीं कर रहा हूं. और ठाकुरजी हम अपनी इच्छासे किसी ऐसे ठिकाने पर पधरावें तो इसका अपराध भी तो हमको लगता ही है न. और जो यह अपराध लगता हो तो उन व्यक्तियोंको टोकनेका अधिकार मुझे नहीं है और ऐसी मेरी इच्छा भी नहीं है. पर इसके सिद्धांतकी स्पष्टता मुझे करनी ही चाहिये और कर ही रहा हूं. बाकी तो उन्हें जो अच्छा लगे वह मैं कर ही रहा हूं. जो कुछ भी क्षति होगी वह महाप्रभुजी दूर करेंगे. जीवके दोषका विचार आप करते होंगे, हमें नहीं करना है. यह जो तुम्हारी निष्ठा या सिद्धांत पक्के हों तो फिर जो मैं बोल रहा हूं उसमें क्षति आती हो तो फिर उसका विचार महाप्रभुजीको करना है, तुम्हें नहीं. तुम्हारे बोलनेमें, करनेमें आती क्षतिका विचार श्रीमहाप्रभुजी करेंगे और मुझे जो सिद्धांत समझमें आये वैसे ही तुम्हें समझा रहा हूं. उसमें भी क्षतिका विचार महाप्रभुजी करेंगे, तुम नहीं कर सकोगे.

खैर फिर दूसरे श्लोकपर आते हैं. श्रीगुसांईजी इस दूसरे श्लोकको समझाते हुये कहते हैं कि **सर्वथा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन् तथा न भविष्यति इति भाव: अशक्त्या सेवाद्यसंभवे अपि इदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तु शब्द:**. अर्थात् जो हम आत्मनिवेदनका चिंतन भली प्रकारसे करते रहेंगे तो जीवनमें कभी भी स्वच्छंदता नहीं आयेगी. क्योंकि सिद्धांत जो तुम कहते जाओगे सुनते जाओगे तो उसका कुछ संस्कार तो तुम्हारे हृदय पर भी पड़ेगा, पड़ेगा और पड़ेगा ही. तुम्हारेसे कोई क्षति कदाचित हो भी जाय तो आत्मनिवेदनके सिद्धांतकी बैटरी ऐसी है कि तुम्हें खड्डे दिखा देगी बुद्धिकी हैटलाइटसे. इसलिये तुम कदाचित एक बार कभी गिर भी जाओ तो दूसरी बार संभलनेका प्रयास तो निश्चित करोगे. अर्थात् आत्मनिवेदनके चिंतनकी जो बैटरी है वह तुम जलाकर रखो और पुष्टिमार्गपर चलो तो बहुत अधिक ठोकर नहीं खाओगे, ऐसा विश्वास श्रीमहाप्रभुजी दिला रहे हैं. और वह वहां तक कि जो आत्मनिवेदन भगवत्सेवार्थ हमने किया है, भगवत्सेवाधिकार लेनेकेलिये किया है, और जो आत्मनिवेदनकी सार्थकता सेवा किये बिना नहीं होती तो सेवा किसी प्रकारकी मानसिक अथवा शारीरिक अथवा पारिवारिक अथवा सामाजिक अशक्ति - जो महाप्रभुजीने गिनाई हैं **विक्षेपाद् अथवा अशकत्या प्रतिबन्धात् अपि क्वचित. अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीड़ादिसंभवे** उनमें कहीं तुम्हारे फंस गये होनेके कारण सेवा छोड़नी पड़े तो कोई दिक्कत नहीं है. पर तब क्या करना चाहिये? तो श्रीमहाप्रभुजी तुम्हें

सावधान करते हैं कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै:** तुम आत्मनिवेदनके चिंतनको समझो तो तुम्हें याद रहेगा कि मैंने सर्वस्व प्रभुको समर्पित किया है अब उसको जो कुछ करना है सो करे. तुम जब तलक आत्मनिवेदनके भावको नहीं भूलोगे तब तलक कोई दिक्कत नहीं आयेगी. और वह भाव जब भी भूले तो फिर सेवामें भी दिक्कत आयेगी यह समझ लो. आत्मनिवेदनके भावको भूलकर जो भी सेवा करता है वह श्रीमहाप्रभुजीके तात्पर्यको समझ नहीं सकता. मैंने तुम्हें बताया कि आत्मनिवेदन ऐसी ताल है जिस ताल पर प्रभु अपनी आनन्दमय लीलाका गान कर रहे हैं, अपनी बांसुरी बजा रहे हैं. इसलिये आत्मनिवेदनके भावको भूलकर तो सेवा भी नहीं की जा सकती, और आत्मनिवेदनका भाव कायम रहा तो कदाचित सेवा छूट भी जाय तो भी दिक्कत नहीं आयेगी– ऐसा श्रीमहाप्रभुजीका दढ़तर भाव है.

अब तुम इसका अर्थ ऐसे घटाओ कि चलो बहुत सरल उपाय बता दिया. ब्रह्मसंबंध ले लेता हूं और पूरा दिन गद्यमंत्र ही जपता रहूंगा, सेवाके झमेलेसे तो छूटूंगा. भाई ऐसा अर्थ मत निकाल लेना. महाभारत पूरा सुनाया और फिर पूछा **क्या सुना**? तो जबाब दिया कि **द्रोपदी जैसी महासती पांच पतियोंसे विवाह कर सकती है तो हमें पांच नहीं तो दो तीन तो चलेंगे न**? अरे भाई महाभारतका सच्चा अर्थ यह जानना चाहिये कि पांच पांच पति होनेके उपरांत भी जब द्रोपदीका चीरहरण हुवा तो कोई भी बचाने नहीं आ सका; एकसे विवाह किया होता तो कमसे कम

बचानेकेलिये वह फना तो हो जाता. परन्तु ऐसा अर्थ क्यों नहीं लिया? क्योंकि अपने हृदयमें कुभाव है. फिर कथा सुनकर जैसे हमें अच्छा लगे वह बोध हम उसका ले लेते हैं. वैसे ही आत्मनिवेदनका चिंतन करते रहें सेवा छोड़कर, ऐसा कहना या करना आत्मनिवेदनके मुख्य भावका घात करना है. सेवाको छोड़कर आत्मनिवेदनका स्मरण नहीं करना; सेवा छूट जाये तो भी और सेवा करते हो तो भी आत्मनिवेदनका स्मरण तो करना ही चाहिये. दोनों बातोंमें बहुत अन्तर है. छोड़नेकेलिये जब हम आत्मनिवेदनका स्मरण करते हैं और पहली पांच अशक्तियां श्रीमहाप्रभुजीने जो बताई हैं उसमें से यदि एककेलिये सेवा नहीं होती हो तो आत्मनिवेदनका स्मरण करना, इन दोनोंका विवेक जानोगे तो तुमको श्रीमहाप्रभुजीका भाव समझमें आयेगा.

अब **सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति** की व्याख्या करते हुवे श्रीगुसांईजी हमको बहुत सुंदर बात समझाते हैं. तुम कहते थे कि यह तो करोड़ोंका स्वामी है और निजेच्छासे बल्लभीयोंके पास आते हैं; तो यहां यह ध्यान दो कि **अत्र 'सर्व' शब्द निवेदितात्मसर्वपर:** प्रभु तो करोड़ोंके स्वामी हैं यह भाव पुष्टिमार्गमें तो काममें नहीं आता भाई साहब. पुष्टिमार्गमें तो यह भाव काममें आता है कि मेरा स्वामी. जब तक यह भाव नहीं जागे तब तक तुम पुष्टिमार्गमें नहीं आओ क्योंकि पुष्टिमार्ग तुम्हारे लिये नहीं है. श्रीमहाप्रभुजीने **सर्वेश्वर सर्वात्मा** कहा उसका अर्थ अच्छी तरहसे समझ लो. श्रीगुसांईजी कहते हैं कि सर्व शब्द का अर्थ 'सभी' नहीं है. जिस तरह श्राद्धमें ब्राह्मणोंको भोजन करने बुलाया

हो और हम कहें **सभी ब्राह्मणोंको भोजन दो** तो सभी ब्राह्मण अर्थात सारी दुनियांमें रहनेवाले ब्राह्मण नहीं पर जो आमंत्रित हैं उनको ही भोजन दो. दुनियांके ब्राह्मणोंको खिला सका इतना भोजन तुमने बनाया है क्या? इसी तरह करोड़ोंके स्वामीको तुम आमंत्रित नहीं कर सकते. तुम तो अपने स्वामीको ही कह सकते हो कि **रहिये मेरे ही महल पिय अनत न जैये. शैया सामिग्री वसन आभूषण सब विधि राखोंगी सहल** यह भाव है पुष्टिमार्गका. इस तरह पुष्टिमार्गमे प्रभुको आमंत्रित किया जाता है. वह करोड़ोंका स्वामी है यह बात तो सत्य है लेकिन हमारे यहां इसका महत्व नहीं है, हमारे यहां तो अपने, मेरे स्वामीका महत्व है. हम जगन्नाथकी सेवा नहीं करते, व्रजाधिपकी सेवा करते हैं. **सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:. स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य क्वापि कदाचन** जब प्रभु जगतको भूलकर व्रजपुर तक ही अपना आधिपत्य सीमित कर सकते हैं; ब्रह्मांडनायक चौरासीकोसमें अपना राज सीमित कर सकता है तब पुष्टि भक्त कह सकता है कि अब तुम सेवाके लायक हुवे. इसीलिये पद्मनाभदासजीकी वार्तामें आता है कि श्रीमथुराधीश बड़े स्वरूपसे प्रकट हुवे तो श्रीमहाप्रभुजीने कहा **ऐसे स्वरूपकी सेवा कौन करेगा, छोटे होवो.** छोटे होनेके बाद कहा **हां अब आप सेवा लायक हुवे**. तो ऐसे स्वरूपकी सेवा करनी जो हमारी गोदीमें बिराज सके. वह करोड़ोंका स्वामी तो है पर फिर करोड़ोंमें तुम्हारी गिनती क्या रह जायेगी? फिर तुम्हारी सेवाकी इसको क्या गरज रह जायेगी, वह खुद ही सब कुछ कर लेगा.

तुम्हें अपना स्वामी लगता है कि नहीं. नगद सौदेकी बात करो. इसी कारण यशोदाजी पदमें कहती हैं **आंगन खेलिये झनक मनक. लरिका यूथ संग मनमोहन बालक तनक तनक. पैया लागूं पर घर जैवो छांडो छिनक छिनक. परमानंद कहत नंदरानी बानी तनक तनक.** तुम्हें यह वाणी सुनाई नहीं देती? तो तुम कैसे पुष्टिमार्गीय हो? जब यशोदाजीकी वाणी तुम्हें नहीं समझमें आती तो यशोदोत्संगलालितका लालन पालन किस भांतिसे कर सकोगे? इस वाणीका प्रतिबिंब तुम्हारे हृदयमें न पड़ता हो तो तुम पुष्टिमार्गमें मत आओ, करोड़ोंका जो प्रवाह है उसमें आनन्दसे रहो. प्रभु तुम्हें वहां ही मिलेंगे. प्रवाहीयोंको प्रवाहकी रीतिसे ही मिलेंगे, पुष्टिमार्गीयोंको पुष्टिरीतिसे ही मिलेंगे, मर्यादाजीवोंको मर्यादाकी रीतिसे मिलेंगे. प्रभु तो सभीको मिलते हैं पर पुष्टिमार्गमें जो प्रभुको मिलना हो तो श्रीयशोदाजीकी वाणीका प्रतिबिंब तुम्हारे हृदयमें पड़ना चाहिये कि **पैंया लागों पर घर जैबौ छांडो** यह जो तुम्हारे आंगनमें नहीं खेल सकता तो फिर कुछ गड़बड़ है पुष्टिमार्गके हिसाबसे. फिर तुम कुछ खो दोगे. आत्मनिवेदनकी प्रक्रियासे तुम्हारे हृदयमें जो यशोदोत्संगलालित जन्मा है उसको तुम खो दोगे.

इसीलिये श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं **तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेषु अंगीकृतस्वामित्वम् आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तत् हितकृतौ न प्रार्थनाम् अपेक्षते इति ज्ञाप्यते** कितनी सुंदर बात समझाते हैं कि जब हम अपने प्रभुको अपना मानेंगे करोड़ोंका नहीं, केवल मेरा ही है ऐसी

आत्मीयताका भाव प्रभुमें मानेंगे तो प्रभु भी यहीं कहेंगे कि तू मेरा है मेरे सिवाय दूसरे किसीका नहीं. यह पुष्टिमार्ग है. पर जब हम यह कहते हैं कि तू करोड़ोंका स्वामी है तो प्रभु भी कहेंगे कि तेरे जैसे करोड़ों मेरे हैं.

तू है हरजाई तो अपना भी यही तौर सही. तू नहीं और सही और नहीं और सही. क्योंकि **ये यथा माम् प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्** उपनिषदमें कहा गया है कि **तं यथा यथोपासते तथैव भवति** उसकी जैसी तुम उपासना करो वैसा ही वह बन जायेगा. तुम इसे करोड़ोंका स्वामी मानोगे तो यह करोड़ोंका हो जायेगा, बस तुम्हारा नहीं रह जायेगा. तुम इसे अपना स्वामी मानोगे तब देखो कि यह तुम्हारा स्वामी बनता है कि नहीं. इसीलिये **निजेच्छात: करिष्यति** का अर्थ श्रीगुसांईजी करते हैं कि यह निजेच्छासे करते हैं जबकि करोड़ोंका स्वामी हो तब. लेकिन जब यह तुम्हारा स्वामी है तब यह तुम्हारी इच्छानुसार करता है. तुम्हारे मनोरथोंको पूर्ण करता है.

इसीलिये कहा है **मनोरथांतं श्रुतयो यथाययु:** तुम्हारा मनोरथ हो तो पूर्ण करते हैं. करोड़ोंका मनोरथ पूर्ण नहीं करते. उनको करोड़ोंका मनोरथ पूरा करनेके करोड़ों रास्तोंकी खबर है. करोड़ोंका मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता. क्योंकि करोड़ोंका मनोरथ एक नहीं होता, हरेकका मनोरथ उसके मनका होता है. दूसरेका मन, दूसरका मनोरथ नहीं कर सकता. मनोरथ तो मनका होता है. तुम जब तक यह भाव पैदा नहीं कर सकते तब तक प्रभु भी यह जीव मेरा है यह भाव नहीं ला

सकते. इसीलिये श्रीगुसांईजी कह रहे हैं **निजा: स्वीयत्वेन अंगीकृता: सेवक: तेषां प्रचुरेच्छात: स्वयमेव अपेक्षितं करिष्यति** अर्थात जा प्रभुको अपना मानता है उसे प्रभु अपना मानते हैं, और जिसको प्रभु अपना मानते हैं उसीकी इच्छाके अनुसार प्रभु अपनी लीला करते हैं. अपनी इच्छानुसार नहीं. **भक्त मनोरथ पूरकाय नम:**. लेकिन इसमें एक शर्त है, श्रीगुसांईजी कहते हैं कि जो अविकृत इच्छायें हैं वह पूरी करते हैं. अविकृत इच्छा क्या? सिद्धांत विरोधी इच्छाओंको कभी पूरा नहीं करते; सिद्धांत विरोधी मनोरथोंमें प्रभु कभी नहीं बिराजते. तुम्हारा मनोरथ अविकृत हो - किसीको दिखानेकेलिये नहीं हो - किसीकी स्पर्धामें नहीं हो - कुछ कमानेकेलिये नहीं हो तो ऐसे मनोरथमें प्रभु बिराजकर विहार करते हैं. लेकिन यदि तुम ऐसे मनोरथ नहीं करते और सिद्धांत विरोधी मनोरथ करते हो तो प्रभु उसमें कभी नहीं बिराजते अथवा विहार करते. जो कुछ तुम्हें भास रहा है वह मिथ्याभास है. श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजीका सिद्धांत तो ऐसा है. अच्छा लगे तो भी यही है और अच्छा न लगे तो भी यही रहेगा. लिखा हुवा सिद्धांत तो यही है करते चाहे हम कुछ भी हों.

ऐसे दूसरा श्लोक पूरा हुवा. अब इस समय तुम्हें यह बात समझ लेनी चाहिये कि नवरत्नके नौ श्लोकोंमें नौ तरहके उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने दिये हैं शब्दत:. और जो नौ उपदेश दिये हैं वह अलग अलग चिंताओंको निवृत करनेवाले हैं. अलग कहो या अनोखे. इस अर्थमें प्रत्येक प्रकारकी चिंताका प्रकार अलग अलग है. सभी चिंताऐं

एक प्रकारकी नहीं हैं इसलिये उनके निवृत करनेके उपाय भी अलग अलग ही हैं और उनमेंसे कौनसी चिंता हमको हो रही है उस चिंताकी निवृत्तिकेलिये हमें वह श्लोक ही गुणकारी होता है, कोई नौ के नौ श्लोक एक साथ हमको उपकारी नहीं हैं. क्योंकि जिस प्रकारकी चिंता तुम्हें न होती हो उसकी निवृत्तिका उपदेश तुम्हें देना श्रीमहाप्रभुजीको विवक्षित नहीं है. तुम उनके कहे हुए उपदेशोंको सुनो और समझो. चिंतनसे और मननसे उसे जीवनमें अमलमें लानेका प्रयास करो तो निश्चित ही इस प्रकारकी चिंता निवृत्त हो सकेंगी.

समग्र रूपमें तो नवरत्नका ही नहीं, श्रीमहाप्रभुजीके प्रत्येक शब्दमात्रका हमें पाठ करना चाहिये, क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीके प्रत्येक शब्दमें ऐसे अमूल्य उपदेश भरे हुवे हैं कि जिससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते. पुष्टि सृष्टिमें प्रकटा प्रत्येक जीव सदा सदा श्रीमहाप्रभुजीका ऋणी है और रहेगा. जो सुदूर दृष्टि रखकर, श्रम लेकर आप पुष्टि सृष्टिका ख्याल रखकर जीवकी सरलता, शास्त्रकी संगति, देशकालकी मर्यादा और भगवत्सुख इन चारों बातोंका विचार करके जैसा उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने दिया है ऐसा उपदेश दूसरा कोई नहीं दे सकता. इसीलिये श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं **न हि अन्यो वागधीशाच्छ्रुति गण वचसां भावमाज्ञातुमिष्टे यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयतिवधुरग्रत पत्युरेव** वाक्पतिके सिवाय, भगवतवाणीका सच्चा तात्पर्य हमको कौन समझा सकता

है ? इसलिये प्रत्येक ग्रंथका पाठ करना चाहिये, चिंतन करना चाहिये.

नवरत्न एक ही उपदेश नहीं है. उसमें नौ उपदेश हैं और वह नौ प्रकारकी चिंताओंको निवृत्त करनेका उपदेश हैं. जैसे कि डाक्टरके दवाखानेमें सौ प्रकारकी दवाऐं होती हैं विभिन्न प्रकारके रोगोंको निवृत्त करनेकेलिये पर इसमें सब एक ही रोगीको लागू पड़ती हों ऐसा नहीं है. जैसा अपना रोग तदानुसार ही दवा अपनेको लागू पड़ती है. इसलिये नवरत्नमेंसे यदि हम दवा लेने जायेंगे तो यह विवेक तो अपेक्षित होता ही है कि हमको किस प्रकारकी चिंता हो रही है और उस चिंताका निवारण श्रीमहाप्रभुजीने कौनसे श्लोकमें कौनसी पंक्तिमें किया है. उस उपदेशका यदि हम अनुसंधान करेंगे, उसे जीवनमें अमलमें लानेका प्रयास करेंगे तो अपनी चिंता निवृत्त हो जायेगी, नहीं ता नहीं निवृत्त होगी. यहां दो प्रकारके उपदेश हैं. कुछ उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने शब्द से दिये हैं और कुछ उपदेश शब्दसे नहीं दिये परन्तु उस उपदेशकी ध्वनि अथवा सूचन अथवा तात्पर्य श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीमेंसे झांकता है और श्रीगुसांईजीने उसे हमें समझाया है.

उसमें पहलेसे सात श्लोक पर्यन्त वर्णित उन चिंताओंका उपाय श्रीमहाप्रभुजीने बताया है जो साधारणतया हम करते हैं, जिसे हम कहते हैं **पेट मसल कर दर्द पैदा करना**, उन चिंताओंको किस प्रकार दूर करना चाहिये. अब ऐसे तो श्रीमहाप्रभुजी कह नहीं सकते कि तुम जो चिंता कर रहे हो वह छोड़ दो, मत करो. बालमनोविज्ञानमें एक बात समझानेमें

आई है कि बालकके हाथसे कोई खिलौना लें लें और वह जिद करे तो उसे चांटा मारे कि इस खिलौनेसे नहीं खेलते और उसे छीन लें, तो बच्चा और जोरसे रोने लगता है. ऐसे यदि पांच दस बार तमाचा खायगा तो बच्चेकी मानसिकता बिगड़ जायगी. हमें ऐसे लगेगा कि उस चीजसे बच्चेको नहीं खेलने दिया जाना चाहिये, वह नुक्सानदायक है, तो तमाचा मारकर उसके हाथसे खिलौना छीन नहीं लेना चाहिये बल्कि कोई ऐसी दूसरी वस्तु देनी चाहिये जिससे यह खेल सके और जिससे यह खेलना चाह रहा था उसे भूल जाये. हर बार यदि तमाचा मारना पड़ता हो तो हम बच्चेको बड़ा करने लायक नहीं हैं. इसलिये श्रीमहाप्रभुजी तमाचा मारकर यह नहीं कहते हमें कि यह चिंता मत करो, ऐसी चिंता करोगे तो नरकमें पड़ोगे, तुम्हारा सत्यानाश होगा. श्रीमहाप्रभुजी प्रत्येक चिंताका तुम्हें कोई विपरीत भाव बता रहे हैं कि ऐसी भावना तुम यदि करोगे तो यह चिंता तुम्हारे मनमेंसे अपने आप ही निकल जायेगी. प्रत्येक चिंताकी कोई विपरीत प्रेरणा, भाव, सिद्धांत तुम्हें बता रहे हैं. ऐसे नहीं कहते कि चिंता छोड़ दो, क्योंकि महाप्रभुजीको पता ह कि हम सब बालक हैं.

तो पहलेसे लेकर सात श्लोक तक उन चिंताओंको निवृत्त करनेका उपाय बताया है जिन चिंताओंको हम करते हैं. बाकी बचे आठवें और नौवें श्लोक उनमें जिनका उपाय बताया गया है वह चिंताऐं हम नहीं करते परन्तु हमको खुद ब खुद हो जाती हैं. अपना काबू हो न हो. जैसे कि मुझे यदि सुई चुभे तो उससे

मुझे दर्द तो होगा, तो मैं कुछ कर रहा हूं ऐसा नहीं है. परन्तु मैं जान बूझ कर सुई चुभोता होऊं तो कहा जा सकता है कि ऐसा नहीं करो. मुझे यदि एक फूल हाथमें दे दिया जाय तो मैं अपने आप सुई चुभोना बंद कर दूंगा.

इन एकसे सात श्लोकमें वर्णित चिंताओंके दो विभाग हैं: एक लौकिक चिंता और दूसरी अलौकिक चिंता. लौकिक चिंताकेलिये श्रीमहाप्रभुजीने एक ही बात कही है **चिंता कापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति. भगवानापि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम** यदि तुम्हें लौकिक चिंता हो रही है तो आत्म निवेदनके भावको याद करके अपने लौकिकके इष्ट अनिष्टका विचार प्रभु पर छोड़ दो, प्रभुको जैसा करना होगा वैसे करेंगे. यह भाव रखोगे तो लौकिक चिंता निवृत्त हो जायगी यह बात पहले श्लोकमें कही.

दूसरे श्लोकमें जिसका उपाय बताया गया है वह अलौकिक चिंता है, घरकी, व्यवसायकी, विवाहकी, हानिकी, लाभकी चिंता नहीं. इस अलौकिक चिंताके भी दो प्रकार हो सकते हैं कि हम अपने लिये चिंता करें सेवक अथवा भक्तकी तरह, अथवा अपने स्वामीके लिये चिंता करें. सेवक रूपसे चिंता करें तो वह स्वार्थ चिंता कहलाती है, पर यह स्वार्थ लौकिक स्वार्थ नहीं है, भक्तका स्वार्थ है, सेवकका स्वार्थ है, ऊंची कक्षाका स्वार्थ है और दूसरा भगवदार्थ चिंता, अर्थात अपने स्वामीकी चिंता. स्वार्थ चिंतामें भी दो प्रकार हो सकते हैं. एक तो अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी हम चिंता करें वह. उदाहरण रूपसे धर्माचरण शास्त्रोक्त

प्रकारसे कैसे निभाना चाहिये? शास्त्रके वचन देंखे तो डर लग जाये. एक सामान्य उदाहरण तुम्हें बताता हूं. एकादशीकेलिये शास्त्रमें ऐसा वचन है कि जो व्यक्ति एकादशीके दिन भोजन करता है वह अन्न नहीं विष्ठा खाता ह. अब इतनी कठोर आज्ञासे मनुष्य घबरा जायगा कि नहीं? एक ओर इतनी कठोर आज्ञा और दूसरी ओर हमारी स्थिति ऐसी कि खायें नहीं तो चक्कर आने लग जायें! अब जब शास्त्रको भूल जायें तो जीवनमें स्वच्छंदता आ जाती है, निरकुंशता आती है; और शास्त्रके अनुसार चलें तो जीवनमें कोई कार्य भी ठीक ठाक न हो. जीवन ही हमें माफिक न आये. अब घिर गये न दोनों तरफ से, तो चिंता होगी कि नहीं? हो सकता है कल तक तुम्हें एकादशीकी चिंता नहीं होती हो पर आज मैंने बीज रोप दिया है, अब चिंता हो जायेगी.

ऐसी भी चिंता हो सकती है कि पैसा कमाये बिना तो सेवाकी नहीं जा सकती. अब ठाकुरजीका प्रदर्शन करके पैसा कमाना है या कथा करके- भगवत्स्वरूप बेचना है या भगवल्लीला बेचनी है- या कोई ऐसी व्यावृत्ति करनी है जो कि शास्त्रतः वर्जित है. अब शास्त्र तो स्पष्ट आज्ञा करता है **मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते** मेंरे नाम रूप आदिका विक्रय करनेवाला अपने आपको कितना भी बड़ा भगत कहलवाता हो, वह मुझे अच्छा नहीं लगता; और सचमें तो मैं भी उसे अच्छा नहीं लगता. मेरे नाम रूप मनोरथकी झांकियोंको बेचता है उसे मैं अच्छा नहीं लगता. क्योंकि यदि मैं

बिकना बंद हो जाऊं तो यह मुझे छोड़कर जिससे कमाई होती हो उसे पकड़ लेगा. शास्त्र तो ऐसा कहते हैं. और हमें कथा तो करनी ही है, मंदिरमें मनोरथका आयोजन तो करना ही है, तो चिंता हुए बिना रहे कि नहीं? यह अर्थकी चिंता है, मै अर्थके उपार्जनकेलिये कौनसा उपाय करूं? शास्त्रमें कहा गया है कि हम यह यह वृत्ति कर सकते हैं. पर हमको वह व्यवसाय अच्छे नहीं लगते. हमें जो अच्छा लगे वह व्यवसाय हम कर लेते हैं. लॉटरी सभीको पसंद होती है पर लगती तो नहीं न. जो लॉटरी लगनेका विश्वास कोई दिला दे तो सभी लॉटरी ही लगायेंगे, व्यवसाय या व्यापार कोई करेगा ही नहीं. संस्कृतमें कहावत है कि **अर्के चेत् मधु विन्देत् किमर्थं पर्वतं व्रजेत्**. शहद यदि यहीं मिल जाए तो जंगलमें कौन जाए इसका स्वाद लेने? इसलिये ठाकुरजीके मनोरथकी रेडीमेड झांकियां बिकती हों तो कौन स्वयं मेहनत करेगा इतनी सजावट सामिग्रीके चक्करमें ! कथा यदि रेडीमेड मिलती हो तो कौन पड़ेगा सत्संगके चक्करमें, कौन पड़ेगा ग्रंथोंके स्वाध्यायके झमेलेमें. ऐसा है. तो शास्त्रने एक एक व्यक्तिकेलिये मर्यादा निर्धारितकी है कि ब्राह्मण कौन सा व्यवसाय कर सकता है और कौन सा नहीं. एक ओर शास्त्रके ऐसे वचन और एक ओर अपने जीवनकी परेशानियां चिंता हुए बिना रहेगी कि नहीं, विचार तो करें.

तीसरी बात कामकी. किस वस्तुका उपभोग करना और किसका नहीं इसकी भी चिंता हुए बिना रहती नहीं. अच्छा कुछ लगता है और खाते कुछ और ही ह

हम लोग. अच्छा यह लगता है कि प्रसाद ही लें हम परन्तु खाते हम कुछ और ही हैं, देवद्रव्य खाते हैं. इसलिए ऐसी सभी विचित्र स्थितियोंमें हम यदि फंस गये हों तो आत्माको चिंता हुए बिना रहेगी कि नहीं? श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि यह त्रैवर्गिक आयास चिंता लायक नहीं ह. अरे धर्म, अर्थ, काम संपादनके अर्थ यदि तुम भक्ति करोगे तो तुम्हें भक्तिमें विघ्न आयेंगे, आयेंगे ही और निश्चित आयेंगे ही. इसलिए भक्तिको त्रैवर्गिक आयास और उनकी चिंतासे थोड़ा अलग ही रखो. नरोड़ावाले गोपालदासजीकी वार्तामें आता है कि उनके माथे श्रीमहाप्रभुजीने ठाकुरजी पधराये. फिर एक बार श्रीमहाप्रभुजी उनके घर पधारे तो गोपालदासजी घरमें नहीं थे, उनका बेटा था. उससे पूछा तेरे पिता कहां हैं? उसने उत्तर दिया कि **आपने ठाकुरजी पधरा दिये हैं इसलिये कमाने गये हैं.** महाप्रभुजीको इतनी अधिक ग्लानि हुई कि एसे घरमें मैं कैसे रह सकता हूं कि जिस घरका लड़का ठाकुरजीकी बदनामी करता हो? इसलिए अभी चला जाता हूं. फिर महाप्रभुजीको लगा कि यह तो बच्चा है गोपालदासको आने दो. वह जब आये तो पूछा **कहां गया था** उन्होंने कहा **कृपानाथ पेट लगा है अतएव व्यावृत्तिकेलिये गया था**. महाप्रभुजीने कहा **हां अब तूने कही सच्ची बात. पेटकेलिये कमाने जाओ तो उसमें श्रीठाकुरजीको क्यों घसीटते हो?** और हमने जो घसीटा तो श्रीमहाप्रभुजी हमारे घरमें नहीं पधारेंगे, पधार जायेंगे.

तुम वल्लभीय होनेका दावा करते हो, पर तुम वल्लभीय नहीं, गंगाज हो. यह श्यामूबाबा कहे तो

श्यामूबाबा गुनहगार, वार्तामें है कि महाप्रभुजीको तत्काल पधारनेकी इच्छा हुई, ठाकुरजीका नाम घसीटा !

इसीसे वार्तामें आता है कि महाप्रभुजीने कहा **तें भली कीनी**. ऐसे कैसे कहा जा सकता है कि हम ठाकुरजीकेलिये कमाने जाते हैं. कमाना चाहिये अपने पेटकेलिये, और जो कमाया उसका भोग करनेसे पहले ठाकुरजी याद आने चाहियें. तब ही तुमने सचमें कमाया. तभी तुमने कमाईका प्रभुमें विनियोग किया, तो यही भक्तिका सच्चा प्रकार है. अर्थात तुम्हारे धर्मार्थकामके जो त्रैवर्गिक आयास हैं उनके बीचमें भक्तिको न लाओ. उसमें अपनी अंहता ममता रखो और त्रैवर्गिक आयासोंको पूर्ण करो और जब वह पूर्ण हो जायें फिर तुमने जो धर्मका, कामका, अर्थका उपार्जन करा हो उनका तुम भक्तिमें विनियोग करो. तुम्हारे धर्मार्थकाममें भक्तिका विनियोग नहीं, पर अपने धर्मार्थकामका भक्तिमें विनियोग करो. हम नहा कर अपरसमें सेवा करते हैं क्योंकि नहानेसे जो कुछ भी शुद्धि मेरी होती हो उसका विनियोग मैं भक्तिमें करूं. भक्ति करनेके बाद नहीं नहाते, नहाकर भक्ति करते हैं. हमारे यहां इसीसे स्नान करते समय यह श्लोक बोलनेमें आता है कि **सभी तीथोमें स्नान करनेसे मेरी जो शुद्धि होती हो उसका कृष्णसेवामें विनियोग हो**. मेरे स्नानसे, संध्यासे, व्रतसे, प्रायश्चितसे, तपसे, जो कोई भी शुद्धि होती हो वह केवल कृष्ण सेवाकेलिये ही है.

आजकल तो सभी परंपरा लीन होती जा रही हैं, पर प्राचीन कालमें वैष्णवोंके यहां भी ऐसा नियम था कि जो कोई भी व्रत करें, दान करें, तीर्थस्नान करें अथवा श्राद्ध करें उसके संकल्पमें ऐसा कहा जाता था कि **श्रीगोपीजनवल्लभाय प्रीत्यर्थम्** मैं अपने आत्मोद्धारकेलिये यह सब कुछ नहीं करता हूं, जो कुछ भी कर रहा हूं वह श्रीगोपीजनवल्लभकी प्रीतिकेलिये कर रहा हूं. इसलिये इससे जो कुछ भी लाभ होता हो वह मुझे नहीं मिलना चाहिये, मेरी भक्तिको वह लाभ मिलना चाहिये. शुद्धि हो तो ऐसी कि जिससे मेरी भक्ति खिल उठे. मेरा कमाया हुवा द्रव्य ऐसा दैवी द्रव्य होना चाहिये कि जिससे मेरी भक्ति बढ़े. जो द्रव्य मुझे भक्तिमें बाधक हो तो वह मुझे नहीं चाहिये. इसीसे वार्तामें आता है कि श्रीगुसांईजी सेवा कर रहे थे तब खबर आई कि अमुक द्रव्य आया है, तो श्रीगुसांईजीने कहा **इस द्रव्यने सेवामें व्याघात पहुंचाया है इसे मत रखा**. अधिकारीको लगा **ऐसे कहीं द्रव्य जाने दिया जाता ह**? इसलिये एक मंदिरकी छतमें गड़वा दिया. यह बात किसी मुगल अफसरके ध्यानमें आ गई. तो इसका दुष्परिणाम ऐसा आया कि मथुरामें जितने मंदिर थे उन सभीकी छतें खोद दी गई. उस समय श्रीगुसांईजीने आज्ञाकी **देखो, कैसा दुष्पाप हुआ है. एक मंदिरकी छतमें पैसा गाढ़ा उसीस सभी मंदिरोंकी छतें खोद दी गई.** ऐसा पाप उस आसुरी द्रव्यको संजोकर रखनेकी वृत्तिके कारण हुवा. आसुरीद्रव्यके संरक्षणकेलिये मंदिरकी छतोंका विनियोग किया. अपने घरका विनियोग करना चाहिये था ना कम से कम. एक मकान जब

बन रहा था. मैं देखने गया तो मकान मालिकने संडासमें तिजोरी बनवायी थी. मुझे यह आइडिया बहुत ही अच्छा लगा, वह जगह ही ठीक है.

तो आसुरी द्रव्य कैसा नुकसान पहुंचा सकता है इसका बोध श्रीगुसांईजीने हमको कराया. मंदिर द्रव्यको संजोनेकेलिये नहीं, भगवतसेवाकेलिये ही होना चाहिये. पर जब हम ऐसा दुरुपयोग करते हैं तब तो मंदिर खोदे ही जायेंगे सभी. इसलिये थोड़ी सावधानी रखनी चाहिये. इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि अपने जो त्रैवर्गिक आयास हैं उनकी सुरक्षाकेलिये भक्ति नहीं करो. भक्ति करनेकेलिये अपने आवश्यक त्रैवर्गिक आयास करो. तुम जो कुछ भी त्रैवर्गिक आयास करते हो उन्हें भक्तिके उपयोगमें लगाओ परन्तु भक्तिको त्रैवर्गिक आयासके उपयोगमें नहीं लगाओ. जो हमने अपनी भक्तिका धर्म करनेकेलिये या धन कमानेकेलिये या अपनी कोई कामनाके अर्थ किया तो हमने आत्मनिवेदन नहीं किया, हमने अपने आत्मनिवदनको लजाया. इतना ही नहीं, जो श्रीमहाप्रभुजीने हमें दीक्षा दी है उन्हें भी हमारी कुपात्रता देखकर लज्जा आती है कि अरे मैंने कैसे जीवोंको भगवानके सामने भेज दिया. अनुयायी जो आत्मनिवेदन जैसे पवित्र संबंधको ऐसी भांति लजाता हो, अपने त्रैवर्गिक आयासकेलिये भक्तिको उपयोगमें लाता हो तो श्रीमहाप्रभुजीको भी ठाकुरजीके सामने जाते थोड़ी शरम आयेगी कि इनका हाथ पकड़ाकर प्रभु मैंने भूलकी. समाचार ऐसे आते हैं कि इस गांवमें छप्पन भोग हुवा. किसलिये? स्पर्धाकेलिये, पासके गांवमें छप्पन भोग हुवा और इस गांवमें न हा

ऐसा कैसे चलेगा? तो महाप्रभुजी किस मुंहसे सन्मुख पधारें? जिस प्रभुकी भक्तिका अधिकार आत्माराम मुनियोंको है वह हमें श्रीमहाप्रभुजीने क्या ऐसी हल्की कामनाओंकी पूर्तिके लिये दिया है? श्रीमहाप्रभुजीको भी लगता होगा कि क्यों मैंने इनको ब्रह्मसंबंध कराया.

त्रैवर्गिक आयास भी दो भांतिके होते हैं - सेवापयोगी और सेवामें अनुपयोगी. भक्त होकर सेवककी हैसियतमें जो त्रैवर्गिक आयास हम करते हैं उसके भी दो प्रकार हैं- एक सेवकके रूपमें अपना यश जतानेकेलिए और एक सेवाकेलिये. बहुत बार हमको ऐसी भ्रांति हो जाती है कि मुझे क्या गरज है पर सेवाकेलिये मैं भेंट लाता हूं. निश्चय ही ऐसे लोग निस्पृह होते हैं - नहीं होते ऐसा नहीं है - क्योंकि उनका व्यक्तिगत स्वार्थ तो नहीं होता परन्तु सेवाकेलिये मांगते हैं. क्योंकि उनको ऐसी भ्रांति होजाती है कि सेवामें ऐसी नेग भोग रागकी रीति होनी ही चाहिये. निश्चय ही दुखकी बात है कि जिस बातकी श्रीमहाप्रभुजी हमसे बहुत कठोरतासे अपेक्षा रखते हैं कि हमें सेवामें या अपनेलिये देवद्रव्य उपयोगमें नहीं लाना चाहिये, सेवाकेलिये किसीके पाससे द्रव्य नहीं लेना चाहिये, भावसे जितनी सेवा बने उतनी करनी चाहिये - उसे हम बहुत साधारण रूपमें लेते हैं कि यह तो चलता है कोई दिक्कत नहीं है इसमें. और जिस बातको आपने सहजतासे कहा है कि प्रेमपूर्वक प्रभुको भोग धरो, प्रेमसे सन्मुख कीर्तन करो, प्रेमसे शृंगार धराओ - ऐसे चित्तवृत्तिको प्रेममय करनेवाले नेगभोग रागके सहज नियम थे, उन्हें हम अति गंभीरतासे ले लेते हैं. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **'अलंकुर्वीत सप्रेम'**

'सप्रेमेत्यनुद्वेगार्थम्' प्रभुको भोग धरो, श्रृंगारो, सन्मुख कीर्तन करो, वह सभी कुछ सप्रेम करो, क्योंकि प्रभुकी ऐसी सेवा करनी है कि जिससे प्रेम बढ़े. नहीं धरायी जा सकती हो ऐसी वस्तु भोग धरें? तो आप कहते हैं ना, **चित्त क्लिष्टं आत्मक्लिष्टं लोकक्लिष्टं न समर्पयेत्.** जिस नेग भोग रागको प्रभुमें समर्पित करनेमें क्लेश होता हो कि मेरे नाम पर भीख मांग कर मेरी बदनामी करता है, अथवा लोकमें जो करनेसे यदि क्लेश होता हो वह मना है, वह नहीं समर्पना चाहिये.

एक मजेदार बात तुम्हें बताता हूं. एक बार मैं एक व्रजयात्रामें गया था. गोकुलमें ठकुरानी घाट पर बैठा था. वहां चौबे लोग यात्रियोंके पाससे मांगामांगी कर रहे थे. हम च्यूंकि शास्त्र पढ़े हैं इसलिये कभी कभी पांडित्य जाग जाता है मनमें. तो मेरे मनमें भी पांडित्य जाग गया. तो एक व्रजवासी पंडेको बुलाकर मैंने कहा **तुम इस प्रकार मांगामांग करते हो, तो शरम नहीं आती? अगर मांगामांग न करो तो लोग ज्यादा ही देंगे.** मुझे क्या पता था कि मेरी ऐसी दुर्गति होनेवाली है. उसने कहा **महाराज, हमारे पास तो समाधानी नहीं है. इसलिये हम खुद मांग रहे हैं. तुम्हारे पास तो समाधानी रहते हैं इसलिये आप नहीं मांगते आपके समाधानी मांगते** हैं. मैंने कहा कि भागो यहां से. मैं नौकर रखकर उसके द्वारा मंगाऊं और अपना यश कायम रखूं तो ऐसा यश किस कामका? पहले तो मांगना ही नहीं चाहिये, खुद या अपने एजेन्टके द्वारा. अब यदि मेरे बदले मेरा एजेन्ट मांगे तो उसको मांगनेकी एजेन्सी दी किसने? मैंने ही दी न? मैं कत्ल

करूं या किसी गुंडेके द्वारा पैसे देकर करवाऊं तो आरोप तो मेरे ऊपर ही लगेगा न? पुरानी भाषामें समाधानी कहलाता था, नईमें एजेन्ट कहलाता है, बात तो एक ही है. प्रभु सेवाकेलिये नहीं मांगना चाहिये. मांगा और खाता चौपट. फिर तो हम गोकुलके पंडे ही हो गये. जैसे समाधानी अपनेलिये मांगे वैसे ही हम प्रभुकेलिये मांगेगे तो अंतमें प्रभु भी हमारे द्वारा मांगनेवाले बन जायेंगे. तो किसका यश बढ़ाया? जैसे हमारा समाधानी मांगता हो तो महाराजका यश धुल जाता है वैसे ही यदि भक्त किसीके आगे हाथ पसारे तो प्रभुका यश भी धुल जाता है. महाप्रभुजी कहते हैं **लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयम्** लक्ष्मी जिसकी पत्नी है, वह श्रीनाथ, उनकेलिये क्या लक्ष्मी मांगी जायगी? प्रभुकी गरिमा नहीं जानी, हमको उनका आनन्द लेना नहीं आया. अयाचित वृत्तिसे जो आ जाता हो वह आ जाय, उसमें हमें मांगकर क्या करना है? पर यदि हम प्रभुके नाम पर मांगेगे तब वह गरिमा हमने नहीं जानी, फिर हम उनको ठाकुर किस प्रकार कह सकते हैं? उनका यश जानना यह उनके सेवकके रूपमें अपना कर्तव्य था, वह न जाना तो हम सेवक नहीं है, उनके द्वेषी हैं. हम यदि सेवक रहेंगे तो सेवाका अधिकार मिलेगा. हम तो भीतरसे शत्रु हैं और बाहरसे सेवकपनेका ढोंग कर रहे हैं. इसलिये स्वामीकेलिये मांगना नहीं चाहिये. स्वामीके स्वरूपका, गरिमाका विचार करना चाहिये कि मेरा स्वामी श्रीका नाथ है. श्रीनाथके नामपर श्री नहीं मांगी जाती, रसीद नहीं फाड़ी जाती. आजकल जो फाड़ने लगे हैं वह तो

घोटाला है, उसका सिद्धांतके साथ स्नान सूतकका भी संबंध नहीं है.

तो त्रैवर्गिक आयास सेवोपयोगी हो कि अनुपयोगो वह दोनों ही नहीं करने चाहियें. हम सेवा करें उसमें धार्मिक, आर्थिक अथवा अपनी इच्छाओंकी पूर्तिकी अड़चन आती हो, अथवा मुझे इच्छा हो कि छप्पन भोग धरना है पर मेरी गांठमें कुछ भी नहीं है, केसरका हिंडोरा करना है पर जेबमें कुछ भी नहीं है - तो महाप्रभ्जी यही आज्ञा करते हैं कि **निवेदनं तु स्मर्तव्यं**. तुम अपने आत्मनिवेदनके भावको याद करो कि प्रभुने तुम्हें जो कुछ भी दिया है वह समर्पित करो, अब प्रभुकी इच्छा. उन्हें अपने घरमें केसरका हिंडोला झूलनेकी इच्छा होगी तो केसर देंगे, छप्पन भोग आरोगनेकी इच्छा होगी तो छप्पन भोग धर सकें ऐसी आर्थिक सामर्थ्य देंगे. इतनी शारीरिक सामर्थ्य तुम्हें देंगे कि तुम सामग्री कर सको. सेठ पुरुषोत्तमदासजीकी वार्ता बांचो कि उनके पुत्रको लगा कि पिताजी बूढ़े हो गये हैं तो अब मुझे सेवा करनी चाहिये, तो उन्होंने अपना युवा स्वरूप उसे दिखा दिया और कहा **मैं प्रभु सेवाकेलिये वृद्ध नहीं हुवा हूं, देहसे वृद्ध हूं**. इसलिये ऐसे शरीरका सामर्थ्य, ऐसे हृदयका सामर्थ्य ऐसे अर्थका सामर्थ्य, ऐसी इच्छाका सामर्थ्य - सभी प्रभु तुम्हें दे देंगे जब तुम्हारेसे उन्होंने ऐसी सेवा लेनी हो तो. तुम गलत ख्यालोंमें मत रहो कि प्रभुको यह चाहिये ही और मेरे पास है नहीं तो गांवसे मांगकर धरूं. मांगा और तुमने **सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति** के सिद्धांत पर बिराजते प्रभुको नीचे जमीनपर पटक दिया. ऐसा

नहीं होना चाहिये. यह सर्वेश्वर है, तुम्हारे पाससे जैसी सेवा लेनी होगी, वसी अनुकूल सामर्थ्य तुमको देनेमें समर्थ हैं. तुमको जो दिया है उसीसे संभव सेवा लेना चाह रहा है ऐसा जो विचारोगे तो तुम्हें कभी भी ऐसी चिंता नहीं होगी कि मुझे केसरका हिंडोला करना है, तो केसर कहांसे लाऊं? तुम्हें क्या लाना है, प्रभुको झूलना होगा तो प्रभु खुद दे देंगे और नहीं झूलना होगा तो नहीं देंगे. फिर यदि तुम गांवसे मांगकर लाओ तो तुम भक्तिमार्गमें नहीं रहे अरे कर्ममार्गमें चले गये - यह विवेक समझो. अपने हृदयमें अविकृत मनोरथोंकी इच्छा रखो, प्रभुके माहात्म्यको ध्यानमें रखो; प्रभु तुम्हारे मनोरथ पूर्ण करेंगे, तुम्हें किसीके पास हाथ पसारनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी. यह बात आप दूसरे श्लोकमें कह रहे है.

तीसरा चौथा श्लोक

अब यदि किसीको जो ऐसी चिंता सताती हो कि देह, वगैरह सबका समर्पण तो भगवानको कर दिया है लेकिन उसके उपरांत उनका विनियोग स्त्री पुत्रादिकमें होता ही है और इससे स्वधर्मकी हानि भी होती है - तो इसका खुलासा करते हुए श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं -

सर्वेषां प्रभुसंबंधो न प्रत्येकमिति स्थिति: ।।
अतोन्य विनियोगेपि चिंताका स्वस्य सोपिचेत् ।।३।।

अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।।

यैः कृष्णसात्कृत प्राणैः तेषां का परिदेवना ।।४।।

अन्वयार्थ :

प्रभुसंबंधो सर्वेषां :आत्मनिवेदन द्वारा आत्मीय सकल
वस्तुओंका एक साथ प्रभुसंबंध होता है

न प्रत्येकं :उन उन वस्तुओं का कोई अलग २
संबंध स्थापित नहीं होता

इति स्थिति :ऐसा अपना सिद्धांत है

अत: :इसीलिये

अन्य विनियोगेपि :स्त्रीपुत्रादिका अन्य विनियोग होता हो
तो भी

का चिंता :किसकी चिंता करनी

स्वस्यापिसोपि चेत् :उसमें भी अपना स्त्रीपुत्रादिकमें

का चिंता :विनियोग होता हो तो भी चिंता नहीं
करनी चाहिये.

यैः कृष्णसात्कृत प्राणैः :जिन्होंने अपना प्राण कृष्णसात् कर
लिया हो उनका

ज्ञानाद् अथवा अज्ञानाद् :ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक

आत्मनिवेदनं कृतं तेषां :आत्मनिवेदन किया हो उन्हें

का परिदेवना :किसकी चिंता हो सकती है।।३-४।।

भावार्थ:

अपना आत्मनिवेदन करते समय जिन किन्हीं भी पदार्थोंका हमने निवेदन किया हो उन सभीके साथ प्रभु हमारा अंगीकार करते हैं. इसलिये सभी आत्मीय वस्तुओंका प्रभुके साथ संबंध स्थापित हो जाता है. आत्मनिवेदन द्वारा केवल निवेदनकर्ताका ही प्रधानतया प्रभुसंबंध होता है ऐसा मानना उचित नहीं है. इसीलिये पुत्रादिकमें अपना विनियोग होता हो तो भी चिंता करने जैसा काई विषय नहीं है. जैसे प्रभुको निवेदित पुत्र, वगैरहका अन्यविनियोग होता हो तो उसमें चिंता नहीं करनी चाहिये. उसी प्रकार जो मध्यम अथवा निम्न कक्षाके आत्मनिवेदनके अधिकारी हैं उनको भी चिंता करनी आवश्यक नहीं है. उसमें भी जिन्होंने अपने प्राणकृष्णसात् किये हों ऐसे आत्मनिवेदनके उत्तम अधिकारीओंको तो कभी चिंता नहीं करनी चाहिये इसमें कहना ही क्या है हमको? वास्तवमें तो केवल प्रभुके आधीन ही जिनके प्राण होते हैं उन्हें तो चिंता करनेका कोई विषय रह ही नहीं जाता. इसलिये उन्हें तो चिंता होती ही नहीं है.

व्याख्यान : फिर आती है भक्ति अर्थ चिंता. प्रभुकेलिये नहीं अपितु मुझसे भक्ति होती नहीं उसकी चिंता. वह कैसी कि प्रभुमें मेरा चित्त चौंटता नहीं है, ब्रह्मसंबंध तो लियापर सेवा भली प्रकार होती नहीं है; मैंने तो ब्रह्मसंबधं लियापर मेरी पत्नी अथवा पतिसे सेवा नहीं निभती. अब यह चिंता भी नहीं करनी चाहिये, ऐसा उपदेश आप दे रहे हैं. यह भाव रखो कि जो कर रहा है उसकी सेवा प्रभु लेना चाह रहे हैं और जो नहीं कर रहा उसकी सेवा नहीं लेना चाह रहे. तुम यह क्यों नहीं विचारते कि परिवारका एक ही व्यक्ति सेवा करता है दूसरे उसको सहयोग देते हैं तो वह भी तो सेवा है? परिवारमें सभी चूल्हे पर ही बैठ जायें तो खायगा कौन? सभी मसाला डालने लगें तो स्वाद कैसा हो जायेगा? इसलिये एक व्यक्ति जो काम कर रहा है उसे वह काम करने दो. परिवारमें प्रत्येक कामका हम बंटवारा कर लेते हैं, उसमें कोई सेवा करता है तो कोई सब्जी लाता है तो कोई कमाने जाता है तो कोई खरचने जाता है. जब परिवारके भावसे सेवा कर रहे हैं तो जरूरी नहीं है कि हरेक व्यक्ति सेवामें नहा कर ही सेवा करे. कोई सेवाकी सामिग्री संपादन करके भी सेवा कर सकता है. ऐसा भाव रखकर चिंता नहीं करनी चाहिये.

अब विचारनेका इसमें केवल इतना ही है, देखो. यह उपदेश श्रीमहाप्रभुजी किसे दे रहे हैं? जिसे चिंता हो रही है कि मैं सेवा कर रहा हूं पर परिवारके सदस्य नहीं करते. इसका अर्थ कोई यह मत ले लेना कि चलो छुट्टी मिल गई, घरमें सीधीसादी बहु आ गई तो नहला

दो उसे सेवामें, हम छूटे! तुम्हें खुद सेवा करनी है किसीसे करवानी नहीं है. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं -पत्नी, संतति अथवा घरमें जो भी बंधु बांधव हों, वह जो तुम्हें अनुकूल हों, अर्थात उनकी खुद सेवा करनेकी इच्छा हो, तो उसे सेवामें तुम्हें सहयोगी बनाना. तुम घरके बड़े हो इसलिये जबरदस्ती इसको **मारकर मुसलमान** नहीं बना सकते, मनाई है. **भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम्** परिवारजन अनुकूल हों तो उनको सेवामें सहयोगी बनाओ. **उदासीने स्वयं कुर्यात्** उसे उत्सुकता नहीं है तो तुम्हें खुद ही सेवा करनी चाहिये, उसे करनेको मत कहो, क्योंकि सेवा यह तुम्हारा कर्तव्य है. सेवा करनी है करवानी नहीं है.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **कृष्णसेवा सदा कार्या**. ऐसे नहीं कहते कि **कृष्ण सेवा सदा कारयितव्या**. कराते रहना चाहिये ऐसी आज्ञा नहींकी. ऐसी आज्ञाकी है कि हमेशा कृष्ण सेवा करनी चाहिये. क्यों ऐसी आज्ञा की? क्योंकि श्रीमहाप्रभुजीको खबर है कि हम ऐसे बदमाश हैं कि एक बार ऐसी आज्ञा देदी तो फिर कोई नहायेगा ही नहीं सेवामें. घरमें जो कोई भी थोड़ा कमजोर व्यक्ति होगा उसीको कहेंगे **चढ़जा बेटा सूली पर खुदा भला करेगा** तू सवा करता रह, हम आनंदमें हैं. क्योंकि महाप्रभुजीने कहां कहा है कि करनी चाहिये, करवानी चाहिये कहा है इसलिये हम करवा रहे हैं. नौकर रख दिये हैं पचास, दूसरा क्या चाहिये करवानेकेलिये. पर ऐसी आज्ञा तो महाप्रभुजीने नहीं की, महाप्रभुजीने आज्ञा की है **कृष्ण सेवा सदा**

कार्या तुम करो. परिवारको उत्सुकता हो तो उन्हें भी करने दो. तुम इतने इकलखोरे भी मत बन जाओ कि सभी कुछ स्वयं ही करूंगा; क्योंकि परिवारमें तुमने सेवा पधराई है तो उसे एक कौटुंबिक विषय गिनो. उसमें सबका सहयोग सदा आमंत्रित रहना चाहिये. परन्तु कोई सहयोग न दे तो हम किसीपर जबरदस्ती नहीं कर सकते कि तुम्हें सेवा करनी ही पड़ेगी क्योंकि तू मेरी पत्नी है, मेरा लड़का है. जैसे कोई नौकर किसी दूसरे नौकरसे नहीं कह सकता कि तुझे यह काम करना पड़ेगा. मालिक ही कह सकता है. उसी प्रकार हम किसीसे कुछ काम करनेकेलिये नही कह सकते कि तुझे यह काम करना ही पड़ेगा. प्रभु स्वामी हैं, किससे कितनी सेवा लेनी है यह प्रभुकी इच्छाकी बात है.

अब तुम अकेले सेवा करते हो और चिंता करो कि मेरे परिवारके लोग सेवामें सहयोगी नहीं हैं, तो इस चिंतासे जो तुम सेवा कर रहे हो उसका लाभ तो मिलेगा नहीं और बेकारमें क्लेशमयी सेवा हो जायेगी. तुम्हें सेवा मिली यह कोई कम धन्यताकी बात है कि उसमें यह चिंता भी करनी? तुमने आत्मनिवेदन किया है तो जो सेवा नहीं करता उसकी चिंता छोड़ दो. आत्मनिवेदनके बाद तुम्हारा पति कहां रहा? तुम्हारा पुत्र कहां रहा? सभी प्रभुके ही हैं और तुम भी प्रभुके ही हो. अब जिससे प्रभुको जो काम लेना होगा वह ले लेंगे. तुम, मेरी पत्नी सेवा नहीं करती, मेरा पुत्र सेवा नहीं करता, यह सब तेरा मेरा छोड़ दो. प्रभुको जिससे जो कुछ भी कराना होगा वह करेगा. तुम सेवा करते

हो कि नहीं? बस यह बात सीधी करो. यह बात तीसरे श्लोकमें है.

उसमें श्रीगुसांईजी विषय प्रवेश करते हैं. मैंने देह और देहसे संबंधित पुत्र, धन, ग्रह सभी वस्तुओंका अपना सर्वस्व प्रभुको समर्पित कर दिया है, लेकिन हरेक वस्तु सेवाके काम नहीं आ रही है, इसलिये चिंता हो रही है. उसके उत्तरमें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि चिंता मत करो, चिंतन करो. कैसा चिंतन? यही कि **सर्वेषां प्रभुसंबंधो न प्रत्येकम्** जब तुमने सर्वसमर्पण किया था तब क्या भगवानसे counter signature लिये थे कि मैं अपना सर्वस्व समर्पण कर रहा हूं तो आपको हरेक वस्तुका सेवाके उपयोगमें लाना होगा? निवेदन तो हम समर्पणके भावसे, दासभावसे करते हैं कि प्रभु मैंने सभी कुछ तुझे निवेदित किया, अब तुझे जो अच्छा लगता हो उसे तू स्वीकार. तो फिर अब तुम्हें चिंता किस बातकी? हमने सर्व वस्तुका समर्पण किया है, कोई अलग अलग वस्तु नहीं गिनाई कि यह लड़का है, यह लड़की है, यह धन है. जो गिनाया भी है वह उपलक्षण रूपसे गिनाया है कोई चीजोंकी लिस्ट बनाकर हमने ब्रह्मसंबंध नहीं लिया. नहीं तो एकाध वस्तु गिनानी रह जाये तो उसका निवेदन तो हुआ ही नहीं. परन्तु ऐसा खाता यहां नही चलता. जो कुछ है वह तेरा है, जो था वह भी तेरा था और जो आनेवाला है वह भी तेरा है. जो गिनाया वह भी तेरा और जो नहीं गिनाया वह भी तेरा है. बादमें हमको ऐसे नहीं झगड़ना चाहिये कि मैंने तुझे यह दिया तो उसका विनियोग तूने सेवामें क्यों नहीं किया? जिसका उपयोग किया उसका आनन्द क्यों

नहीं लेते? अर्थात अपनी थालीमें जो हो उसका स्वाद तो नहीं लेना और दूसरेकी थालीको देखकर दुखी होना, अपनी ऐसी वृत्ति हो गयी है. प्रभु मुझसे सेवा ले रहे हैं यह क्या कोई कम आनन्दका विषय है? अब जिसका विनियोग होना होगा उसका होगा, मुझे चिन्ता नही करनी चाहिये. मुझे ऐसी सेवा करनी चाहिये कि मेरे संगका रंग मेरे परिवारको लगे. ऐसे उत्साहसे सेवा करनी चाहिये कि उसका जोश सभीको आ जाय. हम टी.वी. ऐसे उत्साहसे देखते हैं कि मेहमान आये तो लगता है फिल्म चल रही है कहांसे आ गये ! असलमें कहावत ऐसी थी कि बालक और वृद्ध एकसार हो जाते हैं होली दिवाली पर. पर आजकल तो यह बात हर रविवार शनिवारको टी.वी. के सामने होती है. ऐसे ही आनन्दसे, ऐसी ही प्रसन्नतासे, ऐसे ही उत्साहसे तुम यदि सेवा करो और फिर देखो कि तुम्हारे बच्चे भी सेवा करने बैठते हैं कि नहीं. पर यदि तुम मरजादके, नेगके, भोगके, रागके, ऐसे सभी अस्वभाविक कृत्रिम रूपसे क्रोधपूर्ण होकर सेवा करते हो कि यह क्यों नहीं हुवा, वह क्यों नहीं हुवा, यहां यह छू गया वहां वह छू गया तो बच्चे रुचिसे आते भी हों तो भी भाग जायें. बड़े तौर पर मैं कहता हूं कि अपरसके दो अर्थ होते हैं, एक तो अ+परस अर्थात किसीको स्पर्श नहीं करना और दूसरा अप+रस होता है. जिसमेंसे सेवाका भक्तिका सभी रस निकल जाता है. अपरसमें नहाये नहीं कि दुर्वासाका आवेश आ जाता है. फिर हमको चिंता होती है कि मैं सेवा करता हूं पर लड़का नहीं करता. कलियुग आ गया है. पर कलियुग लाया कौन? तुम

दुर्वासाका अवतार बने, तुमने बच्चोंको डराया, धमकाया. तुमने ही उत्सुकतासे सेवा नहींकी. ऐसे हायपरटेन्शनसे क्रोधयुक्त होकर तुमने सेवा करी कि सभी भाग गये. एक बार तुम्हें जैसे टी.वी. देखनेमें अथवा मिठाई खानेमें मजा आता है वैसे मजेसे सेवा करो फिर देखो कि घरके सभी सेवा करते हैं कि नहीं. तुम्हें लगेगा कि सभी सेवा करनेको आतुर हैं.

तुमने सबका समर्पण किया है तो प्रभु सबका अंगीकार करेंगे. पर तुम आत्मनिवेदनकी गरिमा तो जानो. तुमने लीलाके भावस आत्मनिवेदन किया है. तुमने लीलाके सिद्धांतानुसार आत्मनिवेदन किया है. तब इस लीलाके भावको अपने हृदयमें जाग्रत करो. तुम्हारी बुद्धिमें इतनी आश्वस्तता होनी चाहिये, हृदयमें इतनी ऋजुता, कोमलता होनी चाहिये जितनी कि आत्मनिवेदन करनेवाले भक्तमें होती है. तुम्हारा मुख सेवामें प्रसन्न दिखना चाहिये फिर देखो सभीको तुम्हारे संगका रंग लगता है कि नहीं. पर जब हम अपने लीलाके भावको जाग्रत नहीं करते, कठोर बनकर सेवा करते हैं तो इस घाटेके धन्धेमें कौन शामिल होना चाहेगा? सभीको लगेगा कि यहां कुछ गड़बड़ है. अपनी सेवाको गड़बड़ नहीं जीवन जीनेका ढंग बनाओ. इसे आत्मनिवेदनके, लीलाके भावसे स्वीकारो. अपने किये हुवे घोटालोंको सुधार लो. यह भाव जाग्रत करो कि **सर्वेषां प्रभु संबंधो न प्रत्येकमिति स्थितिः**. इसकी व्याख्या करते हुवे गुसांईजी बहुत सुंदर समझाते हैं **स्वात्मना सह यावंतो निवेदिता तै सहैव स्वस्य अंगीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसंबंधो, न तु**

प्राधान्यात् स्वस्यैव इति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिंता, न कापि इत्यर्थः तुम ऐसा मत समझ लेना कि तुमने केवल अपना ही निवेदन किया है. तुमने अपनी लगनेवाली चेतन अचेतन सभी वस्तुओंको प्रभुको निवेदन किया है. अब तुम भी यदि किसी दूसरे काम आओ तो तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिये. इसी प्रकार तुम्हारी कोई वस्तु किसी दूसरे काम आती हो तो भी तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिये. तुम्हें तो बस यह आनन्द लेना है कि मैंने निवेदन किया है और मैं प्रभुकी वस्तुके काम आ रहा हूं.

किसीको खानेपर बुलाओ और दस चीजें परोस कर पीछे पड़ जाओ कि यह नहीं खाया वह नहीं खाया तो खानेवालेको भी मुसीबत हो जाये. तुम्हारा काम है परोसना. अब परोसनेके बाद जो मुझे अच्छा लगेगा वही तो मैं खाउंगा. इसी प्रकार आत्मनिवेदनमें प्रत्येक वस्तुका निवेदन कर देना यह भक्तका काम है और सेवामें किस वस्तुका अथवा किसी व्यक्तिका कितना उपयोग लेना यह प्रभुकी मर्जीकी बात है. तुम उसकी चिंता मत करो. तुमने आत्मनिवेदन किया है कि नहीं? यदि किया है तो अब तक तुम इस अहंकारको क्यों नहीं छोड़ पा रहे कि मेरा लड़का सेवामें नहीं नहाता, मेरी लड़की नहीं नहाती. तुम्हारा कुछ नहीं है, सब कुछ उसीका है, इसको जिसकी सेवा लेनी होगी उसकी ले लेगा. आत्मनिवेदन मैंने किया है, ऐसा अहंकार मत करो, अपनी प्रधानता मत मानो. **हूं करूं ऐज अज्ञानता शकटनो भार जेम श्वान ताणे**

आत्मनिवेदनका भाव रखोगे तो तुम्हारी सेवा निश्चित होगी.

हमारे यहां इसीलिये यह नहीं कहा जाता कि मैं दर्शन करता हूं पर कहते हैं प्रभु दर्शन देते हैं. मैं सेवा करता हूं ऐसे नहीं कहा जाता, प्रभु सेवा ले रहें हैं ऐसा कहा जाता है. बात बहुत नजदीकी है. आखिरमें स्थिति तो वैसी ही है परंतु एक भाषामें अहंकारकी दुर्गंध है तो दूसरीमें आत्मनिवेदनकी सुगंध है. यह समझनेका प्रयास करोगे तो ख्यालमें आवेगा कि कैसी भाषा भगवदीयोंने गढ़ी थी कि इस भाषाको हम यदि बोलें तो हमारे संस्कार सुधरने लग जायें. हम यह भाषा बोलते तो हैं पर इसको हम अपने संस्कारोंमें घुसने नहीं देते कारण कि जो बोलते हैं उसके अर्थका विचार नहीं करते. हृदयके दरवाजे बन्द करके भाषा बोलते हैं. इन दरवाजोंको जरा खोलो. हमें ऐसा कहना चाहिये कि प्रभुने आज सुंदर श्रृंगार धारण किये, आज प्रभु रुचिसे आरोगे. ऐसी जीवंत भाषा बोलेंगे तो हृदयके जाले समाप्त हो जायेंगे, हृदय निर्मल और भक्तिके लायक हो जायेगा. तुम ऐसी भाषा बोलो तो शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद किसी ग्रंथके पढ़े बगैर समझ आ जाये पर **तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रालेपायेतम् भवेत्** इसी प्रकार ऐसी भाषा बोलते बोलते हम फिरसे ऐसी ही चिंताका, उद्वेगका, त्रासका दुर्भाव जाग्रत कर लेते हैं तो हृदयमें भक्ति आये कैसे?

हम ऐसे उत्पाती जीव हैं कि बस टोकते रहते हैं. बहुत बार ऐसा होता है कि वैष्णवोंके छोटे बच्चे हमें (महाराजश्री) जयश्रीकृष्ण कहते हैं. सचमें मझे बहुत

आनन्द आता है जब कोई वैष्णव मुझे जयश्रीकृष्ण कहता है, क्योंकि कृष्णके जयकी कामना तो उसके हृदयमें है. बड़े लोग क्या करते हैं कि **अरे, महाराजको जयश्रीकृष्ण नहीं कहा जाता** तो महाराजको क्या कृष्णकी पराजय हो ऐसा कहेंगे? कृष्णकी पराजय होगी तो महाराजको महाराजियत ही खत्म हो जायेगी, फिर किसके और कैसे महाराज? यह तो व्यवहारकी बात थी कि हम जब एक दूसरेसे मिलें तो कौन किसको नमस्कार करे और कौन किसे आशीर्वाद दे. वैष्णव तो सभी एकसे हैं जैसे कि तुम्हें यदि याद हो तो मीराबाई जब वृन्दावन गयीं तो उन्होने जीवगोस्वामीको कहलाया कि मुझे तुमसे मिलना है. तब जीवगोस्वामीने कहलवाया कि ना मैं स्त्रीका मुख नहीं देखता. तब मीराबाईने कहा कि मुझे पता नहीं था कि वृन्दावनमें कृष्णके सिवाय कोई दूसरा पुरुष भी है. तब जीवगोस्वामीको लगा कि मुझसे भूल हो गई. इसलिये कृष्णके पुरुषत्वकी भावनाके अनुरूप हम ऐसा प्रकार रखते हैं. जयश्रीकृष्णकी जो मूल भावना थी कि अब कोई बड़ा और छोटा नहीं है. नहीं है कोई प.भ. और न ही कोई अ.भ., सभी भगवदीय ही हैं. सभी भगवानके ही हैं इसमें कोई भेद भाव नहीं है. अब जब कोई तारतम्य ही नहीं है तो कौन किसे आशीर्वाद दे और कौन किसका वंदन करे? इसीलिये हम कहते थे **कृष्णकी जय हो**. जो वैष्णव मिले उसके हृदयपर और जीवनपर कृष्णकी जय हो. यह शुभ कामना ही अपनेलिये सबसे बड़ा वंदन और सबसे बड़ा आर्शीवाद है.

अब महाराजमें गुरुभावना हानेसे अपनेसे थोड़ा ऊंचा होनेके कारण जयश्रीकृष्ण नहीं कहते थे, परन्तु कोई भी महाराज इतने ऊंचे तो नहीं हो सकते न कि जिनके हृदयपर कृष्णकी जय न हो. कृष्णके जयकी तो उन्हें भी आवश्यकता है. इसलिये यदि कोई कह भी दे तो सिद्धांतकी दृष्टिसे तो कोई परेशानी नहीं है. हमने व्यवहार गढ़ दिया है इसीलिये व्यवहारके अनुसार ही दिक्कत है. पर एक बेचारा बच्चा जयश्रीकृष्ण बोले और तुम उसे टोक दो तो उसको समझ ही नहीं आयेगी कि महाराजको क्या कह कर बुलाना चाहिये. हमको लड़कर अपनी बात कहनेकी आदत पड़ गई है. स्नेहसे तो समझा ही नहीं सकते. बच्चेको समझाना चाहिये कि जयश्रीकृष्णका क्या अर्थ है और वह किस भावनासे कहनेमें आता है और महाराजको क्यों नहीं कहा जाता. और फिर भी यदि वह महाराजको जयश्रीकृष्ण कह ही दे तो महाराजको बुरा नहीं मानना चाहिये. क्योंकि कृष्णकी ही तो जय है. ता लड़े बिना हम सेवा आदिकी बात नहीं कह सकते, लड़नेसे ही तो बड़े कहलायेंगे. यदि ऐसा है तो निश्चित ही कुछ गड़बड़ है. बड़े लोग क्या शांतिसे नहीं समझा सकते? पर हमने ऐसी धांधल कर दी है कि हमें कुछ पता ही नहीं चलता कि क्यों परिवारके लोग सेवामें नहीं नहाते. अरे, प्रसन्नताको जानो, लीलाके भावको जानो. फिर तुम्हें कभी चिंता नहीं होगी कि क्यों परिवारके लोग सेवामें नहीं नहाते. सभी रुचिसे सेवा करेंगे और तुम्हें भी आनन्दका अनुभव होगा.

प्रश्न : प्रभुको दान नहीं दिया जा सकता तो क्या सन्मुख भेंट भी नहीं धरी जा सकती ?

उत्तर : ऐसा है कि हम अपने ठाकुरजीको कभी भी सन्मुख भेंट नहीं धरते. और आजसे ५०-६० साल पहले तक यह पद्धति थी ही नहीं. मंदिरमें, अर्थात कि हमारे घरमें ऐसी प्रणाली थी कि जो भी सन्मुख भेंट आती थी वह मंदिरके बाहर बैठे हुवे भिक्षुकोंको दे दी जाती थी अथवा कीर्तनियायोंको न्योछावर करके दे दी जाती थी अथवा गौ ग्रासमें चली जाती थी अपने काममें नहीं आती थी. आज क्या चक्कर चला है कि सन्मुख भेंटले लेना. यह इन ५०/६० सालकी लीला ही है. बालक स्वयं ब्राह्मण होनेसे ब्राह्मण वृत्तिसे जो मिले उसीसे सेवा करते थे. शास्त्रमें ब्राह्मणको अपना ज्ञान बेचनेकी छूट दी गई है परन्तु धर्म बेचनेकी नहीं. सेवा हमारा स्वधर्म है, यह हम बेच नहीं सकते. धर्मको छोड़कर जिसके पास जो सामर्थ्य हो वह उसे बेच सकता है. जैसे वणिकोंकेलिये दुकानपर बैठना यह उनकी व्यावृत्ति, कारीगरोंकेलिये कारीगरी करना यह उनकी व्यावृत्ति, मजदूरोंकेलिये मजदूरी यह उनकी व्यावृत्ति, उसी प्रकार ब्राह्मणको विद्याध्यापनकी शास्त्रने छूट दी है. मैं अपने शिष्योंको पढ़ाकर अपनी रोजी रोटी कमा सकता हूं. परन्तु ज्ञानोपदेश और भगवदकथामें श्रीमहाप्रभुजीने भेद रखा है. भगवदकथाको ज्ञानोपदेश नहीं कहा जा सकता. इसी कारण श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं **परमत्र एको महान दोष:** भगवतकथामें गुण ही गुण हैं परन्तु एक महान दोष है कि कमानेकेलिये यह नहीं कही जा सकती. किसी भी

प्रकारके हेतुसे भगवतकथा नहींकी जा सकती. श्रीमहाप्रभुजी स्पष्ट कहते हैं **पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् वृत्यर्थे नैव युंजीत प्राणैकंठगतैरपि** प्राण गलेमें आकर अटकें तो भी वृत्तिके अर्थ तो भगवदकथा नहीं ही कही जा सकती.

ऐसे मार्गकी मर्यादानुसार मार्गमें दीक्षित वैष्णवोंको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये इसका उपदेश अपनी रोजी रोटी कमानेके साधन रूपसे मैं दे सकता हूं, परन्तु भगवदकथाकी व्यावृत्ति मैं नहीं कर सकता. यदि मैं करूं तो मैंने भगवदनामका विक्रय किया ऐसा अपराध मुझे लगेगा. उसी प्रकार भगवदस्वरूप सेवाका भी विक्रय नहीं किया जा सकता. मैं अपनी सेवा किसीको बेच नही सकता. उसीसे वैष्णव लोग गोस्वामी आचार्योंके पास केवल ज्ञानोपदेश सुनने व समझनेकेलिये ही आते थे और उन्हें आचार्य बुद्धिसे भेंट धरते थे हमारे ठाकुरजीको भेंट नहीं धरते थे. कोई ऐसा व्यक्ति जिसे सिद्धांतकी जानकारी नहीं है यदि भेंट धर भी देता तो वह हमारे काममें नहीं आती थी. अभी भी गोकुल कामवन वगैरहमें इस प्रणालीका अनुसरण होता है, जीवित है. ऐसा पहले प्रत्येक घरमें होता था. मेरे घरमें यदि कोई गोस्वामी महाराज पधारें तो वह भी मेरे ठाकुरजीको भेंट नहीं धर सकते थे. उन्हे बहुत ही उमंग आती हो तो मेरे घर पादुकाजी बिराजती हों उन्हें भेंट धर सकते थे. मैं भी अपने ठाकुरजीको भेंट नहीं धर सकता. उत्सवकी भेंट नियमकी भेंट होती है; यह मैं अपनी ओरसे धरता ही नहीं हूं. ब्रजभक्त ठाकुरजीको धरते हैं. अपना जन्मदिन

भी हो और मुझे उमंग आयी हा तो भी मैं श्रीमहाप्रभुजीको ही भेंट धर सकता हूं, ठाकुरजीको भेंट नहीं धर सकता.

आजकल घोटाला क्या हुवा इसके इतिहासमें यदि जाना हो तो इसका स्पष्ट प्रकार ऐसा है कि प्राचीन बालक सभी सेवामें ही बिराजते थे. कई वैष्णव उतावलीमें वहीं भेंट धर देते थे. तो बालक इतनी सावधानी रखते थे कि अनोसरमें यदि भेंट धरी गयी है तभी रखते थे और सन्मुखमें भेंट धरी गयी है तो वह नहीं लेते थे. कुछ सालों बाद बालकोंकी भेंट ठाकुरजीकी भेंटमें परिणत हो गयी और इसमेंसे ऐसी ऐसी प्रथा विकसी कि यदि बालक न भो बिराजते हों तो भी भेंट धरनी, भेंट धरनी और उसकी रसीद लेनी और फिर उसके बदलेमें प्रसाद लेना और बादमें वैष्णव दावा कर दें कि यह तो बालकोंके ठाकुरजी हैं ही नहीं यह तो पब्लिकके ठाकुरजी हैं, क्योंकि पब्लिक इनकी सेवा का खर्चा देती है. गालिबने एक शेर कहा है **जिक्र उस परीवशका और फिर बयाँ अपना। बन गया रकीब आखिर था जो राजदां अपना**' अर्थात अपनी प्रियतमाके सौंदर्यका मैंने अपने मित्रोंके बीच ऐसा वर्णन किया कि मेरे मित्र ही उसके प्रेमी हो गये और मेरी प्रियतमाको मुझसे छीन लिया. ऐसे जो वैष्णव महाराजोंसे जो सिद्धांतोपदेश सुनने आते थे वही वैष्णव आज कोर्टमें दावा करने लगे हैं कि ठाकुरजी महाराजके कैसे? यह तो करोड़ोंके स्वामी हैं. अरे भाई तुम्हारे स्वामी तुम्हारे घर बिराजते हैं मेरे स्वामी मेरे घर; परन्तु वैष्णव महाराजोंके रकीब द्वेषी हो गये.

परन्तु हमने ही तो वर्णन किया अपने ठाकुरजीका, यह हमारा दोष ही तो है.

मैं जहां भी जाता हूं वहां पूछता हूं कि गांवमें मंदिर है? तो कहते हैं कि है. मैं कहता हूं **क्या चल रहा है?** तो उत्तर मिलता है **वैष्णवोंने महाराजपर कोर्टमें दावा कर दिया है कि मंदिर पब्लिकका है, ठाकुरजी करोड़ोके हैं**. अरे जरा सिद्धांत तो समझो, भाव तो समझो कि तुम्हें अपने घरके ठाकुरजीकी सेवा करनी है और उसी प्रकार हमें अपने घरमें अपने ठाकुरजीकी सेवा करनी है. आजकल हम लोग छीनाझपटी करने लगे हैं क्योंकि महाराज और ट्रस्टीयोंने मिलकर सेवाको व्यवसाय बना दिया है और वैष्णव भी सेवाको रेडीमेड बिकनेवाली ही चाहता है. जैसे हम यदि चौपाटीपर घूमने जाएं तो तैयार मिलती भेलपूरी खा लेते हैं उसी प्रकार हम भगवानके दर्शनको समझ लेते हैं. **मंदिर जाकर दो चार रुपये खर्चेंगें तो दर्शन भी मिल जायेंगे और प्रसाद भी**. होता क्या है कि सुबह सब्जीकेलिये थैली लेकर निकलते हैं तो सब्जी भी खरीद कर लाते हैं और दर्शन भी कर आते हैं. अर्थात कि आजकल साग भाजीसे अधिक भगवानकी कीमत नहीं रही पुष्टिमार्गीयोंके हृदयमें. ऐसा कोई ही वैष्णव होगा जो हाथमें सागभाजीकी थैली लिये बिना दर्शन करने जाता हो. कैसा दुर्भाग्य है कि हमने साग भाजीकी थैलीमें खो दिया है अपने प्रभुको ! तुम जरा विचारोगे तो तुम्हें भी लगेगा कि यह ब्राह्मण गलत नहीं कह रहा. सभी साग भाजी बेचनेवाले इस रहस्यको जानते हैं, इसीलिये मंदिरके बाहर आकर खड़े रहत हैं सुबह,

क्योंकि दर्शन करने जो भी आयेगा वह साग भाजी लिये बिना जायगा नहीं. हमने कैसा विकृत कर दिया है संप्रदायको. इसलिये सन्मुख भेंट न धरी जाती है और न ली जाती है.

प्रश्न: हम यदि किसीसे अपना प्रारव्ध पूछें तो क्या अन्याश्रय लगेगा ?

उत्तर : प्रभुपरसे विश्वास छोड़कर यदि पूछोगे तो अवश्य लगेगा. जैसे आडीटरको तुम पूछो कि खाते किस प्रकार रखने चाहियें तो अन्याश्रय नहीं गिना जाता पर यदि तुम आडिटरसे ऐसा कहो कि तू ही मेरा सर्वेसर्वा है तेरे बिना मेरा क्या होगा? भगवान तो होंगे बैकुंठ में, पर मेरेलिए तो त् ही भगवान है - तो आडीटरका भी अन्याश्रय कहा जायेगा. ऐसा ही भाव यदि डाक्टरमें भी हो तो भी अन्याश्रय कहा जायेगा. अर्थात कि प्रभुका भाव तुम कहीं भी लाये तो अन्याश्रय है और व्यवहारको व्यवहार की भांति ही निभाओगे तो कुछ भी अन्याश्रय नहीं है. स्कूलमें जैसे पढ़ने जाते हैं शिक्षकके पास तो अन्याश्रय नहीं है. हम ऐसा दुर्व्यवहार तो नहीं कर सकते न कि हम पुष्टिमार्गीय हैं इसलिये कृष्णको ही नमस्कार करेंगे, तुम शिक्षक हो तो अपने घरमें. तो शिक्षकको, माता पिताको, अतिथिको सन्मान दें उसमें पुष्टिमार्गीयकी दृष्टिसे कोई बाधा नहीं है. यह तो व्यवहारकी बात है. पर तुम्हारा भाव स्पष्ट होना चाहिये कि डाक्टर, शिक्षक अथवा ज्योतिषी आश्रय करने लायक नहीं हैं. इस निश्चयके बाद तो जैसे तुम दुकानसे गेहूं खरीदते हो वैसे ही ज्योतिषीसे तुम अपने भविष्यका हाल जानते हो, इसमें बहुत अंतर नहों है.

पर यदि तुम आश्रय भावसे लो तो डाक्टरसे दवा लेनी अथवा गुरुसे ज्ञान लेना भी अन्याश्रय है, वैसे ही प्रारब्ध पूछना भी अन्याश्रय है.

प्रश्न : विवाहके समय जन्माक्षर मिलाना क्या अपने धर्मसे विरुद्ध है?

उत्तर : विरुद्ध नहीं है क्योंकि शास्त्रकी आज्ञा ही है कि जन्माक्षर मिलाकर ही विवाह करना चाहिये.

oooooooooooooooooooooo

प्रवचन ३१.८.१९८४

प्रश्न: श्रीहरिरायजी आज्ञा करते हैं कि कृष्णसेवाके सिवाय किसी दूसरी बातकी चिंता नहीं करनी और निवेदनानुसंधानके सिवाय दूसरे किसी विषयकी चिंता नहीं करनी तो चिंता नहीं करनी और करनी यह दोनों बात कैसे कही गयी हैं?

उत्तर : संस्कृतमें चिंता शब्द उद्वेग और चिंतन इन दोनों ही अर्थमें उपयोगमें आता है. जब चिंताका निषेध करनेमें आता है तब वह उद्वेगके अर्थ में होता है; परन्तु जब चिंता करनी ऐसा कहनेमें आता है अपने संप्रदायमें तब उद्वेगके अर्थमें नही परन्तु इस अर्थमें आता है कि इसका हमें चिंतन करना चाहिये. इसलिये श्रीहरिरायजीकी आज्ञाका यह अर्थ नहीं है कि कृष्णसेवाकी चिंता करनी, परन्तु यह अर्थ है कि कृष्णसेवाका चिंतन करना चाहिये. संस्कृतमें गतिका अर्थ **होनेवालाफल** भी होता है और गमन भी. **उसकी**

क्या गति हुइ? का अर्थ कि उसको क्या फल मिला, और गति अर्थात गमन. ऐसे संस्कृत भाषा बहुत लचीली भाषा है, इसीलिये दोनों रूपोंसे प्रयोगमें लाई जा सकती है. प्रसंगका विचार करके अर्थ निर्धारित करना चाहिये. श्रीहरिरायजीने पहले ही श्लोकमें खुलासा कर दिया है कि **आचार्यशरण तस्य चिंता क्लेशोपि नैव हि** तो ऐसी चिंता जिसके कि करनेसे मनमें क्लेश उत्पन्न होता हो वह नहीं करनी चाहिये, पर जिस चिंताको करनेसे अपने धर्मका भाव बढ़ता हो, धर्ममें प्रवृत्ति बढ़ती हो वह निश्चिततया चिंता तो कदापि नहीं हो सकती, वह तो चिंतन है और ऐसा चिंतन तो करना ही चाहिये. चिंतनका निषेध अपने यहां नहीं किया गया, चिंताका निषेध किया गया है.

प्रश्न : सभी गोस्वामी बालक गुरु हैं तो सेवा पुष्ट करानेमें किसी भी बालककी आज्ञा क्यों नहीं चलेगी? अपने गुरुदेवका ही आग्रह किसलिये?

उत्तर : ऐसा है मानो कि देना बैंककी एक शाखामें तुमने खाता खोला और दूसरी किसी भी शाखामें जा चढ़ो कि मेरा खाता देना बैंकमें ही तो है लाओ पैसा ! अरे भाई उसी शाखासे पैसा मिलेगा या जहां इच्छा हो वहां चढ़कर पैसा निकाल लोगे? प्रवेश एक स्कूलमें लो और क्लास अटैंड करने उसी संस्थाके दूसरे स्कूलमें जाओ तो चलेगा क्या? नहीं, क्योंकि यह कोई व्यक्तिवाद नहीं है, संप्रदाय है, संस्था है. संस्थाके कानून कायदेके हिसाबसे चलना चाहिये. मर्यादाको तोड़नेवाले मोटे तौरपर मार्गके द्वेषी होते हैं, छिपे शत्रु होते हैं, उनको अच्छा नहीं लगता कि संस्था किसी

मर्यादासे चले. अब ऐसे खुले आम तो तोड़ नहीं सकते इसलिये ऐसी अव्यवस्था खड़ी करते हैं.

एक भाईने मुझे कहा कि वैसे तो मैं खादी नहीं पहनता हूं पर जब झूठ बोलना होता है तो खादी पहनता हूं. ऐसे झूठ बोलनेकेलिये खादी पहननेवाले पुराने काग्रेसी नहीं हो सकते, वह तो कांग्रेसके शत्रु ही होंगे. कांग्रेसको तोड़ना चाहते होंगे, अर्थात कि खादी पहनकर कांग्रेसमें घुसकर झूठ बोलना शुरु कर दें. खुलेआम न तोड़ सकें इसलिये संस्थाके किसी न किसी कार्यक्रममें सक्रिय रहते हैं, परन्तु सभी कार्यक्रम ऐसे बनाते हैं कि जिससे संप्रदायकी मर्यादा, नियम टूटे. तुम भी यदि शत्रु हो तो तोड़ दो नियम, परन्तु यह संप्रदाय ऐसे नहीं टूटेगा. यह तो श्रीमहाप्रभुजी, ठाकुरजीकी इच्छाकी बात है जिसको जानना समझना होगा वही समझेगा और जिसको नहीं जानना होगा वह नहीं समझेगा. हिंदीमें एक कहावत है कि बिल्लीके छींकनेसे कहीं छींका टूटता है? अन्तमें तो भगवदइच्छाकी ही बात है. तुमको तोड़ना ही है तो तोड़नेका प्रयास करो और जिसे जोड़ना होगा वह जोड़नेका प्रयास करेगा. पर इतना निश्चित समझो कि मर्यादा तोड़नेकी वृत्ति संप्रदायके श्रीमहाप्रभुजीके अनुयायियोंकी नहीं होती. अंदरसे जिन्हें श्रीमहाप्रभुजीके प्रति या अपने सिद्धांतोके प्रति या अपने मार्गके संप्रदायके प्रति कुछ कुढ़न है और वह अपनी इस कुढ़नको व्यक्त नहीं कर सकते, इसलिये सफेद पोशाक पहनकर भीतर आकर झूठ बोलने लग जायें ओर तोड़ना शुरु कर दें. नियमको बाबतों पर छूट लेकर ऐसा नहीं करना वैसा नहीं

करना, ऐसा क्यों नहीं करना, क्यों नहीं किया जा सकता? भाई सभी कुछ किया जा सकता है जब तोड़ना ही है तो. क्या नहीं किया जा सकता? जोड़ना हो तो नियम होता है. एक व्यक्तिको मकान बनाना है तो नियम होते हैं कि कसे दीवार लगानी, कहां सुपोर्ट लगानी. तोड़ना ही हो तो कोई नियम होता है क्या? डंडेसे तोड़ो, पत्थरसे तोड़ो, दीमक लगा दो, आग लगा दो, बमसे तोड़ो कोई नियम नहीं है. तो संप्रदायकी मर्यादाके नियम हैं वह संप्रदायकी मर्यादाके जिवानेके नियम हैं वह संप्रदायको जिवानेकेलिये हैं. जिन्हें संप्रदायसे स्नेह नहीं है वह नियम तोड़ सकता है तो सभी गुरु तो हैं पर भाष्यमें आज्ञा की है उस नियमको हम तोड़ नहीं सकते, अभेदका सिद्धांत स्थापित करके कि सभी गोस्वामी बालक वल्लभकुलके हैं. लालाजीओंमें भी तो वल्लभकुलका ही लहू बह रहा है, क्या वह वल्लभकुल नहीं है? वल्लभकुलके तो अनेक हो सकते हैं, परन्तु मर्यादा नहीं है. बाबाओंने भी तो जहांतक जनेऊ न लिया हो वहांतक ब्रह्मसंबंधकी दीक्षा नहीं दे सकते, ऐसा नियम है. तोड़ने वाला भले ही तोड़े. यदि संप्रदायके रूपमें हम जीना चाहते हों ता ब्रह्मसंबंध लेनेकेलिये, सेवा पधरानेकेलिये, सेवाकी आज्ञाकेलिये गुरुघरका ही आग्रह रखना चाहिये.

प्रश्न : कोई वैष्णव प्रेमसे स्वरूप पधराए तो उस स्वरूपको पधराया जा सकता है कि नहीं?

उत्तर : पधराया जा सकता है, परन्तु गुरुआज्ञा लेनी चाहिये.

प्रश्न : प्रभुपर बहुत स्नेह है, अपने माथे ऋण है और बढ़ता ही जाता है उसमें प्रभुको नवीन नवीन सामिग्री आरोगानेका भी आग्रह है, आरोगाते भी हैं, प्रभुपर पूर्ण विश्वास है कि सब कुछ पार करेंगे क्या यह सब ठीक है?

उत्तर : अमुक व्यक्तियोंको नौकरी करनेकी आदत होती है किसीको व्यवसाय करना अच्छा लगता है, किसीको बैठे बैठे आमदनी अच्छी लगती है, किसीको भिक्षाके सिवाय कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता, किसीको लौटरीकी आदत होती है उसी प्रकार किसीका धंधा ही यदि उधार लेनेका है तो कोई दिक्कत नहीं है. मेरे एक परिचित घर आते हैं तो कमसे कम पांच रुपये तो उधार लिये बिना नहीं जाते. एक बार मेरेसे चालीस रुपये ले गये. जब दूसरी बार आये तो कहने लगे **अगले दिन अवश्य वापिस कर दूंगा, जरा १५ रुपये तो उधार देना** मैंने कहा **चालीस रुपये तो लौटाते नहीं हो और फिर उधार मांगते हो**? तो बोले **कहीं तुम्हारा रुपया लेकर मैं खाजाऊगा ? तुम्हारे रुपये खा जाऊगा तो नरकमें जाना पड़ेगा**. मैंने कहा **नरकमें जाओगे तो यमराजसे भी उधार ले लोगे तो वह भी घबराकर वापिस भेज देगा मेरे पास** ! तो किसीका धंधा ही होता है तो हम निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो आदमोका स्वभाव है, उसे किस प्रकार बदला जा सकता है? परन्तु इतना तो जरूर है कि सेवाकेलिये उधार नहीं लेना चाहिये. सेवा सहज वृतिसे करनी चाहिये. जो कुछ अपने पास है उसीसे करनी चाहिये, उधार लेकर नहीं.

प्रश्न : सत्संग बड़ा पदार्थ है कि सेवा ? अधिक प्रीति किसमें करनी?

उत्तर : ऐसा है कि सत्संगमें प्रीति करनी चाहिये, परन्तु ऐसे सत्संगमें जिससे कि सेवाका भाव बढ़ता हो. ऐसे सत्संगमें कदापि नहीं करनी चाहिये कि जिससे सेवाका भाव घटे. बस इतना ही समझ लो.

प्रश्न : ठाकुरजीके साथ यदि गुरुदेव बिराजते हों तो दोनोंको साथ साथ भोग धरना कि अलग अलग? मालाजी एक धरनी या अलग अलग?

उत्तर : ऐसा है कि ठाकुरजीकी सेवामें श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी और सात बालकोंके सिवाय ठाकुरजीके साथ दूसरे कोई भी गुरुकी कोई भी वस्तु नहीं पधराई जा सकती. नियमकी बात है अच्छा. बाकी तो फिर जिसकी जसी श्रद्धा और जैसी गुरुकी आज्ञा. हमारे गोस्वामी बालकोंके यहां तो ऐसी पद्धति है कि महाप्रभुजी ठाकुरजीके साथ नहीं बिराजते. ठाकुरजी सिंहासन पर बिराजते हैं और महाप्रभुजी पलंगड़ीपर. भोग भी महाप्रभुजीको नहीं आता, ठाकुरजीको ही आता है. महाप्रभुजीको जगाया जाता है, झारी भरी जाती है, ठाकुरजीसे पहले जगाया जाता है, जिससे कि महाप्रभुजीकी कानिसे हम ठाकुरजीको जगा सकें, और ठाकुरजी पौढ़ जायें उसके बाद ही पौढ़ाया जाता है, जिससे कि महाप्रभुजीकी कानिसे ठाकुरजीको पौढ़ा सकें. भोग तो श्रीमहाप्रभुजीका उत्सव श्रीगुसांईजीका उत्सव, और श्रीगिरिधरजीके घरके हैं तो गिरिधरजीका उत्सव इन तीन दिनोंमें ही आता है. बारह महीने भोग नहीं आता. झारी भरी जाती है, फूलमाला अलग धरी जाती

है और पलंगड़ीपर बिराजते हैं. हमारे यहांका क्रम तो यही है बाकी तो जैसी गुरुदेवकी आज्ञा वैसे ही करना.

प्रश्न : ब्रह्मसंबंध न लिया हो और तुलसीमाला धारण न की हो तो क्या वैष्णव नहीं हैं? यह दोनों क्या आवश्यक हैं?

उत्तर : विष्णुकी आराधनाकेलिये जो संप्रदाय प्रवृत्त हुवे हैं उन संप्रदायोंमें दीक्षित व्यक्ति वैष्णव कहलाते हैं. ऐसा संप्रदाय केवल अपना ही ह ऐसा नहीं है. श्रीरामानुजाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित रामानुज संप्रदाय है, श्रीमाध्वाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित माधव संप्रदाय है, श्रीनिम्बार्काचार्यजी द्वारा प्रवर्तित निम्बार्क संप्रदाय है, ऐसे बहुतसे संप्रदाय हैं विष्णुकी आराधनाकेलिये. कोई कृष्णकी प्रधानतासे आराधना करता है, कोई रामकी, कोई नृसिंहकी तो कोई हयग्रीवकी प्रधानतासे आराधना करता है, परन्तु हैं तो सभी वैष्णव संप्रदाय. इसलिये **ब्रह्मसंबंध नहीं लें तो वैष्णव नहीं रहेगा** ऐसा हम कैसे कह सकते हैं? परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि अपने यहां श्रीमहाप्रभुजीके संप्रदायमें यदि वैष्णव है तो अष्टाक्षरकी दीक्षा और ब्रह्मसंबंधकी दीक्षा - इनमेंसे कमसे कम एक दीक्षा तो होनी ही चाहिये. जो एक भी दीक्षा न ले और अथवा उस दीक्षाकी कंठी न पहने उसे अपनी संप्रदायमें हम वैष्णव नहीं गिनते यह संप्रदायका सिद्धांत है.

अब यदि तुम अस्तपतालमें काम करते हो तो अस्तपतालके कपड़े तुम्हें पहनने ही पड़ते हैं. स्कूलमें स्कूलकी यूनीफार्म पहननी पड़ती है उसमें कोई झगड़ा नहीं करता परन्तु संप्रदायमें आकर कंठी पहननेमें

झगड़ा होता हो तो आना ही नहीं चाहिये न! और यदि आना ही हो तो जो संप्रदायका नियम है, जो संप्रदायकी पद्धति है वह जाननी चाहिये. हम कहें कि आ तो गये हैं पर पहनेंगे नहीं. अर्थात कि समझ लेना कि अंदरसे तुम थोड़ा संप्रदायके साथ भेद रखते हो. **जन गण मन अधिनायक** गाया जाता है तब तुम खड़े न होओ तो उसका अर्थ है कि तुम भारतवर्षको आदर नहीं देते. आदर हो तो भारतीय मर्यादाओंकी जो पद्धति है वह यह कि राष्ट्रोध्वज फहराते समय खड़े होकर उसे आदर देना चाहिये. उसका तुम्हें अनुकरण करना चाहिये. उसी प्रकार अपने संप्रदायमें पद्धति है कि संप्रदायमें दीक्षित हों तो कंठी पहननी ही चाहिये. उसमें क्या कष्ट? किसी सोसाइटीमें जाओ तो उसके नियम पालते हो कि नहीं ? बहुत सारे व्यक्ति होते हैं जो Lion बनकर घूमते हैं. भाई भगवानने तुम्हें मनुष्य योनि दी है तो लायन क्यों बन गये. तो संस्थाके साथ association केलिये लायन बनकर घूमनेमें दिक्कत नहीं आती पर कंठी पहननेमें दिक्कत आती हो तो फिर संप्रदायके साथ जुड़ना ही नहीं चाहिये. माला धारण करनी, यह तो ठीक है पर तुम वैष्णव हुवे हो कि नहीं. यदि हुवे हो तो संप्रदायकी पद्धति पालनेमें तुम्हें कोई अड़चन नहीं होनी चाहिये. और नहीं तो कंठी तुमको देनी ही नहीं चाहिये थी, यह देनेवालेकी भूल है.

अब ग्रंथपर आते हैं. कलके प्रसंगमें दूसरे श्लोक तक हमने देखा कि जो अपने त्रैवर्गिक आयास हैं अर्थात धर्म संबंधी, अर्थ संबंधी अथवा काम संबंधी इच्छाओंको पूरा

करनेकेलिये हमें भक्ति नहीं करनी चाहिये परन्तु त्रैवर्गिक आयास जो हम करते हैं और उससे जो कुछ भी धर्म, अर्थ और कामका उपार्जन हुवा हो उसका हम अपनी भक्तिमें विनियोग करें. यह जो अपना सिद्धांत है उसके अनुसार हमें कोई चिंता नहीं करनी चाहिये. प्रभु जो कुछ भी हमको धर्म, अर्थ, कामका सामर्थ्य देंगे, उस सामर्थ्यको प्रभुके द्वारा दी गई भेंट रूपसे स्वीकार कर उसीसे हमें प्रभु सेवामें तत्पर हो जाना चाहिये, यह हमने कल देखा.

जब मैंने आत्मनिवेदन किया तब मैंने अपने घरका, अपने परिवारका, अपनी सम्पत्तिका, प्रभुको समर्पण किया है ऐसा अहंकार भरा हुवा भाव जो हम रखें तो हमें अमुक प्रकारकी चिंता सताती है कि मेरे परिवारके लोग सेवामें सहायक नहीं हो रहे. मुझे प्रभु सेवा छोड़कर परिवारकी सेवा करनी पड़ती है. अब प्रभु सेवा करते हों उस समय परिवारकेलिये भी थोड़ा हमको खपना पड़े तो हमें ऐसा लगता है कि **ना ना यह तो भक्ति विरोधी भाव है, प्रभु सेवा छोड़कर परिवारकेलिये क्यों खपूं.** तो तीसरे श्लोकमें श्रीमहाप्रभुजी हमें समझाते हैं कि मूलत: यह भाव आत्मनिवेदन विरोधी भाव है. कैसे? क्योंकि जब तुमने अपने परिवारका, अपने घरका, अपनी सम्पत्तिका समर्पण किया तब तुम अपने आप को इतना उत्कृष्ट मत मानो इस समर्पणकी प्रक्रियासे कि दूसरोंको तुम इतना हल्का समझो अपनी तुलनामें कि तुम्हें लगे कि प्रभु सेवा सिवाय दूसरे किसी काममें अपना प्रयोग नहीं करूंगा. मुझे घरका काम नहीं करना है. मुझे तो केवल

सेवा ही करनी है. परिवारका जो होना हो सो वह हो. ऐसा वैराग्यवादी भाव भक्तिके अनुकूल भाव नहीं है. भक्तिके बहुत सारे प्रकारोंमेंसे एक प्रकार वैराग्यवादी भी हो सकता है परन्तु अपने यहां जो भक्तिका प्रकार समझानेमें आया है वह वैराग्यवादी भक्तिका नहीं अपितु आत्मसमर्पणवादी भक्तिका है. मेरी भक्ति यदि आत्मसमर्पण मूलक है तो वैसा अहंकार मुझे जाग्रत ही नहीं करना चाहिये. मैंने श्रीठाकुरजीकी भक्तिका नियम लिया है इसलिये अपने परिवारका काम मैं नहीं करूंगा, क्योंकि ऐसा अहंकार आत्मनिवेदन विरोधी भाव है. कोई संसारी जीव **मेरा परिवार है** कहकर इसके पीछे खुदको पचाता होगा परन्तु उसे कोई लाभ नहीं मिलता. ऐसा एक जगह नहीं, अनेक जगह शास्त्रमें वैराग्यके उद्‌बोधनकेलिये कहनेमें आया है और यह बात निश्चित है. लेकिन इतना तो निश्चित है कि जो व्यक्ति इस तरह अपने परिवारकेलिये खुदको पचा रहा है उसे परिवारमें जबरदस्त ममता है. जो व्यक्ति यह कह रहा है कि मैं अपने परिवारकेलिये खपूंगा नहीं, मैं तो केवल भक्ति ही करूंगा तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसको परिवारसे ममता नहीं है. उसे ममता है लेकिन negative ममता है कि मेरा परिवार है और मैं इसकेलिये नहीं खपूंगा. अर्थात अभी **मेरा** तो बोल ही रहा है, फिर परिवारकेलिये पचे या नहीं. यह तो भक्ति रूपी बचावका मार्ग ढूंढ निकाला है. **मैं अपने परिवारके लिये नहीं पचूंगा** कहनेमें अहंकार भी बोल रहा है और ममता भी अधिक विकृत होकर सामने आ रही है. जो मनुष्य परिवारकेलिये पचता है उसकी ममता

कमसेकम स्वस्थ है लेकिन ऐसी निषेधात्मिका वृत्ति अपनायी तो ममता विकृत रूपमें है.

वैराग्य सिद्ध हुवा हो और सन्यास लेना हो उस स्थितिमें शास्त्र कहता है कि परिवार छोड़ दो; लेकिन इसका एक इलाज शास्त्रने बताया है कि ब्रह्मचर्य अवस्थामें अपने शास्त्रका, सिद्धांतका अर्जन करके, अपने ऋषियोंका ऋण चुकाना चाहिये. युवावस्थामें विवाह करके संततिको पाल पोसकर उसे योग्य बनाकर पिताका ऋण चुकाना चाहिये और प्रौढ़ावस्थामें जिस देवकी कृपासे तुम्हें यह सौकर्य मिला उस देवका ऋण तुम्हें चुकाना चाहिये उनके भजन आराधनसे. इस तरह ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण यह तीनो ऋण हम चुका दें, बादमें अपने आत्मोद्धारकी इच्छा रखनी चाहिये. फिर वैराग्य पथके ऊपर आगे बढ़ना चाहिये और जिस दिन वैराग्य आगे आ जाये उस दिन त्याग करके तुम्हारे परिवारकी जबाबदारी तुम छोड़ सकते हो. ऐसी प्रणाली कभी भी प्राचीन काल में नहीं थी कि **तिया मुई घर संपति नासी. मूड़ मुंडाये भये सन्यासी** पत्नी मरी उससे आया वैराग्य कितने दिन चलेगा? दूसरी सुंदर स्त्री मिल जायगी तो ऐसा क्षुद्र वैराग्य भी जाता रहेगा. ऐसे शमशानीय वैराग्य द्वारा कभी भी त्याग करनेकी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये क्योंकि शास्त्र कहता है **मोक्षमिच्छन् पतत्यधः** पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देव ऋण चुकाये बिना मोक्षकी इच्छा रखोगे तो मोक्षके बदले अधःपात हो जायगा ऐसा मनु कहते हैं.

तो इस त्यागसे वैराग्य जाग्रत करनेकी पद्धति हमारे यहां नहीं थी. अपनी पुरानी पद्धति यह थी कि **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत** जिस दिन सचमें सच्चा स्वस्थ वैराग्य हृदयमें आये उस दिन त्याग करना चाहिये, त्याग करके वैराग्य जाग्रत करना यह अपनी पद्धति नहीं थी. विरक्तको त्यागकी साधना करनी चाहिये, त्यागीको वैराग्यकी साधना नहीं. क्योंकि पहले यदि तुमने छोड़ दिया तो अनुरागकी जो तुम्हारी वृत्ति है वह अधिक विकृत हो जायगी. फिर तुम घर छोड़कर आश्रम बना लोगे, परिवार छोड़ा तो फिर चेलोंकी खोजमें निकल जाओगे - तो बात तो वहीं की वहीं रही ना ? शास्त्र कहते हैं कि पुत्रेष्णा = पुत्र कामना, लोकेषणा = लोकमें पुजवानेकी कामना और धन कामना, यह तीनों कामनायें जब हृदयमें पैदा होनी बंद हो जायें तभी हमको सन्यास लेना चाहिये. तभी त्याग करना चाहिये. इनमेंसे एक भी कामना यदि घड़ीकी तरह टकटक करती हो तो फिर त्यागकी जल्दबाजी मत करो. अभी थोड़ा सहन कर लोगे तो कोई दिक्कत नहीं है, पर भागोगे तो होगा क्या कि **चेलों** को बेटा कहना पड़ेगा. पचास हजारका घर छोड़कर लाख रुपयेका आश्रम बनवाना पड़ेगा तो वहां भी झंझट तो वही की वही ना? आश्रममें जो शिष्य इकट्ठे हुवे उनमें तुम्हारी पुत्रेष्णा आ गयी, लोकेषणा भी आ गयी और वित्तेष्णा भी आगयी. अर्थात कि इसका रूप फिर गया पर ईषणा बंद नहीं हुई. अनुरक्ति तुम्हें इस प्रकार छल जायेगी.

हम यह समझते हैं कि चांद घुटवानेसे वैराग्य आ जायगा परन्तु यह बात गलत है. यदि ऐसा हो तो सभी गंजे व्यक्तियोंको विरक्त होना चाहिये. वैराग्य भीतरकी वस्तु है, आता है तभी आता है, इतना सरल नहीं है. इसीलिये शास्त्रमें कहा गया है कि जिस दिन वैराग्य आये उस दिन ही त्याग करना चाहिये. अपनी आर्य परंपरा यह थी. बादमें स्पर्धा शुरु हो गयी. उसमें एक कहता है **हमारे त्यागी साधु हैं** तो दूसरा कहता है **तब तो हमारे भी त्यागी साधु** है. फिर उनकेलिये मठ, आश्रम बनाये जाते हैं. अब तो साधु भी विमानमें घूमते हैं, आश्रममें टेलीवीजन रखते हैं, वीडियो भी देखते हैं, फ्रीज रखते हैं, पिस्तौल भी रखते हैं, गन फैक्टरी भी चलाते हैं- यह कोई त्याग वैराग्यकी साधना नहीं है. शास्त्र ऐसा नहीं कहता कि गृहस्थी सभी नरकमें ही जायेंगे. गार्हस्थ्यमें भी तुम अपने पितृोंका ऋण चुका सकत हो. परन्तु ऐसा त्याग करोगे तो कहींके नहीं रहोगे, अध:पात ही होगा. यह जो शास्त्र द्वारा निर्देशित धैर्य है हमको वह बरतना चाहिये. जैसे कि ज्ञानमार्गमें मुक्तिके लिये जल्दबाजी नहींकी जाती उसी प्रकार अपने भक्तिमार्गमें हमें भक्तिकेलिये जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये कि आज आत्मनिवेदन किया है तो आजके बाद परिवारके किसी भी सदस्यको मैं अपना नहीं मानूंगा, इस परिवारकेलिये कुछ भी नहीं करूंगा. तो बात तो वहीं की वहीं रही ना? तुम दूसरोंको इकट्ठा करोगे और प्रदर्शन करोगे. धंधा नहीं करोगे तो भागवत कथा करोगे. नौकरी नहीं करोगे तो ठाकुरजीका तमाशा करोगे. सच्ची वृत्ति यह है कि

तुम्हारे परिवारका जब तुमने आत्मनिवेदन किया तब यह पराया परिवार है यह तुम्हें नहीं मानना चाहिये. तुम्हें ऐसा मानना चाहिये कि जिस प्रभुको मैंने आत्मनिवेदन किया है उसकी झारी मैं भरूं. उसके खंडपाट मैं संजोऊं, इसके श्रृंगारको मैं सजाऊं तो इनकी सेवार्थ जो परिवार है, इनके बिराजनेके लिये जो घर है उसे भी मैं संजोकर रखूं. तो घरका ख्याल इसलिये नहीं रखना कि यह मेरा घर है अपितु इसलिये कि प्रभुकी सेवाकेलिये यह घर उपयोगी है, जिस प्रकारसे मैं घरका ख्याल रखता हूं उसी प्रकार मुझे परिवारका ख्याल भी रखना चाहिये. उसमें जो कुछ भी मुझसे हो सकता है वह मुझे करना चाहिये. मैं ऐसा करके छटक लूं कि मैं आत्मनिवेदन करके भगत हो गया तो जैसे मनु महाराजने सन्यासके बारेमें **मोक्षमिच्छन् पतत्यधः** कहा है उसी प्रकार श्रीमहाप्रभ्जी भी हमें कहेंगे कि इतनी ज्यादा जल्दबाजी करोगे, इतना अधिक दौड़ेगे तो तुम्हारी बढ़ती हुयी कामनाऐं भी बढ़ जायेंगी.

थोड़ा धीरज रखो. तुम्हें अपने हृदयमें प्रभुकी तत्परता इतनी स्पष्ट लगे और प्रभुके अनुरागकेलिये परिवारमें वैराग्य आये तो सच्चा वैराग्य है. परन्तु परिवारमें वैराग्य जाग्रत करके तुम कहो कि हम प्रभुमें अनुराग जाग्रत कर रहे हैं, तो परिवारमें वैराग्य जाग्रत करनेकेलिये तुम्हें उनमें दोष देखने होंगे, परिवारको हेय मानना पड़ेगा. अब जिस परिवारको तुमने प्रभुको सौंप दिया है, निवेदित किया है उसमें तुम हेय बुद्धि रखो तो कल को तो तुम ठाकुरजीके सिंहासनमें भी हेय

बुद्धि रख सकते हो, भोगमें भी हेय बुद्धि रख सकते हो. तो यदि ठाकुरजीके सिंहासनमें हेय बुद्धि नहीं रखी जा सकती, भोग धरनेमें हेय बुद्धि नहीं रखी जा सकती तो उस परिवारमें हेय बुद्धि किस प्रकार रखी जा सकती है कि जिस परिवारको मैंने प्रभुको सौंप दिया है? अर्थात परिवारको, घरको अपने ठाकुरजीके सेवोपकरण समझ कर उन्हें जानना चाहिये. मनमें गलत जल्दबाजीका भाव मत लाओ कि मैंने आत्मनिवेदन किया है तो अब मैं परिवारका काम नहीं करूंगा. यह वृत्ति भक्तिमार्गमें अपेक्षित नहीं है, त्याग अथवा वैराग्यकी कथा अलग है. भक्तिमार्गमें ऐसी ही वृत्तिके कारण अधिक चिंता होती है.

ठाकुरजीको भोग धरकर तुम ही यदि सखड़ी खा जाओ और परिवारवालों को नहीं दोगे तो ऐसे कैसे चलेगा? सच्चे हो तो तुम भी मत खाओ - इस जोभके चटकारेको छोड़ दो. अपनी सारी बात कायम रखो और परिवारकी चिंता छोड़ दो तो तुम कुछ ढोंग कर रहे हो, भक्तिके नाम पर कुछ गड़बड़ाध्याय कर रहे हो. ऐसे भक्ति नहीं होती. भक्तिको सहजतासे स्वीकारनेकी महाप्रभुजी आज्ञा कर रहे हैं. उसी प्रकार देखो श्रीगुसांईजी वहां कहते हैं **ननु भगवते समर्पित देहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्म हानि चिंता बाधते** जो देह, जो मेरी अहंताममताकी सामर्थ्यका मैंने भगवानको समर्पण किया है उस देह और सामर्थ्यको क्या भगवानको छोड़कर अपने परिवारमें लगाऊं? ऐसी चिंता जीव शुरु कर दता है और कोई न कोई मुद्दा खड़ा कर देता है. थोड़े दिनोंमें दो चार चेले इकट्ठे

करके बाबा बन जाता है. ऐसे चेले इकट्ठे न करे तो क्या करता है कि प.भ. बन जाता है, अपनी सेवा करवाने लग जाता है. घर छोड़नेसे प. भ. नहीं बनते, प्रभुको पकड़कर ही प.भ. बनते हैं. छोड़नेसे ही यदि प. भ. बनते हों तो सभी त्यागी लोग प. भ. बन जायें. पकड़ना, वह किस प्रकार, कि जो कुछ हमने प्रभुको समर्पित किया है उसमें हेय बुद्धि नहीं रखनी उसे प्रभुका समझें. **क्रोडार्थमात्मना: इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियो परईश कुर्यु:** भागवतमें कहा है कि यह सृष्टि प्रभुकी क्रीडार्थ ही प्रकट हुई है तो इसे छोड़नेकी वृत्ति या इसे मालिकके रूपमें पकड़नेकी वृत्ति- दोनों ही वृत्तियां अपनी बुद्धिकी खराबीके कारण पैदा होती हैं. मैं उसे छोड़ने वाला कौन जिसे प्रभुने प्रकट किया हो?

एक उदाहरण देता हूं कि मानो एक नाटक कंपनीका दिग्दर्शक है उसने नाटक शुरु किया और एक पात्र स्टेज पर आकर कहे कि अब मुझे नाटक नहीं करना है तो भाई नाटकमें पहले नाम क्यों लिखवाया था? नाटक शुरु होनेके बाद तुम कहो कि अब मुझे वैराग्य आ गया है. नाटक नहीं करना तो मंडपमें बैठना हो नहीं चाहिये था, विवाह ही नहीं करना चाहिये था. मंडपमें बैठनेके बाद यदि वैराग्य जागे कि नहीं अब मुझे विवाह नहीं करना तो यह वैराग्य नहीं जाग रहा, तुम्हें विवाह करनेसे डर लग रहा है और उस डरको तुम वैराग्यका नाम दे रहे हो. ऐसा अयुक्त अविवेकी कार्य तो अपनेसे नहीं हो सकता. अर्थात कि भक्तिमार्गमें हम प्रवृत्त हुये इसका मतलब

यह नहीं है कि मैं अपना अहंकार इतना अधिक बढ़ा लूं कि **मैंने प्रभुको आत्मनिवेदन किया है इसलिये परिवारका काम अब मैं नहीं करूंगा**. यह भी एक प्रकारका अपने भक्तपनेका अहंकार है. इस अहंकारको खत्म करो. इसलिये शास्त्र में कहा गया है **येन त्यजसि तत् त्यज** प्रत्येक वस्तुको छोड़नेमें तुम्हें अहंकार काम आयेगा, पर अंतमें वही अहंकार तुम न छोड़ पाये तो सभी छोड़ी हुयी वस्तु फिर तुम्हें पकड़ लेंगी और फिर तुम और ज्यादा अहंकारी हो जाओगे.

यह सावधानी बरतनी है कि अहंकार और भक्ति साथ नहीं चलें. अहंकार घुल जाना चाहिये. जैसे बरफ कठोर होती है परन्तु पानीके साथ प्यालेमें डालते ही पिघलकर पानी ही हो जाती है, वैसे ही अपने अहंकारकी जो कठोरता है वह भक्तिरसरूपमें पिघल जानी चाहिये. इस अहंकारको हमें समाप्त नहीं करना, फैंक नहीं देना, इसे भगवदसेवाके प्यालेमें भर देना है, यह अपने आप पिघल कर भक्ति हो जायगा. इसीलिये कठोर अहंकारका महाप्रभुजी निषेध कर रहे हैं. अपने आपको ऊंचा सिद्ध करनेकेलिये, प.भ. सिद्ध करनेकेलिये मैंने आत्मनिवेदन नहीं किया है. ऐसे कुभावसे मैं आत्मनिवदन करूं तो निश्चय ही मैंने आत्मनिवेदन नहीं किया. आत्मनिवेदनका अर्थ यह है कि मेरे पास जो कुछ है वह प्रभु तेरी सेवाकेलिये ही है. यह देह तेरी सेवाकेलिये ही है. यह परिवार तेरी सेवाकेलिये ही है. मुझसे संबंधित हरेक वस्तु तेरी सेवाकेलिये ही है. यह भाव जाग्रत कर जब हम अपनी देहकी सावधानी रखेंगे और परिवारकी नहीं तो कैसे

चलेगा? यदि ऐसा वैराग्य जाग्रत हो कि तुम अपनी देहकी भी सावधानी न रखते हो तो फिर बात कुछ विचारने जैसी नहीं है परन्तु अपनी देहका तो पूरा ख्याल रखो, अपने प.भ. के यशको जतानेका पूरा ख्याल रखा और परिवारका ही ख्याल नहीं रखते तो कुछ घोटाला है. वैराग्य तो नहीं है पर डर लगता है. जब बहुत मारा पीटी होती है तो डरते हुवे आदमी कहता है **देख, देख. अब तुझे देख लूंगा** और पीछे हटता जाता है ! अरे भाई देखना है तो पास आकर देख ना ! यह तो कोई शौर्य नहीं है. ऐसे डरपोक आदमीको तो झगड़ा ही नहीं करना चाहिये.

हमें परिवारमें वैराग्य जगाना नहीं है. सांसारिक अनुराग नहीं जगाना है. आत्मनिवेदनसे परिवारमें भगवद उपयोगिताका भाव जगाना है. और जब यह भाव जगायेंगे तभी जो सेवामें उपयोगी नहीं होगा उसकी भी हम ऐसी ही संभाल रखेंगे. उदाहरणके तौर पर नंदमहोत्सवकी पिछवाई सालमें केवल एक ही दिन आती है. परन्तु हम साल भर उसकी सावधानी रखते हैं. उसी प्रकार जो व्यक्ति अथवा परिवारका जो कार्य भगवदसेवाके नित्य काममें आ रहा है उसे भी संभालना चाहिये और जो नहीं आ रहा उसे भी संभालना चाहिये, क्योंकि जो आज काममें नहीं आ रहा है वह कल काममें आयेगा ऐसा सदभाव हृदयमें रखकर प्रत्येक वस्तुकी संभाल रखनी चाहिये. प्रत्येक वस्तु प्रभुकी ही है उसमें न तो अहंता ममताकी स्वार्थ बुद्धि होनी चाहिये और न त्यागमय ऐसी वृत्ति होनी चाहिये कि फेंक दो सभीको, मेरा कुछ नहीं है. अरे भाई तुम्हारे स्वामीका

तो है कि नहीं? घरका नौकर यदि एक एक वस्तु फैंकना चाहे कि यह मेरे कामकी नहीं, यह मेरे कामकी नहीं, मेरे कामका सोफा नहीं, मेरे कामका यह टी.वी. नहीं तो तुम्हें गुस्सा आयेगा अथवा नहीं? उसी प्रकार भक्तिके अभिमानसे तुम परिवारके दूसरे सदस्योंकी कोई दरकार नहीं रखते तो प्रभुको भी गुस्सा आयेगा कि नहीं? एक वस्तु अथवा व्यक्ति दूसरी सेवोपयोगी वस्तु अथवा व्यक्तिके उपयोगमें आती हो तो क्या चिंता करनी चाहिये? चौकी भोग धरनेके काममें आ रही है यहां उसकी भगवद उपयोगिता है. भोग आरोगनेके काम आता है, चौकी सजानेके काम आती है. जो वस्तु जिस प्रकार भी काममें आती है उसी प्रकार आयगी ना? तो परिवारमें जो अपनी भूमिका है वह पूरी कर अपनी सेवोपयोगिता जगा सकें तो वह भक्ति कहलायेगी.

एक भाईने कहा कि हमें तो कोई भी कर्म करना ही नहीं है. कर्म तो महाप्रभुजी, हमारी ओरसे करते हैं, क्योंकि **स्वदासार्थकृता शेष साधनं** हैं. अरे पर भोजन तो तुम करते हो, सोते तो तुम हो, सभी बातें तो तुम ही कर रहे हो तो महाप्रभुजीको क्यों परिश्रम देत हो इसकेलिये ! जहां तुम्हारा स्वार्थ है वह महाप्रभुजीको देते नहीं, जहां तुम्हारे करनेकी कोई जबाबदारी आती है वहां महाप्रभुजीकी तरफ इशारा करते हो. अर्थात कि गुड़गुड़ सारा गड़क जाओ और कड़वा आये तो थू थू महाप्रभुजीकी तरफ ! ऐसा ढोंग नहीं चलेगा. जब स्वार्थका सभी कुछ हम अपने ही लिये कर रहे हैं तो शास्त्रानुसार जो कुछ भी अपना कर्तव्य है वह हमें ही करना पड़ेगा, महाप्रभुजी नहीं करेंगे. तुम्हारी किसी

असामर्थ्यके कारण तुम्हारे कर्तव्य निर्वाहमें तुम अनजानेसे चूक गये हो तो श्रीमहाप्रभुजी तुम्हें विश्वास दिलाते हैं कि चिंता मत करो, मैं संभाल लूंगा. परन्तु जानबूझ कर तुम ना करो तो महाप्रभुजी कुछ भी नहीं करेंगे तुम्हारे लिये. तो जब ऐसा भाव जाग रहा है तब हम स्वयंके साथ कुछ खिलवाड़ कर रहे हैं. भक्ति भी तुम्हें ही करनी है, महाप्रभुजीको नहीं करनी तुम्हारे बदले. महापभुजी तो सिद्ध हैं ही. **आप सेवा करी सीखवे श्रीहरि भक्ति पक्ष वैभव सुदृढ़ कीधो**. आपको सेवा करनेकी आवश्यकता ही नहीं थी फिर भी सेवा करके दिखाई, किसलिये? इसलिये कि तुम इतने आलसी और निकम्मे न हो जाओ कि **महाप्रभुजीने हमारे बदले सेवा कर ली, अब हमें करनेकी क्या आवश्यकता है?**' महाप्रभुजीने भक्ति ही करी है तो तुम्हें करनेकी क्या जरूरत? महाप्रभुजीने तो सभी कुछ किया है. महाप्रभुजी तो लीलामें भी पधारे तुम भी पधारो न फिर? यह धूर्तता नहीं चलेगी. हम कुछ गलत समझ गये हैं भक्तिको.

सहज भावसे निवेदन करना चाहिय कि मैं और मेरा सब कुछ तेरी सेवाके लिये प्रस्तुत है. अब तू जिसका नित्य सेवामें उपयोग करेगा उसकी नित्यसेवा क्रममें मैं संभाल रखूंगा और जिसका नित्यसेवा क्रममें उपयोग नहीं होगा उसकी जन्माष्टमी की पिछवाईकी तरह नैमित्तिक सेवाकी भांति संभाल रखूंगा कि जब भी तुझे सेवामें उसे लेनेकी इच्छा होगी वह उतनी ही सुरक्षित तुझे मिले. प्रभु अर्थात जो सर्व समर्थ हैं. जो चाहिये वह स्वयं उसका बन्दोबस्त कर लेंगे, तुम्हारी उसको गरज

नहीं है. तुम किस प्रकार चिंतनसे, वाणीसे, व्यवहारसे भगवत्परक हो सकते हो उस बाबतमें अपना सकारात्मक रुख रखो, दूसरा करता है कि नहीं उसकी चिंता नकारात्मक रुख है और भक्तिमार्गमें यह निरर्थक चिंता कहलाती है, वह नहीं करनी चाहिये.

अब कहते हैं कि चलो यह बात तो समझ में आ गयी कि मुझे जो परिवारकेलिये खपना पड़ता हो तो मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये अथवा मेरा परिवार मेरी सेवामें सहयोगी न होता हो तो मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये परन्तु मेरे परिवारका कोई सदस्य प्रभु भजन न कर मानो कि शिरडीके सांईबाबाका भजन करता है तो चिंता करनी कि नहीं? तो तुम यह देखो कि महाप्रभुजी इस स्तर पर जाकर भी कह रहे हैं कि तो भी चिंता नहीं करनी चाहिये. यह भी चिंता यदि तुम्हें नहीं सताती तो ही तुम्हारा आत्मनिवेदन सच्चा है. वार्तामें आता है कि बादशाहने आकर श्रीगुसांईजीको मोतीकी माला भेंटकी और श्रीगुसांईजीने धारण करे बिना वह श्रीयमुनाजीमें पधरा दी. बादशाहको लगा इतनी कीमती माला श्रीयमुनाजीमें पधरा दी? यह कैसा व्यवहार? तो वैसी दस माला निकालकर श्रीगुसांईजीने बता दी. कहनेका मुद्दा क्या कि मैंने जब कोई वस्तु समर्पित कर दी तो फिर यह मेरे काममें आये या किसी दूसरेके; यह चिंता मुझे नहीं होनी चाहिये. यदि मैं चिंता कर रहा हूं तो उसका अर्थ सीधा सीधा यह है कि मैंने समर्पण नहीं किया क्योंकि मैंने अपना स्वामित्व कायम रखा है, और यदि मैं वो कायम रखना चाह रहा हूं तो फिर समर्पण करना ही नहीं चाहिये. मेहमानको घूमनेके लिये गाड़ी

दो, फिर बादमें गुस्सा करो कि छः बज गये पर अभी तक आया नहीं तो पहले ही कह देना चाहिये था न कि छः बजे तक ला सकते हो तो ले जाओ, नहीं तो नहीं. पर पहले उदारता दिखाओ फिर गुस्सा! क्या ऐसा व्यवहार मेहमानके साथ उचित है? तो प्रभुके साथ ऐसा व्यवहार क्यों? अपनी अहंताममता संबंधी प्रत्येक वस्तु मैंने प्रभुको समर्पित करदो. अब प्रभुको अपनी सेवाके उपयोगमें लानी हो तो लायें और न लानी हो तो न लायें या किसी दूसरे उपयोगमें लानी हो तो वहां लायें. इतना स्वातं««य प्रभुका यदि हम नहीं स्वीकारेंगे तो प्रभुको समर्पित ही नहीं करना चाहिये था उस वस्तुको या उस व्यक्तिको. इतनी विशालता यदि हमारे हृदय में न हो तो फिर समर्पण करना ही उचित नहीं है. इसीलिये महाप्रभुजी कहते हैं कि पुत्रादिकका अन्य विनियोग हो तो भी चिंता नहीं करनी चाहिये.

मूलमें तो दुर्वासाका अवतार बनकर तुम बच्चोंको सेवा करने देते नहीं हो और बादमें वह किसी दूसरेका भजन करने लगते हैं तब तुम्हें चिंता होती है कि कलिकाल आ गया, बच्चे मां बापका कहना नहीं मानते, हमारे जानेके बाद ठाकुरजीको ग्वालमंडलीमें पधराना पड़ेगा, नहीं तो कोई ट्रस्ट बनाना पड़ेगा. ठाकुरजीके लिये ट्रस्ट बनाओ बस हो गयी बात सब चौपट. अपने बच्चोंको मरनेसे पहले अनाथालयमें भरती कराना पड़े, इस प्रकारकी अस्थिर चित्तवृत्ति! ऐसी ही अस्थिर चित्तवृत्तिसे हम ठाकुरजीकी सेवा करना चाह रहे हैं कि जानेसे पहले ट्रस्ट बना देंगे, जिससे ठाकुरजी भूखे न मरें ! अरे तुम्हारे ठाकुरजी

तुम्हारे भोगके भूखे नहीं हैं, यह तो भावनाके भूखे हैं. तुम अपने बच्चोंमें ऐसे संस्कार नहीं जगा पाये अपनी भक्तिके संगसे कि तुम्हारे बच्चे ठाकुरजीको इतना चाहें कि जितना तुम्हारी संपत्तिको चाह रहे हैं. तुमने बच्चोंमें संपत्ति लेनेकी तो पूरी लालसा पैदा करदी पर तुम्हारे ठाकुरजीकी सेवा करनेकी लालसा कैस पैदा नहीं कर पाये? क्योंकि बच्चे होशियार हैं, उन्होंने देखा कि तुम्हारी लालसा संपत्तिमें ही अधिक थी, ठाकुरजीमें अधिक नहीं थी, इसलिये उन्हें लगा कि यह तो सब गड़बड़घोटाला है. मैं भी जब बूढ़ा होऊंगा तो गुरु महाराजके यहां जाकर ठाकुरजी पधरा लूंगा, अभीसे चक्करमें क्यों पड़ूं? तुम जिस उत्साहसे अपनी संपत्तिकी रखवाली और देखभाल करनेके लिये अपने बच्चोंको तैयार करते हो, उतने ही उत्साहसे ठाकुरजीकी सेवाकेलिये क्यों नहीं तैयार करते ? महाप्रभुजी हमसे यह अपेक्षा रखते हैं कि सेवा हम इस तरह करें कि जैसे संपत्तिको विरासत लेनेकी इच्छा बच्चोंमें होती है वैसे ही वह हमें कहें कि हमें भगवदसेवा पधरा दो, संपत्ति चाहे दो या न दो, तो ही तुम सच्चे वैष्णव **तारा संग नो रंग न लागे त्यां सुधी तू कांचो**. यह तब होगा जबकि तुम खुद उत्साह और उत्कंठासे सेवा करोगे. तो बच्चोंका भी समझ पड़ेगी कि इसमें भी कुछ विरासत लेने जैसा है. तुम यदि उद्वेगसे, परेशानीसे, हायपरटेंशनसे सेवा करते होगे तो यह लोग इसको विरासतमें क्यों लेंगे? तो गुनहगार हम या हमारे बच्चे? तुमने खुद ही धर्मको नहीं जिया तो फिर तुम्हें धर्मकी चिंता करनेका अधिकार क्या है? धर्मकी चिंता तो वह

कर सकता है कि जिसको जीवनमें धर्म जीना हो. आज बहुतसे व्यक्ति कुछ करते धरते नहीं हैं और चिंता करते हैं कि वैष्णव धर्मका क्या होगा? अरे तुम वैष्णवधर्मानुसार जीते हो कि नहीं यह बताओ? तुमने वैष्णव धर्मका ढोंग किया है, वैष्णव धर्म जीया नहीं, घरमें सेवा उत्साह, उमंगसे की नहीं- तो तुमको बच्चोंसे वैष्णव धर्म जीनेकी अपेक्षा क्यों है और यह अधिकार भी तुमको नहीं है. जिस काममें तुम्हारा ही दिल नहीं लगता हो वह उनको क्यों करना चाहिये? तुम पहले ठीकसे अनुसरो उसके पश्चात अपेक्षा रखो तो ही स्वस्थ अपेक्षा कहलायेगी; परन्तु तुमने खुद अपनी, अपने संप्रदायकी, अपने आचार्यकी, अपने आचार्योंके सिद्धांतोंकी अवहेलनाकी हो और बादमें कहो कि अबकी पीढ़ी नहीं पालती तो क्या वह बेवकूफ है कि तुम्हारी मुसीबतोंको पाले? इसलिये महाप्रभुजीके सिद्धांतके अनुसार इस बारेमें चिंता नहीं करनी चाहिये, प्रभु करना है सो करेंगे.

अब कहते हैं कि चलो, एक चिंता तो छूटी कि बच्चोंका अन्य विनियोग होता हो तो चिंता नहीं करनी चाहिये, परन्तु कभी कभी जब हमारी स्वयं सेवा छूटकर हम कोई दूसरा काम करने लग जाते हैं तो चिंता करनी चाहिये कि नहीं ? महाप्रभुजी कहते हैं : आत्मनिवेदनका चिंतन करो, पर चिंता मत करो. चिंतन करोगे तो तुम्हें स्वयं ही समझमें आ जायेगा कि तुम्हारा कार्य था आत्मनिवेदन. प्रभुको तुमने सब कुछ समर्पित कर दिया है फिर तुम्हारा उपयोग कब सेवामें लेना है यह प्रभुकी सहूलियतकी बात है. इसकी चिंता

करके स्नेहकी कोमल लहरका तुम कचड़ा मत करो. अर्थात कि एक तो बीमार पड़ो और बादमें रोने लगोगे तो दुगुना रोग होगा समझे. ऐसी स्थितिमें रोगीको नींदका इन्जैक्शन देकर सुलाना पड़ता है. वैसे ही जिन लोगोंको ऐसी चिंता होती है उन्हें महाप्रभुजी कहते हैं कि आराम करो. और अपने यहांका आराम क्या है? तो महाप्रभुजी समझाते हैं **अज्ञानात् अथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनं यै कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना**. तुमने समझ कर आत्मनिवेदन किया या बिना समझे, मुझे केवल एक बात कहो कि तुम्हें वास्तवमें चिंता हो रही है? तो तुम सेवा तो कर ही सकते हो, निश्चित मानो. पर यदि वास्तवमें चिंता नहीं हो रही तो चिंताका ढोंग मत करो. उद्धार किसीको भी नहीं चाहिये. अभी यदि भगवान प्रकट हो जायें तो सारे भगत भाग जायें. एक भी भगत दर्शन करने खड़ा नहीं रहेगा अगर भगवान ऐसा नोटिस देकर आयें कि अभी उद्धार हो जायेगा. इतनी जल्दी उद्धार होता हो तो इतनी भीड़ इकट्ठी न हो. निश्चय ही इतनी जल्दी उद्धार कोई नहीं चाहता. सभीको आश्वासन है कि कथा सुनकर फिरसे घर पहुंच जायेंगे. कौन सुने ऐसी कथा जिसमें उद्धार हो जाता हो, कौन जोखिम ले. गलत जिद मत पकड़ो, प्रश्न उद्धारका नहीं है, प्रश्न भूतल पर जीवन जीनेके ढंगका है. जीवन भली प्रकार जीना है कि व्यर्थमें मरना है प्रश्न इसका है. प्रश्न तुम्हारी साधनाकी गंभीरताका, गरिमाका है. इसीलिये निश्चयसे चिंता होती है कि मैंने आत्मनिवेदन किया है और मुझे सेवा रहित नहीं रहना तो फिर किसीकी

ताकत नहीं है कि तुम्हें रोक सके. अपनी आधी पौनी वृत्ति रोकती है. एक प्रसिद्ध कथा है कि एक मनुष्यको पता चला कि उसे दुकानमें नुकसान होनेवाला है तो उसे मरनेकी इच्छा जाग उठी. तो रातको पुलके ऊपर जाकर खड़ा हो गया नदीमें डूबनेकेलिये. पुलिसवालोंने आकर पकड़ लिया, कहा **क्या कर रहे हो**? वह बोला **गिरकर मरना है मुझे**. पुलिसवालोंने कहा **तो गिरता क्यों नहीं**? तो बोला **नीचे पानी बहुत ठंडा बहता लगता है**. यदि सचमें उसे अपघात करना हो तो नीचे पानी ठंडा हो अथवा गरम, उसकी चिंता क्यों करनी? चिंता हो रही है यह इस बातका प्रमाण है कि मन डांवाडोल है. आत्म्घातके समय जीनेका विचार आ रहा है और जीते समय आत्मघातका विचार आता है. और उस असमंजससे ही ऐसी स्थिति खड़ी हुयी है; जो यदि पक्का निर्धार किया हो तो क्या पुलिस रोक सकगी? आत्मघातकी सच्ची वृत्ति न हो उसे ही तो पुलिस पकड़ सकेगी, उस पर केस कर सकेगी. मरनेवाला तो मरकर ही रहेगा.

इसीलिये कहा गया है कि घरको ताला चोरोंसे बचानेकेलिये नहीं; साहुकारोंसे बचानेके लिये नहीं बल्कि उठाईगीरोंसे बचानेकेलिये लगाया जाता है. हममे इतना बुद्धि बल नहीं है कि सच ही हम अपने धर्मको चुरा सकें या अपनेमें इतना शौर्य भी नहीं है कि डाकूकी तरह संसारको छुरी मारकर धर्मको उससे छीन लें. हममें इतनी साहूकारी भी नहीं है कि धर्मको जीनेकी इच्छा न हो तो इसें पकड़े ही नहीं भूल जायें. हम बहती गंगामें जैसे हाथ धोते हैं, वैसे ही धर्मको

पकड़ते हैं, पर अधिक गंभीरतासे लेते नहीं हैं कि यदि उद्धार हो जाये तो पंचायत खड़ी हो जायेगी. तो जब ऐसी वृत्तिसे धर्म करते हों तो हमको चिंता करनेका अधिकार भी नहीं है.

श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः तेषां का परिदेवना** तुमने अपने प्राण, देह, इन्द्रिय, अंतःकरण प्रत्येकका समर्पण किया है कि नहीं? यदि किया है तो बस, तुम्हें चिंता करनेका कोई प्रसंग ही खड़ा नहीं होता - जो तुमसे सेवा निभती हो तो और न निभती हो तो भी. श्रीगुसांईजी बहुत सुंदर आज्ञा करते हैं : **हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिंता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृत् प्राणैश्चिंता न कार्या इति किमु वाच्यं** जो लोग आत्मनिवेदनके उत्तम अधिकारी नहीं परन्तु हृदयमें आत्मनिवेदनके भावका थोड़ा स्पर्श करते हैं कि मैंने अपना सर्वस्व प्रभुको समर्पित कर दिया है, उन्हें भी चिंता नहीं करनी चाहिये. कानूनी भाषामें यदि कहा जायेगा तो **उनके कथनके मुताबिक**. जो लोग चिंता कर रहे हैं कि आत्मनिवेदन तो हमारा हो गया पर सेवामें विनियोग नहीं हो रहा तो आत्मनिवेदन किया होनेकी इतनी प्रबल भावना हो तो फिर चिंता करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती. क्योंकि तुमने आत्मनिवेदन कर दिया है, अब किसकी चिंता? कृष्ण सभी कुछ करेंगे **मुझे क्या करना है?** बस एक ही भाव हृदयमें रखो कि मैंने आत्मनिवेदन किया है. इसीलिये एक कविने कहा है **अहमिहस्थितवानपि तावकः त्वमपि तत्र वसन्नपि मामकः** मैं यहां हूं तो भी

तेरा हूं, तू मेरे पास मेरे सेव्य रूपमें न भी बिराजता हो और गोकुलमें अथवा बैकुंठमें अथवा मथुरामें अथवा द्वारकामें बिराजता हो तो भी तू मेरा ही है. मैं यहां संसारमें पड़ा हुवा हूं फिर भी तेरा ही हूं. तू जहां भी रह रहा है वहां आनन्दसे रह पर तू मेरा है इसमें कोई भी दो मत नहीं हो सकते. यहां सर्वकी बात नहीं है भला कि भगवान सर्वका है. जो सर्वका है वह तो करोड़ोंका है, यह तो तेरे मेरे बीचकी बात है. **हृदय संगतमेव सुसंगतं न तनुसंगतमेव हि संगतम्** जो हृदयसे जुड़ा है वह सच्चे रूपसे जुडा है. देहसे जुड़ा हो पर हृदयसे न जुड़ा हो तो वह अच्छी प्रकार जुड़ा नहीं कहलायेगा. जिनके हृदय एक दूसरेसे जुड़े हुवे हैं वह ही भली प्रकारसे जुड़े हुवे कहलाते हैं. श्रीगुसांईजी विज्ञप्तिजीमें कहते हैं **हे प्रभु तू जैसा भी है वैसा ही मेरेलिये नमस्करणीय है और मैं जैसा भी हूं वैसा तेरा ही हूं. प्रभु जब तुझे ही मुझे पालना है तो मुझे किस बातकी चिंता? मुझसे सेवा करवाकर पालना है तो सेवा करवा कर पाल, सेवा करवाये बिना पालना है तो अपनी सेवा करवाये बिना पाल.** पैसा हम सारा करेन्ट अकाउन्टमें ही नहीं डाल देते; कुछ फिक्सड् डिपोजिटमें रखते हैं, कुछ सेविन्गस् खातेमें डालते हैं. तो हमने प्रभुको करेन्टमें नहीं डाला तो कोई बात नहीं, कुछ नहीं घट गया, जिसने आत्मनिवेदन किया है उसे चिंता नहीं करनी चाहिये कि मैं घाटेमें जाऊंगा. तुमने अपनी आत्माको प्रभुमें इन्वैस्ट कर दिया है, अब करेन्टमें किया कि सेविन्गस्में किया या फिक्सड् डिपोजिटमें किया यह सारी चिंता उनके ऊपर छोड़ दो.

इनको जिस भी खातेमें रखना होगा रखेगें. तुम्हारा काम है कि बाहर संसारमें नहीं रखना, प्रभुकी भक्तिके बैंकमें जमा करवा देना.

इस प्रकार एकसे चार श्लोकोंमें अपना अन्य विनियोग अथवा अपने परिवारका अन्यविनियोग अथवा अपना सेवामें अविनियोग अथवा अपने परिवारका सेवामें अविनियोग अथवा भक्तिकेलिये त्रैवर्गिक आयास करना अथवा नहीं, इन बातोंकी चिंताके निवारणका श्रीमहाप्रभुजीने उपाय दिखलाया है. जैसे बच्चेके हाथमें से खराब वस्तु तमाचा मारकर नहीं परन्तु दूसरा सुन्दर खिलौना देकर सावधानीसे छुड़ाते हैं, वैसे. **चिंता करोगे तो नरक में जाओगे** ऐसे डराकर - धमकाकर निषेध न करते हुवे कौनसी चिंताको दूर करनेकेलिये हृदयमें कौनसा भाव होना चाहिये, कौनसी चिंता होती हो तो किस भावका चिंतन करना चाहिये, इसके लिये वैचारिक और व्यवहारिक उपाय बतलाया है.

पांचवां श्लोक

अब किसीको शंका हो कि नवधा भक्तिमेंसे अंतिम दो भक्ति- सख्य और आत्मनिवेदन यदि प्रभु स्वीकार करें तो ही संभव होती हैं इसलिये स्वयं आत्मनिवेदन किया यह तो ठीक है परंतु प्रभुने स्वीकार किया अथवा नहीं? ऐसी चिंता होती हो तो उसके लिये निराकरणका उपाय श्रीमहाप्रभुजी बतलाते हैं कि-

तथा निवेदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।।

विनियोगेपिसा त्याज्या समर्थोहि हरिः स्वतः ।।५।।

अन्वयार्थ :

श्रीपुरुषोत्तमे :श्रीपुरुषोत्तम के बारेमें ऐसी

निवेदने :मेरा आत्मनिवेदन स्वीकारा कि नहीं

चिंता त्याज्या :ऐसी चिंता छोड़ देनी चाहिये.

तथा :इसीलिये

विनियोगेपि :अपना आत्मनिवेदन स्वीकारा हो

तो अपनी सेवामें विनियोग क्यों नहीं होने देते, इस प्रकारकी भी

सा त्याज्या हि :वह छोड़ देनी चाहिये क्योंकि

हरिः :भगवान श्रीहरि

स्वतः समर्थः :स्वयं सब रीतिसे समर्थ हैं ।।५।।

भावार्थः पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णने मेरा अंगीकार किया है या नहीं ऐसी आत्मनिवेदनके बारेमें जो चिंता है वह छोड़ देनी चाहिये. श्रीमद्भागवतके दशमस्कंधमें निरोधलीलामें वर्णन किया गया है कि भगवानने स्वयं ही अन्य भजन करनेवाले भक्तोंका अन्य भजन छुड़ाकर उनको स्वयं स्वीकारा. इसीलिये जिस जीवने स्वयं सर्वात्मना श्रीपुरुषोत्तमके समक्ष आत्मनिवेदन किया है उसे पुरुषोत्तमने स्वीकारा या नहीं ऐसी चिंता करनेका कोई उचित कारण नहीं रह जाता. अरे

श्रीपुरुषोत्तमके स्वयंके स्वरूपानंदके दानसे सतत पोषित होनेवाले भक्तोंको भगवानके सिवाय उनका दूसरा कुछ भी उपयोग संभव ही नहीं होनेसे ऐसी शंका उठती ही नहीं है. कभी लोकभयसे अथवा जीव स्वभाववश भी अन्यत्र विनियोग होता हो तो भी चिंता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि हमने कदाचित प्रमादवश भी यदि ऐसा किया हो तो भी प्रभु कभी भी अपना त्याग नहीं करेंगे. वह तो अपने करुणापूर्ण स्वभावके कारण ऐसे प्रमादी जीवोंका भी उद्धार करनेकेलिए उनके साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखते।।५।।

व्याख्यान: इसके पश्चात पांचवें श्लोकमें एक बड़ी चिंताका उपाय कहते हैं. अब तक जितने भी प्रकारकी चिंताओंका वर्णन हुवा है वह तो जो आत्मनिवेदन किया है उसके बाद हो रही चिंता है - उसका. परन्तु चिंता करनेवाला यदि ऐसा हो जो कहे कि आत्मनिवेदनका चिंतन कर करके वह चिंताऐं भूल नहीं सकता कयोंकि उसे तो यह चिंता हो रही है कि आत्मनिवेदन भी हुवा है कि नहीं? तुलसी समर्पी, सभी कुछ तो किया परन्तु भगवानने तो कोई हामी भरी नहीं, तब कैस मान लिया जाये कि तुलसी समर्पनेसे आत्मनिवेदन हो गया या ब्रह्मसंबंधमंत्र बोलनेसे आत्मनिवेदन हो गया? यह चिंता करनी अथवा नहीं?

वास्तवमें यदि तुम देखो तो तुम्हें आश्चर्य होगा कि जितनी भी चिंताऐं यहां वर्णित की गयी हैं इनमेंसे एक भी चिंता ऐसी नहीं है कि व्यवसाय न चलता हो तो नवरत्नका पाठ करना चाहिये अथवा लड़कीका विवाह

न होता हो तो नवरत्नका पाठ करना चाहिये. कोई भी ऐसा विषय आया अब तक? मिलेगा ही नहीं. लोग ऐसी सभी चिंताओंको दूर करनेकेलिये नवरत्नका पाठ करते हैं वह मुझे तो समझमें नहीं आता. निश्चित ही नवरत्नका एक भी रत्न ऐसा नहीं है कि जो इस प्रकारकी चिंताका उपाय हो. सभी भगवत्संबंधी चिंताओंके उपायोंका ही यहां वर्णन करनेमें आया है. कौनसी भाषाके कौनसे व्याकरणके अनुसार लोग इसका ऐसा अर्थ निकालते हैं यह मुझे तो समझ नहीं पड़ता.

श्रीगुसांईजो आज्ञा करते हैं - **ननुसख्यात्मनिवेदने हि भगवदंगीकारेणैव सम्पद्यते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुः अंगीकृतवान न वा इति चिंता भवत्येव** अर्थात मैं कहूं कि मैं फलाने आदमीका मित्र. एक भाईने मुझसे कहा कि मैं नेहरूजीको जानता था. मैंने पूछा **तुम्हारी किस प्रकार जान पहचान हुई?** कहने लगा **ना ना चुनावके समय नेहरूजी मेरे गांवमें आये थे तो एक बार पेड़ पर चढ़कर मैंने उन्हें देखा था, और फिर नेहरूजीने भी हंसकर नमस्तेकी थी**. अब भाई तुम्हें तो याद है पर नेहरूजीको भी याद है कि नहीं इस बात की? हो गयी न पंचायत? ऐसी जानपहचान भी क्या काम आ सकती है किसी दिन? ऐसे ही हम कहें कि हमने तो आत्मनिवेदन किया, परन्तु प्रभुने सुना अथवा नहीं? तो निश्चित ही चिंताका विषय है. अब ऐसी चिंता करनी कि नहीं? अब हम यह तो कह नहीं सकते कि आत्मनिवेदनके भावका चिंतन करो तो चिंता निवृत हो जायगी. क्योंकि **मूलं नास्ति कुतो शाखा** मूलमें आत्मनिवेदन कि

जिसके आधारपर अबतककी सभी चिंताओंका निवारण किया उसीके बारेमें ही चिंता शंका हो गयी.

तब भी महाप्रभुजी कहते हैं कि कोई बात नहीं. तुम्हें अब भी चिंता नहीं करनी चाहिये? तुम यह तो स्वीकारते हा कि नहीं कि जिसके पास आत्मनिवेदन हुवा या नहीं, जिसकी चिंता कर रहे हो वह पुरुषोत्तम है? वह कोई सामान्य पुरुष नहीं है. **यस्मात क्षरमतीतोहम् अक्षरादपि चोत्तम: अतोस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम:** क्षर और अक्षरसे मैं ऊपर हूं, और इसीलिये पुरुषोत्तम हूं. और केवल पुरुषोत्तम नहीं, श्रीपुरुषोत्तम हूं. अर्थात? शोभावाला पुरुषोत्तम. कैसी शोभा? ऐसी शोभा कि **मल्लानां अशनि: नृणां नरवर:, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनोसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो: शिशु: मृत्युर्भोजपते: विराडविदुषां तत्वं परं यागिनाम् वृष्णीनाम् परदेवतेति विदितो रंगं गत: साग्रज:** एक कोई नट या एक्टर एक राजाका मेकअप करके राजा जैसी छटा बताता है, भिखारीकी भेषभूषा धारण करके भिखारीकी एक्टिंग कर सकता है, अंधेकी एक्टिंग कर सकता है पर यह जो सारी ऐक्टिंग है वह पौरुष अभिनय होता है, इसलिये उसकी मर्यादा है. एक समयमें सांगोपांग एक ही अभिनय कर सकता है. एक समयमें दस अभिनय कर सके एक मनुष्यको रुला सके, एक मनुष्यको हंसा सके, डराकर, नाखुश करके, वैराग्य उत्पन्न करके, काम उत्पन्न करके एक समयमें एक मंचपर एक वेषभूषामें यह तो केवल भगवान हो कर सकते हैं. मथुरामें कंसके दरबारमें आप पधारे तब मल्लोंको ऐसे दर्शन हुवे कि

जाने उनके ऊपर बिजली गिर पड़ी हो. जो पुरुष थे उन्हें लगा कोई श्रेष्ठ पुरुष वी.आई.पी. आया हो. स्त्रियोंको लगा कि साक्षात कामदेव पधारे. ऐसी छटासे पधारते हुये भी जो गोपबालक गोकुलसे साथ आये थे उन्हें हंसी आती थी यह देखकर कि कल तक तो गायें चराता था और आज देखो कैसी छटासे जा रहा है. जो राजा बैठे थे उन्हें लगा कि अब अपनी खैर नहीं है, हम अपनी प्रजाको दंड देते थे पर आज हमें दंड देनेवाला कोई चक्रवर्ती सम्राट आ गया है. उसी समय देवकी वसुदेवको ऐसा लगता था कि कंस कहीं उसे मार न दे ऐसे कोमल निर्दोष बालकको. उनको तो बालक भी नहीं, शिशु ही लगा. अर्थात कोई घुटने चलता हो ऐसा बच्चा. उनको जबकि भगवानकी मृत्युका भय लगता था तब कंसको लगता था कि यह तो साक्षात मत्यु ही आ गयी, मेरा काल ही आ गया. जो भीड़में खड़े थे उन्हें समझमें ही नहीं आया कि कौन आया और क्या है, पर जो योगी थे उन्हें लगा कि न समझमें आये ऐसी कोई बात ही नहीं है. आज तक जिसकी हम धारणा, ध्यान, समाधि करते थे वह तत्व साक्षात मूर्तिमान होकर हमारे पास आया है. तो जो यादव थे उन्हें लगा कि ना ना साक्षात परदेवता हमारे कुलमें प्रकट होकर आज पधारे हैं. ऐसी छटासे प्रभुने रंगमंच पर पदार्पण किया.

तो प्रभु कैसे अभिनेता हैं इसका तुम विचार करो कि तुम्हें न देखना हो तो भी देखना ही पड़े, और इसकी इच्छा न भी हो तो देखकर भी न समझने वाले करोड़ों मूर्खोंमें तुम शामिल हो जाओगे. तो जब तुम्हारे

हृदयके रंगमंच पर इसे पदार्पण करनेकी इच्छा होगी तो निश्चित समझो कि संसारकी कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि इसे रोक सके. मायाकी ऐसी शक्ति नहीं है, तुम्हारे दुष्कर्मोंकी ऐसी शक्ति नहीं है, तुम्हारे भीतर रहे हुयी असदभावनाओंकी ऐसी शक्ति नहीं है कि जिस समय यह तुम्हारे हृदय पर काबू पानेकेलिये आता हो उस समय उसे अटका सके. अंग्रेजीमें इसे irresistable कहते हैं, तो भगवानका पदार्पण irresistable है. यह पुरुषोत्तम है, यह दस अभिनय करके आयेगा. दुनियांका ऐसा कोई रस नहीं है कि जिसके अनुरूप अभिनय करना उसे आता न हो.

तुम्हारा वात्सल्य भाव तुम्हें संसाराभिमुख करता हो तो यह बालक होकर तुम्हारे वात्सल्यभावको वात्सल्यमयी भक्तिमें परिणित कर सकता है. तुम्हारे डरनेकी पवृत्ति हो तो यह साक्षातकाल बनकर इतना अधिक तुम्हें डरायेगा कि भागवतमें आता है कि कंसके चित्तकी इतनी अधिक एकाग्रता सिद्ध हो गयी कि सोते, जागते, उसे चारों ओर कृष्ण ही नजर आता था. **अपश्यन् तनमयं जगत्** उसे कोई नहीं रोक सकता. जब वह गोकुल पधारना चाहता है तो सारे द्वार अपने आप ही खुल जाते हें. वह तुम्हारे हृदयमें पधारना चाहे तो सारे ताले स्वयं ही खुल जायेंगे सारी जंजीरें टूट जायेंगी. **भिद्यन्ते हृदयं ग्रंथि छिद्यन्ते सर्व संशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे** ऐसा उपनिषदमें कहा गया है - वह जिस समय तुम्हें दर्शन देने आना चाहेगा तब तुम्हारे सत्कर्मके, दुष्कर्मके, सदवासनाके, असदवासनाके, सत्‌जन्मके, असत्‌जन्मके,

सदयोनिके, असदयोनिके कोई भेद बीचमें नहीं पड़ेगें, वह छप्पर फाड़कर आयेगा, कोई उसे रोक नहीं सकेगा, उसकी गति अप्रतिहत है.

बस इस पुरुषोत्तमका तुम विचार करोगे फिर तुम्हें चिंता नहीं होगी कि मेरा आत्मनिवेदन हुवा अथवा नहीं हुवा. क्योंकि जो एक ही समयमें सभीके चित्तको अपने अभिनयसे अपनी ओर केन्द्रित कर सकता है वह क्या तुम्हारे एक चित्तको आकर्षित नहीं कर सकता? तुम्हारा जो इतना भी भाव हो कि तुम्हें चिंता हो रही है कि मेरा आत्मनिवेदन हुवा कि नहीं तो जिनका सर्वथा भाव ही नहीं है उनसे तो बेहतर हो न? जो इसको बुलाते भी नहीं थे उनके यहांसे भी यह माखन चोर जाता था तो तुम कमसे कम उसे बुला तो रहे हो न? फिर चिंता मत करो. यह तुम्हारे हृदयका किसी भी दिन नवनीत चुरा लेगा, यदि तुम उसे पुरुषोत्तम मानते हो तो. यह पुरुषोत्तम है यह बात अपने आपमें प्रत्येक बातका खुलासा कर रही है. वह पुरुषोत्तम है, हर भांति तुम्हारी चित्तवृत्तिको अपनेमें आकृष्ट करनेमें समर्थ है, इसीलिये महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **असाधनमपि साधन करोति**' '**नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनाम विभेदेन जगत क्रीड़ति योयत:**' ऐसा अदभुत कर्मा है, क्योंकि साधन न भी हों उसे भी साधन बना सकता है. तुम यदि संसारी हो तो तुम्हारेलिये यह ऐसा रूप धारण कर सकता है कि तुम्हें पता ही नहीं चलेगा कि कब तम्हारे संसारने भक्तिका रूप धारण कर लिया.

ब्रजलीलामें दूसरा क्या था? **अहन्यापृतं निशि शयानमति श्रमेण लोकंविकुंठमुपनेष्यति गोकुलम् स्वयम्** सुबहसे काम करते हुवे रातमें थककर सो जाते थे, लेकिन कृष्ण जब इस ब्रजमें प्रकट हुवे तो उन्हें पता ही नहीं चला कि कौन प्रकट हुवा ब्रजमें. प्रभुको तो अपना मुखारबिन्द खोलकर बताना पड़ा एक समय. वहां ऐसा आता है कि प्रभुने ब्रह्मांड दिखाया तब उन्हें खबर पड़ी. परन्तु उनका बालक रूप देखा, तब यशोदाजीको लगा कि ना ना ऐसे बालकके मुखमें भी कहीं ब्रह्मांड हो सकता है? तब गर्गमुनिको बुलाया कि इसकी शांति करो, कोई भूत प्रेत बाधा तो नहीं लग गई. इसलिये पूजा कराई, स्वस्ति वाचन करवाया. यह भाव था यशोदाजीका कि मुखमें ब्रह्मांड देखकर भी इनका वात्सल्य भाव खंडित नहीं हुवा. तो कैसा बालक रूप धरा होगा प्रभुने? अर्जुनके भावके साथ इसकी तुलना करो. अर्जुनने सख्यभाव रखकर भूलसे पूछ लिया कि तुम ब्रह्मांडनायक हो, सारा जगत तुम्हारी देहमें है, तो मुझे भी थोड़ा सा दिखाओ ना. और जिस समय भगवानने दिखाया उस समय बुरी तरह घबड़ा गया. उसे कहना ही पड़ा कि मुझे कुछ सूझता नहीं है तुम्हारा यह रूप देखकर **तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते**. इस रूपका उपसंहरण करो. और दूसरी ओर यशोदाजीको देखो कि कृष्णके उस स्वरूपको देखनेके पश्चात भी स्वीकारा नहीं कि इसके मुंहमें ब्रह्मांड हो सकता है. वह समझी कि कहीं पूतना जैसी बाधा न हो कहीं, करो स्वस्तिवाचन. मुझे ऐसा मुखारविन्द नहीं चाहिये कि जिसमें करोड़ों ब्रह्मांड

दिखलाई देते हों. मुझे तो ऐसा मुखारबिन्द चाहिये जो मैंने जाना है. यह भाव हो तो ही पुष्टिमार्ग पर चलना, नहीं तो गुडबाय.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि **तथा निवेदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे** बस बात पूरी हो गई. **उनकी मरजी न हो तो क्या दे तूल. दास्तां खत्म एक आह में है.** उन्हें जो हमारी कथा अधिक न सुननी हो तो कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है. एक गहरी सांस लूंगा और सारी कथा व्यथा अपनी व्यक्त हो गई. इसी तरह तुम्हें कुछ समझनेकी जरूरत नहीं है कि चिंता करनी है कि नहीं करनी. एक बार **श्रीपुरुषोत्तम** इतना समझ लो बस सारी चिंता दूर हो जायगी.

अब तुम्हें लगे कि श्रीपुरुषोत्तमको समझते ही निवेदनकी चिंता तो चलो दूर हो गई, लेकिन ऐसे पुरुषोत्तममें हमारा विनियोग कब होगा यह चिंता तो करनी पड़ेगी. ता आगे कहते हैं कि **विनियोगेपिसा त्याज्या समर्थो हि हरि स्वत:** ब्रजलीलामें देखो कि ब्रजभक्त तो इन्द्रकी पूजा करना चाह रहे थे, इन्द्रका यज्ञ करना चाह रहे थे, इनको कोई ज्ञान ही नहीं था कि घरमें परब्रह्म साक्षात प्रकट हो गया तो उनको छोड़कर कहीं इन्द्रको भजा जाना चाहिये? कृष्णको छोड़कर इन्द्रको भजनेकी कोई जरूरत नहीं थी, फिर भी इन्द्रके यज्ञकी तैयारी कर रहे थे. भगवानने झगड़ा किया कि मुझे तो खाना है इसमेंसे. तो कीर्तनमें आता है कि यशोदाजीने कहा **तुझे क्यों दें? यह तो देवता के लिये बनी हुई सामिग्री** है. भगवानन कहा कोई

बात नहीं, तुमने भले ही देवताकेलिये तैयारकी हो, पर अब देवता नहीं खा सकता. मैं आ गया अब देवता नहीं खा सकता. भगवानने कहा कि **गिरिराजजीको भोग धरो, वही हमें सब कुछ देंगे.** अन्तमें गिरिराजजी रूपसे आरोगा. पर किसने? स्वयं प्रभुने ही तो आरोगा. उस समय ऐसे दर्शन हुवे कि इधर तो कृष्ण आरोगा रहे हैं और उस ओर कृष्ण आरोग रहे हैं.

तो जिस समय इसको तुम्हारा अपनी सेवामें विनियोग करना होगा उस समय तुम बस विरोध ही करते रह जाओगे कि मैं इन्द्र यज्ञ करूंगा और यह गिरिराजजी रूपसे, कहनेकी कोई बात नहीं है कि तुम्हें ठगकर भी, अन्नकूट आरोग जायेगा. नंदरायजी, गोपबालक सभीको यही ख्याल रहा कि हमने तो गिरिराजजीको ही भोग लगाया है पर भागवतमें कहा है कि गिरिराजजी रूपसे प्रभुने ही आरोगा. क्योंकि उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं इस ब्रजमें प्रकट हुवा हूं तो अब इन्द्रको नहीं आरोगने दूंगा, अबसे मैं ही आरोगूंगा. प्रभु कहते हैं **तस्मात् मत्शरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्**। यह ब्रज, पूरा गांव और ग्रामवासी मेरे हैं. मैं ही इनका स्वामी हूं. मैं इनको अपने पाससे दूसरेके पास नहीं जाने दूंगा.

इसीलिये श्रीमहाप्रभुजी समझाते हैं कि विनियोगकी चिंता भी छोड़ दो. तुम अन्याश्रय करने भी जा रहे होगे पर जिस दिन यह तुम्हें रोकना चाहेगा उस दिन अन्याश्रय नहीं होने देगा. तुम जिस देवको भजने जाओगे उस देवका रूप धारण करके तुम्हें ठग लेगा पर तुम्हें अन्याश्रय नहीं करने देगा, नहीं करने देगा और नहीं ही करने देगा - इतना समर्थ भी यह है. वह

तो ब्रज भक्तोंने जिद नहींकी इसीलिये उसने गिरिराजजीका रूप धरकर आरोगा. पर यदि जिदकी होती कि नहीं इन्द्रको ही हमें भोग धरना है तो प्रभु इतने समर्थ हैं कि इन्द्रको रोक देते कि नहीं आज तू मत आ, आज तेरा रूप धरकर मैं जाऊंगा और मैं ही आरोगूंगा. और फिर प्रभुको कौन रोक सकता? वृंदा कहां रोक सकी प्रभुको जब प्रभु पतिका रूप धरकर उसके पास गये? इसीलिये हम राजभोग धरते समय तुलसीका विनियोग करते हैं कि तुलसी resist करती थी तो तुम इतने irresistable हो गये तो जैसे वृंदाको अंगीकार किया वैसे ही मेरी सामिग्रीको अंगीकार करो कि मैं तुम्हें चित्तकी एकाग्रतासे भोग नहीं धर सकूं, स्वार्थ अथवा भाववश तो भी आप आरोगो.

एक भाईने मुझसे प्रश्न किया कि घर वैष्णव आयें तो उनकी गिनती करके ठाकुरजीको भाग धरें तो ठाकुरजी आरोगेंगे कि नहीं? बस यह समझ लो कि तुलसी समर्पी हो तो निश्चित आरोगेंगे, नहीं तो नहीं. क्योंकि तुलसी समर्पनेके साथ ही भगवान कहेंगे कि तुम वृंदा जैसे होगे, तुमने ऐसी गिनती करके भोग धरा है पर जिसे गिनती करके भोग धरा है वह अपनी गिनती करनेमें भी समर्थ है **समर्थो हि हरिः स्वतः**. इसीलिये आत्मनिवेदनकी अथवा आत्मविनियोगकी चिंता हमें पुष्टिमार्गमें करनेकी ही नहीं होती. इसीसे श्रीगुसांईजी कहते हैं कि **पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्य भजनं** क्रि**यमाणा भक्ताः तन्निनवार्य स्वयं आत्मसात्कृता**. निरोधलीलामें - ब्रजलीलामें भक्त जब अन्य मार्ग पर प्रवृत्त हुवे तो उनका वह वह मार्ग

छुड़ाकर स्वयंमें निरुद्ध किया और ऐसे श्रीपुरुषोत्तमके स्वरूपपर ध्यान रखोगे तो तुम्हें कभी चिंता नहीं सतायेगी कि मेरा आत्मनिवेदन हुआ है कि नहीं हुवा.

कल एक भाई मुझे धमका रहे थे कि मुझे दसजन्मका अंतराय पड़ जायेगा जो ठाकुरजीके जनतामें प्रदर्शनको मैं रोकूंगा तो. अरे दसजन्म बाद मिलेंगे यह कोई साधारण बात है? ऐसे कितने ही जीव होंगे कि जिनको अभी दसहजार जन्म बाद भी नहीं मिलेंगे, तो मुझे दस जन्मका अंतराय हो तो आनंदकी बात ह मेरेलिये तो. मैं दस जन्म तो बहुत जल्दी बिता दूंगा भला. क्योंकि कलियुगमें तो आयु भी क्षीण हो गई है. कोई जमाना तो ऐसा था कि लोग लम्बी आयु भोगते थे. आजकल आयु है ही कितनी? इसलिये यदि महाप्रभुजीके सिद्धांत समझाते मुझे दसजन्मका अंतराय हो भी जायगा तो उसे मैं सहर्ष स्वीकार करता हूं. मुझे तो भूतलपर भगवत्सेवा करनी है, मुझे ऊपर जाना ही नहीं है और जिसकी सेवा कर रहा हूं उसका मुझे यदि अंतराय न हो तो कोई दूसरे स्वरूपको ढूंढने मैं जाना नहीं चाहता. क्योंकि जिसकी सेवा कर रहा हूं उसका तो मुझे अंतराय है ही नहीं. मेरा स्वामी मेरे माथे बिराजता हो तो मैं जन्मके अंतरायको किसलिये गिनूं? जो इसे तांबा पीतल अथवा पत्थरका गिनता हो वह गिने जन्मोंका अंतराय. मुझे तो इसी जन्ममें मिल गया है, फिर अंतराय किसका? जो पत्थरका गिनता हो उसे हो अंतराय, जो इसका प्रदर्शन करता हो उसे हो अंतराय, मेरा ठाकुर साक्षात स्वरूपसे मेरे घर बिराजता हो तो मुझे जन्मका कैसा अंतराय? मुझे तो मिल ही

गया है. मुझे अब अंतरायकी चिंता नहीं है, दसजन्मकी चिंता नहीं है और दसहजार जन्मकी भी चिंता नहीं.

जो महाप्रभुजीका सिद्धांत मुझे कहना हो तो दस नहीं, दसहजार जन्मोंका अंतराय होता हो तो मेरा यह जन्म भी न्यौछावर है. क्योंकि आत्मा तो अनादि अनन्त है. इसमें दस हजार जन्मका भी कोई महत्व नहीं है. हम **सहस्त्र परिवत्सर** कहते हैं. सहस्त्र परिवत्सर अर्थात कितना समय? लाखों, करोड़ों, अरबों वर्षोंका काल. अर्थात इतना समय तो जाता रहा, हाथी निकल गया तो अब पूंछकी क्या चिंता करनी? दस जन्मका अंतराय तो हाथीकी पूंछके बराबर ही है. श्रीमहाप्रभुजीके विश्वास पर चौरासी लाख योनियोंका पसार हो गया, उसकी चिंता हमने नहींकी तो दस जन्मकी क्या बात है. मैं तो अति आश्वस्त हूं. अरे दस जन्म तो मुझे ऐसे चाहियें ही, मुझे तो मुक्त होना ही नहीं है. अपने सिद्धांतके हिसाबसे तो हम जन्मकी याचना करते ही हैं यदि भगवतसेवा मिलती हो पर घरमें, खुलेमें नहीं, प्रदर्शन करके नहीं, पूजाके अरि होकर नहीं. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **ब्रह्मभावात्तु भक्ताना गृह एव विशिष्यते**। इसलिये मुझे कोई भी दस जन्मके अंतरायसे डरा नहीं सकता. मुझे तो महाप्रभुजीने भली प्रकार से समझाया है कि **तथा निवदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे, विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः**। उसे जब मेरा उद्धार करना होगा तब ही करेगा. सच जिस दिन यह उद्धार करेगा उस दिन तो मुझे दुख ही होगा समझे. मुझे उद्धार नहीं चाहिये. मुझे इस भूतलपर महाप्रभुजीके सिद्धांतानुसार जीना ही अच्छा लगता है.

उद्धार किसी मुक्तिमार्गीयको अच्छा लगता होगा. **रीझे रावडी थकी गरीब लोक, भोगीने न भावे रे. अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे**. जब मैं महाप्रभुजीके सिद्धांतानुसार कह रहा हूं तब मुझे क्या जन्मकी चिंता होगी? मुझे इस जन्मका ही डर नहीं है तो और किसी जन्मका क्या होगा? मुझे सचमें यह जन्म ही अच्छा लगता है तो मैं किसलिये दस जन्मके अंतरायसे डरूं?

इसलिये गुसांईजी आज्ञा करते हैं: **कदाचित लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्य विनियोगेपि तथा इत्याहु: विनियोगेपि इति. प्रमादात् तथा संभवेपि प्रभु: न त्यक्ष्यति. यत: तत्स्वभाववशात् तथा भूतम् अपि उद्धर्तुतत्साधनानपेक्षा:** कहते हैं प्रमादसे, क्षतिसे, मेरे वैचारिक स्खलनसे, या मेरे भावके स्खलनसे, या मेरी कृतिके स्खलनसे मुझसे अन्याश्रय हो जाय या अन्यासक्ति हो जाय या विषयासक्ति हो जाय या अधर्माचरण हो जाये, यह (प्रभु) सब क्षमा करनेमें समर्थ है. इसीलिये भक्त कहते हैं **अहमास्मि अपराधचक्रवर्ती करुणे त्वं च गुणेषु सार्वभौमि. विदुषीस्थितिमीदृशी स्वयंमां वृषशैलेश्वरपादसात्कुरु त्वम्।** जितने अपराध करने वाले हैं उनका मैं चक्रवर्ती भी अगर होऊं तो भी मुझे क्या डर? प्रभुकी दयाको सम्बोधन करके कहते हैं कि हे दया, प्रभुके जितने गुण हैं उनमें चक्रवर्ती तू है. जैसे अपराध करनेवालोंमें मैं चक्रवर्ती हूं उसी तरह प्रभुके अनन्त गुणोंमें दयाका गुण चक्रवर्ती है. तो यह संबंध जब स्पष्ट है तब मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये.

दसजन्मोंका या दसहजार जन्मोंका भी अंतराय आये तब भी. जब तक दयाका गुण प्रभुके सर्वगुणोंमें चक्रवर्ती हो तब तक मुझे डरनेकी क्या जरूरत? **यादृशोसि हरे कृष्ण तादृशाय नमोस्तुते यादृशोस्मि हरे कृष्ण तादृशां मां हि पालय** जब मेरे साथ मेरा स्वामी बिराजता हो तो मुझे क्या डर? मेरा स्खलन भी होता हो तो भी उसकी दयाका गुण ऐसा है कि सब माफ कर सकता है. श्रीगुसांईजी बहुत सुंदर कहते हैं **क्रियान पूर्व जीवो तत्कृतिश्चापि क्रियति** यह जीव कितना छोटा है. यह अपराध करे तो भी कितना कर सकता है? और परमात्मा जब कृपा करने बैठे तो कितनी कृपा कर सकता है? बस इन दो बातोंका समन्वय मेरे सामने साफ हो तो फिर डरनेकी क्या आवश्यकता? एक पिंजरेका तोता कितना अपराध कर सकता है?

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थोहि हरिः स्वतः। प्रभु न त्यक्ष्यति. प्रभु कभी भी हमारा त्याग नहीं करेंगे ऐसा विश्वास रखना चाहिये. परन्तु यह विश्वास हम यहां उपयोगमें लायें तो उसका दुरुपयोग ऐसा होगा कि सेवा नहीं करनी. मनमें आये वैसा करना है. सिद्धांत अथवा नियमोंका पालन नहीं करें. जिस प्रकार डाक्टरको छुरी दी जाये और उसका उपयोग वह खून करनेमें करे तो यह उसका गलत उपयोग कहा जायेगा लेकिन उसका उपयोग ऑपरेशनमें करे तो यह उसका सदुपयोग कहा जायेगा. उसी छुरीसे किसीकी जान भी ली जा सकती है और किसीकी जान भी बचाई जा सकती है ऑपरेशन करके. तो प्रभुकी दया पर जो विश्वास है उसका उपदेश भक्तिके साधनसे या श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतसे

विमुख होनेके लिये नहीं है. जो लोग विमुख होनेकेलिये उसका उपयोग करते हैं वह लोग प्रवाहीजीव हैं. पुष्टिजीव प्रभुके प्रति अपनी भक्तिकी वृद्धिकेलिय उसका उपयोग करते हैं यह बात समझ लेनी चाहिये. इसीलिये नवरत्नके प्रवचनके प्रारम्भमें मैंने तुमको कहा कि यहां नौ सिद्धांत कहनेमें आये हैं और जो सिद्धांत जिस प्रकारकी चिंताकी निवृत्तिकेलिये कहनेमें आया है उस सिद्धांतको उसी समय उपयोगमें लाना चाहिये. हरेकको हरेक समय उपयोगमें नहीं लाना चाहिये. इसीलिये यदि मुझे निवेदनके सम्बंधमें चिंता हो तो मैं वहां जाकर रुकूंगा **तथा निवेदने चिंता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे**. यदि मुझे भक्तिके संबंधमें चिंता हो तो मैं पुरुषोत्तमको परिश्रम नहीं दूंगा आत्मनिवेदनका चिंतन करुंगा. जब मुझे भक्तिकी, भगवद विनियोगकी चिंता हो रही हो उस समय मैं पुरुषोत्तमको परिश्रम नहीं दूंगा लेकिन यदि मेरा आत्मविश्वास इतना डगमगा गया हो कि आत्मनिवेदन भी हुवा है कि नहीं उस समय मुझे प्रभुको परिश्रम देना पड़ेगा. क्योंकि पुरुषोत्तम पर विश्वास रखे बिना अब मुझसे रहा जाय ऐसा नहीं है. लेकिन हमेशा प्रभुको परिश्रम नहीं दिया जा सकता इसलिये जब तक मेरे आत्मनिवेदनका चिंतन करके मैं चिंताको निवृत्त कर सकता हूं तब तक पुरुषोत्तमका विचार करके मैं पुरुषोत्तमको तो परिश्रम नहीं ही दूंगा. लेकिन जिस समय मेरा आत्मनिवेदनका पाया ही डगमगाता हो उस समय तो मुझे पुरुषोत्तमको तो परिश्रम देना ही पड़ेगा. उस समय परिश्रम देनेमें कोई दिक्कत नहीं है.

हमारे दादाजीके एक कृपापात्र वैष्णवने एक गजबकी बात कही. वह सुनकर मुझे बहुत आनंद आया. दादाजी हररोज पार्ले प्रवचन करने पधारते थे. उनको दिलकी बीमारी थी. एक समय प्रवचन करते करते उनको दिलका दौरा पड़ा. वह वैष्णव दादाजीके कृपापात्र थे इसलिये उन्होंने दादाजीसे कहा कि आप इतना परिश्रम लेकर हर समय यहां पधारते हो उसकी क्या जरूरत है? तब दादाजीने इतना सुंदर जबाब दिया कि जन्म लेना यह ही सबसे बड़ा परिश्रम है. अब जब जन्मका हाथी पसार हो गया तो प्रवचनकी पूंछ अधिक तकलीफ नहीं देगी. मुझे यह बात बहुत अच्छी लगी. सचमें जन्म लिया यह ही एक बहुत बड़ा परिश्रम है. गालिब कहता है **न मैं कुछ था तो खुदा था, न मैं कुछ होता तो खुदा होता. डुबोया मुझको होने ने, न मैं होता तो क्या होता.** अर्थात कि जब जन्म लेने का परिश्रम ही ले लिया तो प्रवचनका परिश्रम कोई अधिक परिश्रम नहीं. तब वह वैष्णव बोला कि अब आप आनंदसे पधारो. इस तरह प्रभुको हमने अनेक परिश्रम दे ही दिये हैं एक और परिश्रम देनेमें कोई बड़ी बात नहीं है. हम पुष्टिमार्गमें प्रकट हुवे, प्रभुके नामकी कंठी ली, प्रभुको आत्मनिवेदन भी किया पर फिर भी आत्मनिवेदन पर पूरा भरोसा नहीं है तो थोड़ा श्रम प्रभुको देना भी चाहिये. श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं **सूर व्है के घिघियात है. कछू भगवतलीला गा**. पुरुषोत्तमकी ऐसी लीला गा कि तेरा सारा डर हृदयमेंसे निकल जाये, और तू आश्वस्त होकर पुरुषोत्तमको भज सके. परन्तु जबतक अपने आत्मनिवेदनके चिंतनसे मैं चिंताको

निवृत्त कर सकता हूं वहां तक व्यर्थमें पुरुषोत्तमको परिश्रम नहीं दूं. यह बात समझो कि इन दो प्रकारका उपदेश श्रीमहाप्रभुजीने दिया है.

छटा श्लोक

पुरुषोत्तम श्रीहरि ने हमारा अंगीकार किया है कि नहीं उसके ज्ञान के लिये अंगीकार का दूसरा लक्षण कहते हैं:

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।।
पुष्टिमार्ग स्थितौ यस्मात् साक्षिणो भवताखिला: ।।६।।

अन्वयार्थ:
यस्मात् :क्याकि
पुष्टिमार्ग स्थित: :पुष्टिमार्गमें स्थित है उसीसे
हरिस्तु :पुष्टिपुरुषोत्तम श्रीहरि तो
लोके तथा वेदे :अपने लौकिक तथा वैदिक क्रियाकलापों में
स्वास्थयं न करिष्यति :हमको स्वस्थ नहीं ही होने देंगे
अखिला: साक्षिणो भवत: :सभी पुष्टिजीवों! तुम इस बातके साक्षी
– उदाहरण बनो ।।६।।

भावार्थ:

हम प्रावाहिक आवेशके कारण कभी कभी लौकिक व्यवसाय, व्यापार अथवा परिवारकी खटपटमें, अथवा मार्यादिक आवेशके कारण वर्ण अथवा आश्रम संबंधी धर्मोंमें अटके रहें तो च्यूंकि हम पुष्टिजीव हैं इसलिये पुष्टि प्रभु उसमें विघ्न ही करेंगे; हमें सफल नहीं होने देंगे. कारण कि सर्व समर्थ प्रभु पुष्टिमार्गीय संबंध होनेसे जुड़े हुवे हैं. इसीलिये पुष्टिजीव रूप होनेके कारण हमें जितनी भी लौकिक अथवा वैदिक सिद्धियां अपेक्षित हैं उन्हें प्रभु हमारे लाकिक अथवा वैदिक प्रयासोंके बिना ही प्रदान करनेमें भी समर्थ हैं. पुष्टिमार्गीय संबंध स्वीकारनेके बाद लौकिक वैदिक मर्यादाओंका बंधन प्रभुको नहीं भाता. उसका साक्षी हमें बनना ही चाहिये. अर्थात साक्षीकी तरह निर्लिप्त भावसे प्रत्येक वस्तुको या घटनाको देखनेका भाव जाग्रत करना चाहिये ।।६।।

व्याख्यान:

अब छटे श्लोक में आज्ञा करते हैं **लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टिमार्ग स्थितौ यस्मात् साक्षिणो भवताखिला:** कहते हैं कि भक्तिके भरोसे हमने लौकिकताको छोड़नेका प्रयास किया, भक्तिके भरोसे हमने वैदिकताके, देहके, वर्णके, आश्रमके अभिमानोंको छोड़नेका प्रयास किया. अब यह देह वर्ण आश्रमके अभिमान छूटते न हों और भक्ति भी भली प्रकार होती न हो **दुबिधा में दोंनों गये माया मिली न राम** ऐसी विचित्र स्थिति जो आ जाय तो चिंता करनी अथवा नहीं? **कदाचित प्रवाहवशात्**

लौकिके वाणिज्यादौ वैदिके आश्रम धर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलम्.

हम नियम अथवा मर्यादा तोड़नेके लिये कैसे हाथ धोकर तैयार बैठे होते हैं इसका उदाहरण देखो. श्रीगुसांईजी समझाते हैं कि वैदिक वर्णाश्रम धर्म में यदि हम स्थित हैं तो निश्चित ही हमें विघ्न आयेंगे, इनका फल नहीं मिलेगा. हमने कहा कि इसीलिये हमको वैदिक वर्णाश्रम धर्म निभानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, करेंगे तो विघ्न ही होगा न ? हमें तो केवल भक्ति ही करनी है. परन्तु भूल जाते हैं भला. गुसांईजी इतनी कच्ची आज्ञा देनेवाले नहीं हैं. श्रीगुसांईजी बहुत पक्का वाक्य लिख रहें हैं कि वैदिक वर्णाश्रम धर्मसे पहले **लौकिक वाणिज्यादिक** पैसा कमानेका उपाय छोड़ा है अथवा नहीं? यह छोड़े नहीं और वर्णाश्रम धर्म छोड़ दिये हैं!! कैसे? यह महाप्रभुजी करेंगे, **स्वदासार्थ कृताशेष साधनः सर्वशक्तिधृक्**. तो व्यवहार भी तो छोड़ो न भाईसाहब. पैसा कमानेकेलिये विभिन्न छलछद्म साधन जो एकत्रित किये हैं उन्हें भी बंद करो. यह बंद किये नहीं और वर्णाश्रम धर्म छोड़ दिये हैं. आचार विचार हमें पालने नहीं हैं, यह हम नहीं करेंगे, वह हमसे नहीं होता, क्योंकि महाप्रभुजी यह सब कर रहें हैं. तो धंधा बंद कर दो, महाप्रभुजीको तुम्हें जितना देना होगा देंगे. जो सहज अयाचित वृत्तिसे मिलता है उससे मनोरथ करो, पर्चे क्यों छपवाते हो फिर? पर्चे छपवा रहे हो तो वाणिज्यका आयास तो कर ही रहे हो तुम. और जब पैसा कमानेका साधन तुम कर रहे हो तब कमसे कम तुम यह तो नहीं कह सकते

कि महाप्रभुजी हमारी ओरसे साधन करते हैं इसलिये हमें साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है.

श्रीगुसांईजी बहुत सावधानीसे इसीलिये वर्णाश्रम धर्मोंसे पहले लौकिक रख रहे हैं, **कदाचित प्रवाहवशात लौकिके वाणिज्यादौ** कहकर. जबकि तुम लौकिक विषयोंकी पूर्तिका छलछद्म रच रहे हो तो निश्चित समझो कि यह तुम्हारे भीतर रही हुवी कोई प्रावाहिक वृत्ति है और उसके ऊपर जाकर ही मर्यादा वृत्ति आती है. मर्यादा वृत्तिमें तुम अपने शास्त्रीय धर्म कर्मको निभानेका प्रयास करो. भक्तिका मार्ग इन सबको छोड़नेका मार्ग नहीं है, भक्तिका मार्ग इन सबको भक्तिका अंग बना लेनेका मार्ग है. जबकि तुम्हारे लौकिक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवहार तुम्हारी भगवदभक्तिका अंग नहीं बनते तब ही वह बाधक बनते हैं. जब यह भक्तिका अंग बन जाते हैं तब बाधक रहते ही नहीं हैं, यह महाप्रभुजीका सिद्धांत है. यह महाप्रभुजीकी मर्यादा है. तुमने ग्रंथ न बांचे हों तो बांच लो, अच्छी प्रकार समझ लो. महाप्रभुजीके नाम पर जो आये वह गड़बड़ करो वह महाप्रभुजीका अपराध कहलायेगा, ऐसा अपनेसे नहीं होना चाहिये. महाप्रभुजीका सिद्धांत भली प्रकार समझ लो. एक कोई वचन मिला और हम झंडा लेकर दौड़ पड़ें कि वचन मिल गया, मिल गया, ऐसा नहीं है. महाप्रभुजीका सिद्धांत तो इस बारेमें स्पष्ट है कि **यावद् देहाभिमानः तावत् वर्णाश्रम धर्म एव स्वधर्मः, भगवदधर्मो अपि विधर्मो परधर्मो वा.** जब तलक इस देहका अभिमान तुम्हें है कि मैं पोपटभाई हूं, चिम्मनभाई हूं, रमणभाई

हूं तब तलक तुम भगवद्धर्मके अधिकारी हो ही नहीं सकते. जब तुम्हारा देहाभिमान शिथिल हो, जब तक तुम्हारा भगवदाभिमान दृढ़ न हो, मेरे व भगवानके बीच देहका कोई प्रश्न ही नहीं है, लौकिक कामनाओंकी पूर्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है, पैसे कमानेका कोई प्रश्न नहीं है, प्रभुकी सेवा केवल प्रभुके सुखकेलिये करनी है, मेरी रोजी रोटी या धनलाभ पूर्तिकेलिए नहीं करनी, अपनी पूजाके अर्थ नहीं करनी - यह भाव दृढ़ हो तब भगवदधर्म स्वधर्म होगा, उसके पहले नहीं.

यह महाप्रभुजीकी बात हम बांचते नहीं हैं और एक बात बांच कर महाप्रभुजीके नाम पर सब गड़बड़ करते हैं. यह नहीं चलेगा. यदि तुम महाप्रभुजीके वफादार हो तो महाप्रभुजीके प्रत्येक वचनके वफादार रहो और इन वचनोंकी संगति विचारो, महाप्रभुजीके नाम पर मनगढंत सिद्धांत प्रचलित मत करो. महाप्रभुजीने प्रत्येक बात सुसंगत कही है. कहीं भी किसी प्रकारकी असंगति नहीं रहने दी -लोककी, शास्त्रकी, भक्तिकी, परमात्माकी. उससे पहले लौकिकता छूटनी चाहिये, उसके बादमें शास्त्रीयता छूटनी चाहिये. उसके बाद तुम निश्चयसे भक्तिके वास्तविक अधिकारी बन गये. लेकिन उससे पहले तुम शास्त्रीय कर्तव्योंको छोड़नेकी बात करते हो तो तुम तुम्हारी भक्तिको तुम्हारी लौकिक वृत्तियोंको संतुष्ट करनेकेलिये साधन नहीं बनाओगे उसकी क्या गारण्टी? और उसकी गारण्टी नहीं हो तो तुम्हें भगवद्भक्तिका अधिकार नहीं है. इस बातको स्पष्टतया समझ जाओ कि क्या करना है, क्या आदेश

है और उस आदेशानुसार हमको क्या करना है. महाप्रभुजीके सिद्धांतोंको पढ़े समझे बिना जो मनमें आये वैसा नहीं करना चाहिये.

सातवां श्लोक

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।
अत: सेवापरं चित्तं विधायस्थीयतां सुखम् ।।७।।

अन्वयार्थ:

सेवाकृति: गुरोराज्ञा :गुरु की आज्ञानुसार सेवा करनी चाहिये

बाधनं वा हरीच्छया :हरि की इच्छासे गुरु द्वारा उपदेशित सेवा की रीतिके विपरीत भी सेवा हो सकती है.

अत: :इसीलिय

चित्तं सेवापरं विधाय :चित्त को जिस प्रकार बने उस प्रकार सेवापरायण बनाकर

सुखं स्थीयतां :सुखी रहना चाहिये ।।७।।

भावार्थ:

प्राथमिक कक्षामें तो सामान्यतया गुरु द्वारा उपदेशित प्रकारका उल्लंघन न हो उस प्रकार ही भगवदसेवा

करनी चाहिये. ऐसे करते करते कोई भगवदाज्ञा गुरुकी आज्ञासे विरुद्ध हो तो चिंता नहीं करनी चाहिये और भगवदाज्ञानुसार करना चाहिये. गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन और पालन मुख्य बात नहीं है, मुख्य बात है भगवदसेवा; इसीलिये जैसे बने वैसे चित्तको भगवदसेवा परायण रखना चाहिये. भगवदसेवापरायणतासे ही अंतमें सच्चा सुख पुष्टि जीवको मिलता है।।७।।

अब कहते हैं **सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया. अत:सेवा परं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्.** . सेवा कैसे करनी? जैसे गुरुने आज्ञा दी तदानुसार. और गुरु अपने श्रीमहाप्रभुजी हैं. जिस बातका महाप्रभुजीने निषेध किया हो वह अपनेसे नहीं हो सकती, नहीं हो सकती और नहीं हो सकती. इस गुरु आज्ञाका उल्लंघन एक ही स्थितिमें हो सकता है : **बाधनं वा हरीच्छया.** सेवा अंतत: किसकी है? प्रभुकी. प्रभु यदि तुम्हें साक्षात् आज्ञा दें तो ही गुरुआज्ञाका उल्लंघन हो सकता है. बाकी कोई प्रवचन या प्रवंचनमें किसीने कहा और तुमने मान लिया - ऐसे श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं हो सकता. प्रवचनकर्ता चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, प.भ. हो अथवा प. भा. हो, किसीके कहनेसे हम महाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकते. महाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन साक्षात हरि प्रकट होकर करें तब ही हो सकता है.

मानवका मन कैसा है यह आचार्यचरणको, पिता-पुत्र दोनोंको बराबर पता है. इसी कारण इस विवरणमें

श्रीगुसांईजी बादमें स्पष्ट करते हैं कि **एवं सति गुर्वाज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या** उनको बराबर खबर है कि हरि आज्ञाकी छूट देंगे गुरुआज्ञा तोड़नेकी तो अकांडतांडव होगा. एक भाई जनतामें कहेगा कि मुझे हरिने साक्षात आज्ञा दी है कि तोड़ दो महाप्रभुजीके सिद्धांत. कल रातके चार बजकर तीनमिनटपर प्रकट होकर ठाकुरजीने आज्ञा दी कि मेरा प्रदर्शन करो, तमाशा करो. गुसांईजीको पता है कि तुम ऐसा ही कहोगे. तुम जागते भी होगे तो कहोगे कि रातके स्वपनमें आज्ञाकी. इनको खबर है यह सारे रहस्य कि मन भावे ऐसी भगवदाज्ञा मिलनेका तुम कैसा षडयंत्र रचोगे. इसलिये आप कहते हैं कि इसकी कसौटी है महाप्रभुजीकी आज्ञानुसार सेवा करनी आर भगवदाज्ञानुसार उसमें परिवर्तन करना, इसकी कसौटी क्या? जिससे हृदयमें भगवदसेवापरता बढ़े वह आज्ञा, बाकी सब कुछ तुम्हारे मनका बखड़जंतर है. भगवान भी प्रकट होकर ऐसी आज्ञा देते हों जिससे कि सेवापरता न बढ़ती हो तो समझना कि मनमें कोई तूत तो नहीं खड़ी हो रही भगवदआज्ञाकी? क्योंकि मन तो बहुत विचित्र है न! भगवान कहते हैं **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:** यह मन ही तुम्हें फंसाता है, मन ही तुम्हें बिगाड़ता है, और मन ही तुम्हें भगवानकी ओर ले जाता है. जिस भगवदआज्ञासे तुम्हारी सेवापरता बढ़ती हो वह आज्ञा महाप्रभुजीके सिद्धांतके विपरीत भी हो तो भी अनुसरणीय है. जो सेवापरता न बढ़ती हो तो अनुसरणीय नहीं है, भले ही साक्षात भगवदाज्ञा क्यों न हो. महाप्रभुजीकी आज्ञायोंका

उल्लंघन उन भगवदाज्ञायोंसे ही हो सकता है जिनसे तुम्हारे भीतर सेवापरता बढ़ती हो.

और सेवाका अर्थ महाप्रभुजीने स्पष्ट समझा दिया है कि नेग भोग रागके बखड़जंतरका नाम सेवा नहीं है. तुम्हारे धन और तुम्हारे तनसे तुम्हारे घर तुम्हारे ठाकुरजीकी सेवा - वह सेवा है, बाकी सब तो सेवा है ही नहीं - असेवा है. दूसरेके धनसेकी हुयी सेवा सेवा ही नहीं है. तो सेवामें परायणता बढती हो तो ही महाप्रभुजी तुमको छूट दे रहे हैं कि भगवदाज्ञाको अनुसरो और मेरी आज्ञाका उल्लंघन कर दो, तुम्हें कोई परेशानी नहीं आयेगी. पर जो भगवदाज्ञा तुम्हारी सेवा परता घटाती हो, तुम्हारी सेवाको व्यावृत्तिकी, स्पर्धाकी, संघर्षकी जैसी विकृत्तिमें परिवर्तित करती हो उसे पालनेकेलिये तुम बंधे नही हो. तुम कहोगे कि अपराध पड़ेगा ऐसी भगवदाज्ञाका उल्लंघन करनेसे, तो महाप्रभुजी कहते हैं कि मैं संभाल लूंगा. मैं प्रभुसे विनती करूंगा कि इसने मेरी आज्ञा पालनेमें आपकी आज्ञाका उल्लंघन किया है, इसे क्षमा कर दो. और वार्तामें आता है कि जब अनअवसरमें पंखाकी सेवा कर रहे थे तब प्रभुने आज्ञा की कि तू मेरे दर्शन कर तो उन्होंने ना कर दी कि मेरे गुरुकी आज्ञा नहीं है, मैं आंख नहीं खोलूंगा. क्योंकि इसमें अपने सुखका विचार है, प्रभुके सुखका विचार नहीं है. इससे सेवापरता बढ़ती नहीं, सेवा तो दर्शन किये बिना भी पंखा करकेकी जा सकती है. तो अपने सुखकेलिये महाप्रभुजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया जा सकता.

उससे समझो, कि जो भगवदाज्ञासे सेवापरता बढ़ती हो उसका अनुसरण करना चाहिये, भले ही श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञासे विरुद्ध हो. सेवापरता न बढ़े ऐसी भगवदआज्ञाका अनुसरण मर्यादा अनुसार कर्तव्य नहीं है; बाकी तो प्रभुने जैसी बुद्धि तुमको दी प्रदानकी है वैसे करो. परन्तु नियम यह है **अतः सेवा परं चित्तं विधायस्थीयतां सुखम्**. तुम्हारे चित्तमें सेवापरता जिस भी रीतिसे जाग्रत हो वैसा करो. जो तुम ऐसा कर सको; महाप्रभुजी अथवा प्रभुकी आज्ञासे तुम चित्तकी सेवापरता निभा सको तो श्रीगुसांईजी सुंदर आज्ञा करते हैं: **एवं सति पर्यवसितं सुखमेव**. फिर तुम्हें सुख ही सुख है पुष्टिमार्गमें, फिर तुम्हें चिंता होगी ही नहीं, उद्वेग होगा ही नहीं, क्लेश होगा ही नही. तुम आनंदसे पुष्टिमार्ग पर चल सकोगे. तुम्हें कोई अड़चन नहीं आयेगी. **यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्, धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेत् न स्खलेदिह**. महाप्रभुजी सुंदर उदाहरण देते हैं कि हम पहाड़पर आंख मींचकर दौड़ें तो नीचे गड्ढेमें गिरे बिना नहीं रहेंगे, परन्तु समुद्र किनारे रेती ऐसी होती है कि आंख मींचकर भी दौड़ो तो चोट नहीं आयेगी. तो भगवदमार्ग ऐसा ही है. परमानंद सागरके किनारे तुम आंख मींचकर दौड़ोगे तो जिस प्रकार यमुनाष्टकमें महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि वहां बालुका अधिक है, **रेणुत्कटाम्**, अर्थात यदि तुम वहां गिर भी जाओगे तो तुम्हें लगेगी नहीं. आंख मींचकर दौड़ोगे तो भी लीला ही कही जायेगी. परन्तु ऐसा विश्वास श्रीमहाप्रभुजी कब दे रहे हैं जबकि तुम सेवा करोगे तब. यदि तुम सेवाको ही विकृत

करोगे तो श्रीमहाप्रभुजी लाचार हैं तुम्हारे सामने. महाप्रभुजी कहते हैं **तदा सेवा त्यक्तव्या**. तुम सेवा छोड़ दो. तुमसे सेवा नहीं निभती, तुम प्रभुको परिश्रम देनेकेलिये सेवा कर रहे हो, प्रभुको सुख देनेकेलिये नहीं कर रहे हो.

ऐसे हमने देखा कि एकसे सात श्लोक तक जो चिंता हम करते हैं उनके निवारणका उपाय बतलाया गया है. तदअंतर्गत गुरुआज्ञानुसार सेवा करनी कि भगवदाज्ञानुसार यह भी एक चिंताका विषय था. क्योंकि गुरुआज्ञा तोड़कर भगवदाज्ञा पालें तो भी अपराध होता है और भगवदाज्ञा तोड़कर गुरुआज्ञा पालें तो भी अपराध होता है. उसका निराकरण सातवें श्लोकमें किया.

परिवारक प्रियजन, पुत्र अथवा किसी दूसरेके वियोगकी आशंकाकेलिये होते दुखसे पुष्टिजीवको कभी चिंता होती हो तो क्या करना? इसके जबाबमें श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं: -

आठवां श्लोक

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत् करिष्यति।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिंतां द्रुतम् त्यजेत्।।८।।

अन्वयार्थ:

हरि: :भगवान श्रीहरि

चित्तोद्वेगं	: चित्तमें उद्वेग
विधायापि	:पैदा करके भी
यद् यद् करिष्यति	: जो भी कुछ करना चाहते हों
तस्य लीला	: वह हरिकी लीला ही
तथैव इति	:वैसी ही है ऐसा
मत्या	:मानकर
चिंतां	:चिंताको
द्रुतं	:शीघ्र ही
त्यजेत्	:छोड़ देना चाहिये ।।८।।

भावार्थ:

भावार्थ स्पष्ट होनेसे श्रीप्रभुचरणने इसकी व्याख्या नहीं लिखी है.

व्याख्यान:

अब आठवें और नौवें श्लोकमें जो करते हैं उन चिंताओंके उपायका वर्णन नहीं आता परन्तु चिंताके उपायका वर्णन आता है कि जो जाने अनजाने हो जाती हैं. श्रीगुसांईजी कहते हैं **कदाचित पुत्र आदि वियोग शंका जनित दुःखेन चिंता संभवे** पुत्र अथवा पति अथवा कोई भी अपना स्नेही जिसके साथ मिलकर हम सेवा करते हैं, वह चला जाये तो चिंता अथवा उद्वेग हो कि नहीं? ऐसी चिंता हम करते नहीं हैं. यह तो उदाहरण है. ऐसी कोई भी वस्तु जिससे अपना परिवार भली प्रकार चलता हो और हम आनंदसे भक्ति करते हों, उसके जानेसे परिवारमें उथलपुथल मच जाये, तब हम चिंता करते नहीं हैं, चिंता हो जाती है. **मान न**

मान मैं तेरा मेहमान. अब यदि हम चिंता करते हों तो ऐसा कहा जा सकता है कि चिंता न करो, परन्तु यदि होती हो तो **न करो** ऐसा कहनेसे चिंता रुकती नहीं है. तब क्या करना? तो महाप्रभुजी चौथा उपदेश देते हैं. पहला उपदेश आत्मनिवेदनके चिंतन द्वारा चिंताको दूर करनेका था. दूसरा उपदेश प्रभुके स्वरुपका विचार करके चिंताको दूर करनेका था. तीसरा उपदेश गुरुआज्ञा व प्रभु आज्ञाके विवेकका विचार करके सेवापरताकी वृत्ति रखकर चिंता न करनेका था. अब चौथा उपदेश देते हैं : **चित्तोद्वेगं विधायापि हरिः यद्यत् करिष्यति, तथैव तस्य लीलेति मत्वां चिंतां द्रुतं त्यजेत्**.

महाप्रभुजीका हृदय प्यारसे, दयासे भर आता है, जबकि कोई पुष्टि जीव ऐसे संजोगोंमें पड़ जाता है. अर्थात ऐसी सहानुभूति आपकी वाणीमें अनुभूत हो रही है. गालिब कहता है **दिल ही तो है न संगो-खिश्त, दर्द से भर न आये क्यों**. यह दिल है, कोई ईंट पत्थर अथवा मशीन नहीं जो कि धड़धड़ करता है. तो यह दिल जब दर्दसे भर आये तब क्या करना? कोई बात नहीं. आज जो चिंता हो रही है वह संभव है कल निवृत हो जाये. क्योंकि कोई भी हृदय प्रभुन ऐसा नहीं बनाया कि जिसमें कोई भी वस्तु स्थायी रह सके. जैसे पानीमें डंडा मारें तो रेखा दिखलाई देती है, परन्तु कितने समय तक? वह निशान लंबा टिकता नहीं है. उससे उठी हुई जलमें तरंगें भी थोड़ी देरमें शांत हो जाती हैं. वैसे ही अपना हृदय भी पानी जैसा ही है. उसे यदि डंडा लगे तो थोड़ी देरकेलिये उथलपुथल होता

है. परन्तु हृदयमें प्रभुने एक सामर्थ्य दी है विस्मृतिकी. आज हुवे आघातको कल भूल जायेंगे. इसीलिये महाप्रभुजी कहते हैं कि उस उद्वेगको मरी मछलीकी तरह जीवित रखनेका प्रयास मत करो, उसे जल्दीसे भूल जाओ ऐसा प्रयास करो. भूल जाओगे तब उसके बाद कोई दिक्कत नहीं आयेगी.

इसीलिये सूतकमें हम सेवा नहीं करते, क्योंकि रोते मुंहसे प्रभुकी क्या सेवा करेंगे? अरे हृदयमें शोक हो और परमानंद प्रभुकी सेवा हो, यह संभव है क्या? जब हमारे हृदयमें ही शोक है तो उस हम किस प्रकार प्रसन्न करेंगे? इसीलिये ऐसा नियम है. उस समय तुम नाम लो, स्मरण करो उसमें कोई दिक्कत नहीं है, परन्तु सेवा नहींकी जा सकती. हम अपने बालककी इतनी सावधानी रखते हैं कि घरमें कोई गमगीनी हो जाये और सब रोते हों तो उसे दूसरे कमरेमें ले जाते हैं. बस यही भाव प्रभुके प्रति रखो. प्रभुको तुम्हारे दु:खका स्पर्श नहो, तुम्हारे आनंदका स्पर्श हो, तुम्हारे भावका स्पर्श हो ऐसा करो. अपने गमको तुम स्वयं ही झेल लो, उसे प्रभुकी ओर मत करो. जो फूंकनेकी वस्तु है उसका समर्पण नहीं होता. गम, चिंता, उद्वेग अथवा दवाकी गोलीका समर्पण नहीं होता. परन्तु जो आनंद लेनेकी वस्तु है भोजन, वस्त्रादि वह प्रभुको धराकर लेनी होती है. **यद्यत् इष्टतमं लोके यच्चाति प्रियमात्मन: येन स्यात् निवृत्तिश्चिते तत्कृष्णौ साधयेत् ध्रुवं**. जो तुम्हें अच्छा लगता है, जो तुम्हें सहज उपलब्ध है, जिसके मिलनेसे तुम आनंदका अनुभव करते हो, उसे भोगनेकी इच्छाको थोड़ी देर

स्थगित कर दो. प्रभुकी सेवामें उसका विनियोग कर प्रसाद रूपमें इनका आनंद लोगे तो भक्तिमार्गपर तुम आंख मींच कर दौड़ोगे तो भी तुम्हारा स्खलन नहीं होगा. इसीलिये महाप्रभुजी कहते हैं कि दर्द बढ़ न जाये ऐसा प्रयत्न करो. वह सेवामें बाधक नहीं हो इसके लिये जितना शीघ्र हो सके उतना उस पर काबू पानेका प्रयास करो. जब काबू पा लो तब फिर सेवामें तत्पर हो जाओ.

अब यह काबू पाना किस प्रकार? समझो जो कुछ हो रहा है वह प्रभुकी लीला है. प्रत्यक वस्तुको प्रभुकी लीला रूपमें स्वीकारनेकी मानसिक बौद्धिक और भावात्मिका शैली जाग्रत करो, दर्दको भुलानेका प्रयास करोगे तो जल्दीसे उद्वेग पर काबू पा सकोगे. बुद्ध चरि्त्रमें आता है कि एक स्त्री रोती रोती बुद्धके पास आयी और कहा कि मेरा लड़का मर गया, उसको जीवित कर दो. बुद्ध बोले कि मुझे भूख लगी है, तू किसी ऐसे घरसे मेरे लिये भिक्षा ले आ कि जिस घरमें किसीकी मृत्यु न हुयी हो. परन्तु ऐसा तो गांवमें कोई घर न था. तो उस स्त्रीका घर उसमें अपवाद कैसे हो सकता है? यह बात बुद्धने समझाई. यह वैराग्य मार्गीय उपदेश है. हमें वैराग्य जाग्रत नहीं करना, प्रत्येक बातमें भगवदानुराग जाग्रत करना है. इसीसे श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि भगवानकी ऐसी कोई लीला होगी. अपने यहां रुदन भी इस दुखसे होता है कि वार्तामें आता है कि **ठाकुरजीके खिलौने जैसा मेरा लड़का जाता रहा उसका दुख हो रहा ह, अब वह किससे खेलेंगे?** ऐसा रोना यदि आता है तो तुम्हारा

भक्तिभाव कभी भी खंडित नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा रोना भी भक्तिमय रोना है, ऐसे रुदनमें भी कोई दिक्कत नहीं है. प्रभुके संबंधका विचार करके जो रोना आता है कि **यह प्रभुने कैसी लीलाकी कि जा अपना खिलौना तोड़ दिया** तो कोई बात नहीं है. परन्तु ऐसे रोनेका खोटा ढोंग मत करना नहीं तो पाखण्ड हो जायगा.

एक बहिनने मुझसे कहा **मेरा छोकरा बहुत शैतान है**. मैंने कहा **लड़के तो शैतान होते ही हैं न**! वह बोली **परन्तु मुझे उसे पीटना भी पड़ता** है. मैने कहा **तो उसमें क्या हुवा?' मांको पीटनेका अधिकार है'** वह बोली **न न, पर मुझे उसे पीटनेके बाद रोना आता है और यह बदमाश जान चुका है इसलिये बोलता है कि पिटाई चाहे उसकी हो रोना तो मुझे ही पड़ेगा**. मांका हृदय तो ऐसा ही होता है कि जिसे पीटा उसे रोना नहीं आता और पीटनेवालेको रोना आता है. यह रुदन स्नेहका रुदन है, यह कोई ग्लानिका नहीं है, यह कोई रोनेका ढोंग नहीं है. ढोंगके रोनेमें व्यवहारकी, आडम्बरकी दुर्गन्ध आती है. सहज रोना भी सुगंध युक्त होता है और बेकार प्रसन्न होना भी दुर्गन्धयुक्त होता है. बेकार रोनेका ढोंग मत करो. **सहज प्रीति गोपालहि भावे**. सहज रीतिसे प्रभुका संबंध विचारकर तुम्हें रोना आता हो तो महाप्रभुजी कहते हैं कि इसमें कोई बात नहीं है.

नौवां श्लोक

ऊपर कही गयी सभी बातें अशक्य ही लगती हैं, क्योंकि नवधा भक्तिमेंसे पहली भक्ति श्रवण भक्तिसे शुरु करके जो सख्य भक्ति तक ऊपर चढ़ सकता है उसे तो आत्मनिवेदनकी बात कही जा सकती है. इस नवधा भक्तिमें प्रत्येक भक्ति दुराराध्य है तो अन्तिम आत्मनिवेदनकी दिशा भी मिलनी मुश्किल लगती है. फिर आत्मनिवेदनकी चिंता, अन्य विनियोगकी चिंता और उस पर भी उनके निराकरणका उपाय - सभी अनावश्यकसा लगता है. ऐसी आशंकाके निवारणकेलिये साधन फल कहकर एक ही बारमें सभीका समाधान देते हैं:

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ।।९।।

अन्वयार्थ :

तस्मात् :इसलिये

नित्यं :हमेशा

सर्वात्मना :प्रत्येक परिस्थिति में

श्रीकृष्णःशरणं मम :श्रीकृष्ण मेरे आश्रय हैं

ऐव सततं :ऐसे सतत

वदद्भिरेव स्थेयं :बोलते रहना चाहिये

इत्येव :यह ही

मे मति :मेरा निर्णय है।।९।।

भावार्थ:

क्योंकि कहे हुवे प्रकारसे तो सभी कुछ अशक्य लगता है इसलिये सर्वात्मना प्रभुकी शरणमें जानेसे प्रभु ही स्वयं सभी कुछ संपादित कर देंगे - ऐसा श्रीमहाप्रभुजीका भाव है. सभी भक्तिमार्गीय उपायोंका विचार करते हुवे यदि वहां आने वाले प्रतिबंध एवं अपनी अशक्ति ही केवल विचारमें आती हो तो प्रभुकी शरणमें सर्वात्मना जाना ही चाहिये. इस मंत्रका नित्य अर्थात निरंतर उच्चारण करते रहना चाहिये, नहीं तो कलिकालका आसुरावेश आये बिना रहेगा नहीं. अंतकरणमें आत्मनिवेदन वगैरह भाव स्थिर हो अथवा नहीं, परन्तु अष्टाक्षरका उच्चारण करते रहेंगे तो सुननेवालेको भी भगवदाश्रय दृढ़ होगा. अथवा ग्रंथमें कहा उस प्रकार सेवामें परायण रहना ऐसा अर्थ ले लेना. कोई यदि शंका करे कि यह भी अपने आपमें संभव नहीं है तो उसके उत्तरमें कहते हैं **जिस जीवका यह परमात्मा वरण करता है वह जीव ही परमात्माको मिल सकता है**. इस श्रुति वचनके आधारपर मेरा निर्णय यह ही है।।९।।

व्याख्यान:

तस्मात सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्ण: शरणं मम. वदद्भिरेव सततं स्थयमित्येव मे मति. तुमसे यदि चिंताका निवारण न हो सकता हो तो **अशक्ये वा**

सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः. मनसे, वाणीसे, कृतिसे जिससे बन सके उससे श्रीकृष्णःशरणंमम की भावना करो. तुम्हारा सभी कुछ प्रभु संभाल लेंगे. **अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः.** इस श्लोकका अर्थ कितने ही लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि ठाकुरजीके सामने अष्टाक्षर जपना. क्योंकि महाप्रभुजीने कहा है. ठाकुरजी भी परेशान हो जायेंगे कि बार बार क्या एक ही तरहकी कांउ कांउ कर रहा है. क्या मैं सुनता नहीं? क्या बहरा समझा है मुझे? हम ऐसे सभी विचित्र विचित्र प्रयोग ठाकुरजीके सामने करते हैं. ठाकुरजीको गीता सुनाते हैं कि **बहुनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुनः तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्य परं तप** तुमने और मैंने बहुतसे जन्म बिता दिये हैं, उसकी तुम्हें जरा भी जानकारी नहीं है पर मैं सब जानता हूं. भगवान कहेंगे कि **अरे भाई यह गीता मैंने तुझे सुनायी या तुझे मुझे सुनानी चाहिये?** घरमें कोई मेहमान आये और तुम शुरु करदो 'चिम्मन भाई, चिम्मन भाई' वह कितनी देर बैठेगा? उसको क्या मजा आयेगा यदि तुम ऐसे रटना शुरु कर दो तो? महाप्रभुजी ऐसा करनेका उपदेश नहीं दे रहे हैं. महाप्रभुजी तो कोई दूसरी ही बात कहना चाह रहे हैं कि जब तुमसे सेवा नहीं होती हो, जब तुमसे आत्मनिवेदनके भाव पर टिके रहना संभव न हो, जब तुम्हारे हृदयमें पुरुषोत्तमके स्वरूपकी निष्ठा न जाग्रत होती हो, जब गुरुआज्ञा या भगवदाज्ञाका विवेक करना तुम्हारी सामर्थ्यसे बाहर हो, जब प्रत्येक घटनाको भगवदलीला समझनेका विवेक तुम्हारे हृदय अथवा बुद्धिमें न हो तब क्या करना?

जब जब तुम्हें चिंता हो अथवा नित्य जिस समय जिस भी प्रकारसे तुम बोल सको उस प्रकारसे अष्टाक्षर बोलो. कृष्ण मेरे रक्षक हैं, मैं कृष्णकी शरणमें हूं, यह भाव जाग्रत करोगे तो धीमे धीमे तुम चिंतापर काबू पा सकोगे. इस प्रकार करनेका उपदेश है यह, ठाकुरजीके सामने माला लेकर बैठ जानेका उपदेश नहीं है यह. ठाकुरजीके सामने जप नहीं किया जाता, ठाकुरजीको गीता नहीं सुनाई जाती, ठाकुरजीसे गीता सुननी चाहिये. अपने भक्ति मार्गम तो अपने ठाकुरजीको पद सुनाने चाहियें, कीर्तन करने चाहिये. जिन्हें सुनकर प्रभुको भी आरोगनेमें रुचि उपजे, ऐसे पद सुनाने चाहियें. ऐसे पद गाकर प्रभुको जगाना होता है कि वह जागनेमें आनंद मान सकें. मैं सभी पतितोंका नायक और अधमाधम तुम्हें जगाना आया हूं ऐसा नहीं कहते, अपने आपको धिक्कारनेके भावसे प्रभुको नहीं जगाते, क्योंकि जागनेमें भी प्रभु मूडमें आने चाहियें. भक्ति मार्गमें होती चिंताकी निवृत्तिका कोई भी उपाय हम न अपना सकें तब क्या करना चाहिये, उसके उपदेशमें श्रीमहाप्रभुजीने इस अंतिम श्लोकमें कहा है कि यदि कुछ भी नहीं होता हो तो अष्टाक्षर जप सकते हो कि नहीं भाईसाहब? जो श्रीकृष्ण:शरणंमम बोलते रहोगे तो बोलनेकी प्रक्रियासे ही तुम चिंता पर काबू पा लोगे. अष्टाक्षर प्रभुको परेशान करनेकेलिये न जपो, अपने चित्तको उद्वेग रहित करनेकेलिये जपो, अपने हृदयमें, बुद्धिमें श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोको सर्वदा जाग्रत रखनेकेलिये जपो, विवेक धैर्य और आश्रयको निरंतर जाननेकेलिये जपो.

समाप्ति श्लोक -

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढर्यार्थमिदमुच्यते।
अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता।।१।।
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम्।
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः।।२।।
मयोज्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा व्रजाधिपम्।
भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुंचति कर्हिचित्।।३।।

इति श्रीश्रीविट्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः

भावार्थः

भक्तिमार्गमें जो प्रवृत्त होना चाहे उसके लिये यह उपदेश है. अंधे पुरुषको जिस प्रकार सूर्यकी कोई आवश्यकता नहीं है वैसे ही भगवदविमुख जीवको इस नवरत्नमें उपदिष्ट सिद्धांतोको समझनेकी गरज नहीं है।।१।।

भक्तिमार्ग रूपी अमृतके सिन्धुको अपने विचारसे मंथन करनेवाले श्रीमहाप्रभुजीने यह नवरत्न समान उपदेश प्रकट किये हैं. श्रीब्रजाधिपको हृदयमें धारणकर उन नवरत्नोंको मैंने भी उज्जवल किया है, जिससे कि भक्त ब्रजाधिपका भजन इस प्रकार करें कि वह कभी पुष्टिजीवोंका त्याग न कर सकें।।२-३।।

इस प्रकार श्रीविट्ठल दीक्षित द्वारा विरचित नवरत्न प्रकाश का भावार्थ समाप्त हुवा।।

व्याख्यान: ऐसे हमने देखा कि नवरत्नमें भक्तिमार्गको अनुलक्षित कर सारी बात कही गयी है, भक्तिके सिवाय दूसरा कोई भी विषय इसमें नहीं है. इसका कोई लौकिक हेतु नहीं है, इससे हमें कोई लौकिक हेतु विचारना भी नहीं चाहिये. इसीसे श्रीगुसांईजी आज्ञा करते है **भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढर्यार्थमिदंमुच्यते अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता।** जो कि भक्तिमार्ग पर प्रवृत्त हुवे हैं उनके भीतर भावकी दृढताके लिये नवरत्न उन्हें सौंपनेमें आया है कि एक एक रत्न तुम लो और उद्वेगका चिंताका तुम्हारा सारा दारिद्रय दूर हो जायेगा. परन्तु जो भक्तिमार्गसे विमुख हैं, जिन्हें कि भक्तिमार्गपर चलना ही नहीं है, जिन्हें भगवानके प्रति कोई भाव ही नहीं है, उन्हें नवरत्नका स्पर्श भी करना उचित नहीं है, क्योंकि वह नवरत्नको जानभी नहीं पायेगा और खो देगा. भक्तिमार्गपर चलनेकेलिये अपनी आत्माको शृंगारित करनेकेलिये इस नवरत्नका हार तुम्हें श्रीमहाप्रभुजीने दिया है कि भक्तिमार्गपर इसको भली प्रकार धारण करके चलोगे तो तुम ठीक तरहसे चल पाओगे. परन्तु तुम यदि भक्तिमार्गसे ही विमुख हो तो यह नवरत्न तुम्हारे लिये नहीं है. अंधेको सूर्यके प्रकाशकी गरज नहीं होती, क्योंकि उसे लकड़ी थपथपाकर ही चलना है. उसे सूर्य उगे भी तो क्या और अस्त हो तो भी क्या? उसी प्रकार श्रीगुसांईजी आज्ञा करते हैं कि भक्तिमार्गसे विमुखको इस नवरत्नकी गरज नहीं है. जो भक्तिमार्गके सिद्धांतोको

देख सकता है उसे यह नवरत्न पथ दिखा सकता है. **भक्तिमार्ग सुधा सिन्धोः विचारमथनैः स्वयम् स्फुटिकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्य पंडितै। मयोज्ज्वली कृतानीत्थं हृदि धृत्वा व्रजाधिपम्। भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुंचति कर्हिचित**। श्रीगुसांईजी कहते हैं कि इस नवरत्नको कहनेका प्रयोजन यह है कि तुम भजन करो तो चित्तके ऐसे उत्साहस आल्हादसे, निश्चिंत और निश्छल होकर कि तुम्हारा मुख देखकर प्रभुको तुम्हारी सेवा लेनेकी इच्छा हो जाये. अपनेको परोसनेवाला चिंताग्रस्त हो और रोते मुखसे थालीमें रोटी रखे तो खानेका मजा आयेगा? नहीं आयेगा. हंसता हुवा आये कि अभी एक और लो, अभी एक और लो, तो भूख न भी हो तो भी हमें न करनेके संकोचसे खानी ही पड़े. पर रोता आये, गुस्सा करता आये कि **फिर रोटी मांगी? लो. मौहल्लेसे आटा इक्ट्ठा करके आये कि तुम्हारी तो खुराक इतनी बढ़ गयी है कि घरमें आटा ही नहीं रहा तो पड़ौसीके यहांसे मांग कर रोटी बनायी, लो खाओ**. इस प्रकार रोटी फैंको तो परमात्मा कोई इतना भूखा नहीं है तुम्हारी रोटीका, यह निश्चित समझो.

हृदय तो अपना कदाचित पत्थर जैसा है कि इतना स्पष्ट सिद्धांत समझनेके बाद भी इसमें भाव प्रकट नहीं होता, पिघलता नहीं. अपनी जिद, अपना हठ, अपना दुराग्रह हम छोड़ते नहीं हैं. महाप्रभुजी कहते हैं कि घर में सेवा करो, हम कहते हैं **नहीं करेंगे**. महाप्रभुजी कहते हैं कि सार्वजनिक मंदिरमें सेवा नहीं होती; हम कहते हैं कि मंदिर जाना तो हमारा नित्य नियम है.

कैसा पत्थर जैसा हृदय है अपना! ऐसे हृदयमें भावका स्वरूप समझाते हुवे किसीको भूलसे चोट लग गयी हो तो मैं उसकी क्षमायाचना चाहता हूं. मेरा यह हेतु कदापि नहीं है कि तुम्हारे हृदयको किसीके प्रति द्वेषयुक्त अथवा अनादर युक्त करुं. मेरा ऐसा कोई तात्पर्य नहीं है. हम सभी पुष्टिमार्गीय हैं, श्रीमहाप्रभुजीके अनुयायी हैं. घरमें, परिवारमें, कोई आदमी बीमार पड़ जाये तो हम उसे धिक्कारते नहीं हैं, तिरस्कारते नहीं हैं. हम सावधानीसे उसकी सेवा सुश्रुसा करते हैं. वैसे ही महाप्रभुजीके संप्रदायमें कोई महाराज हों अथवा कोई बेटीजी हों या शास्त्रीजी हों अथवा वैष्णव हों, जो महाप्रभुजीका सिद्धांत जी नहीं सकते वह महाप्रभुजीके संप्रदायमें बीमार हैं. उन्हें धिक्कारने अथवा उनकी निंदा करनेको हम नहीं कह रहे हैं. यदि अपना संप्रदायका भाव दृढ़ हो तो जो बीमार हैं उन्हें बैड रैस्ट करना चाहिये - कि तुम्हें हार्टअटैक आया है अथवा मार्गके ऊपर चलनेमे लकवा मार गया है तो बैडरैस्ट लो, जल्दी मत करो. तुम्हें जो कुछ भी करना है वह मैं कर लूंगा ऐसा महाप्रभुजीका आशय है. कोई व्यक्ति महाप्रभुजीके सिद्धांतसे कुछ विपरीत कर रहा है ऐसा हमें लगता हो तो उसे धिक्कारें नहीं, तिरस्कारें नहीं, क्योंकि वह भी तो अपनो संप्रदायमें है. इन सिद्धांतोका अनुवाद मैंने तुम्हें इसलिये समझाया है कि हम समझ सकें कि महाप्रभुजीका सिद्धांत है क्या? अपनी श्रद्धाका कोई गैरलाभ न ले जाये अथवा अपने आप हम कहीं ठगे न जायें. श्रद्धा बहुत सुंदर वस्तु है, परन्तु श्रद्धाका अतिरेक हो तो किसी समय घोटाला भी

हो सकता है. हमारे बड़े मंदिरके सामने एक दरजीकी दुकानमें आग लग गई. तो रातमें सब सो रहे थे तो उनकी आंख खुली आगके शोर शराबेसे, तो किसीने पानी भर रखा था किसीने मिट्टी भर रखी थी, सभी आग पर डालने लगे. दमकल आनेसे पहले ही आग बुझा दी गयी. दमकलवाला आकर बैटरीसे कुछ देख रहा था तो उस पर भी पानी. वह बोला **भाइयों रुको, आग बुझ गयी है**. लाइट जलाई तो एक भाईने उस पर भी पानी डाल दिया. सब घबरा गये थे. ऐसे ही हम सब घबरा गये हैं कि अब अपने मार्गका क्या होगा? कौन बचायेगा? ऐसी कैसी आस्था दीनता अपने भीतर पैदा हो गयी? अरे अपना मार्ग बहुत सुदृढ़ सिद्धांतोके पायोंपर खड़ा किया है महाप्रभुजीने, घबरानेकी कोई बात नहीं है. महाप्रभुजीकी मर्यादाके अनुसार हम अभी भी अच्छी तरह जी सकते हैं.

अपना मार्ग पुष्टिमार्ग है. पुष्टिमार्ग अर्थात प्रभुकी कृपासे मिलता मार्ग. इसलिये जो केवल ५०० साल ही भगवान कृपालु रहते हों तो अपना मार्ग ५००साल तक ही सीमित रहेगा. पर हम सब घबराकर भागमभाग कर रहे हैं, ठीकसे चल नहीं पा रहे हैं मार्ग पर. महाप्रभुजीके नियमोंका, मर्यादाओंका विचार करो, तदानुसार चलो, और इस मार्ग पर चलते हुए कोई बीमार हो, कोई ठीक प्रकारसे चल न पा रहा हो, तो उसे समझाओ कि तेरे लिए पथ्य क्या है और कुपथ्य क्या है. उसे धिक्कारो नहीं, तिरस्कारो नहीं, उसके साथ स्पर्धा नहीं करो, व्यक्ति निंदाका भाव नहीं रखो, उस व्यक्तिके प्रति सहानुभूति रखो. पर सहानुभूतिका

अर्थ यह नहीं कि बीमारके साथ सहानुभूति रखते हुवे हम बीमारको जहर पिला दें. बीमारके प्रति सहानुभूति रखनेका अर्थ है कि दवाई पिलाओ और पुष्टिमार्ग पर स्वस्थ होकर चलनेकेलिये सबसे बड़ी औषधि महप्रभुजीके सिद्धांत और महाप्रभुजीकी वाणी है; उसका हम निरंतर अनुपान करते रहें ऐसी महाप्रभुजी हमारे ऊपर कृपा करें इस सदभावके साथ समापन करता हूं.

प्रवचनमें ऐसा एक प्राचीन नियम है कि आदि और अंतमें गुरुवंदना करनी चाहिये. आदिमें तो हम सभीको गुरुवंदना करना अच्छा लगता है परंतु अंतमें अच्छा नहीं लगता, क्योंकि छुट्टी हुई इसलिये भाग जाते हैं. परन्तु यह नियम हम पालेंगे.

चिंतासंतानहंतारो यत्पादाम्बुज रेणवः.
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः .
यदनुग्रहतो जन्तु सर्वदुःखातिगो भवेत्.
तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभ नन्दनम्.
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया.
चक्षुरुन्मिलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः.
नमामि हृदयेशेषे लीलाक्षीराब्धि शायिनम्.
लक्ष्मीसहस्त्र लीलाभिः सेव्यमानम् कलानिधिम्.
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा.
षडभिर्विराजते योऽसौ पंचधा हृदये मम.

oooooooooooooooooooooooo

समापन आर्शीवचन

वक्ता : गा. श्रीलालमणि बाबा

सबसे पहले तो मैं गुजराती भाषामें प्रवचन नहीं कर रहा हूं इसलिये आप सबकी क्षमा चाहता हूं. श्रीमहाप्रभुजीके चरणार्विन्दकी कृपासे हमने वागीश श्रीश्यामुबाबाकी वाणीसे श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धांतोका अवगाहन नवरत्नके प्रकाशमें किया. इस प्रकाशमें हमने पुष्टिपथपर चलनेका अनुकरणीय सिद्धांत श्रीश्यामुदादासे सुना. इस पुष्टिपथ पर चलते चलते कई चिंताओंका हमने निवारण किया और कई कुरुचिपूर्ण वेदनाओंसे हमने छुटकारा प्राप्त किया, परन्तु मैं अपनी बात कहूं तो उन चिंताओंसे छुटकारा पाते पाते कहीं मुझे एक नई चिंताका उदय होगा और वो हिम्मत करके मैं श्यामुदादासे कह ही दे रहा हूं कि जहां श्रीमहाप्रभु **कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता**. उपदेशसे हमें देहेन्द्रियप्राणांत:करणके अध्याससे छुटकारा देते हैं, वहीं हमने एक नये कैन्सरको कहांसे जन्म दे दिया ये हमारी समझ नहीं आया! देहन्द्रियप्राणांत:तकरण अध्याससे हम सेवा करते करते छूटे ही नहीं थे कि मनोरथाध्यास, भगवतप्रदर्शन अध्यास, असत्संगाध्यास इन सब अध्यासोंने मिलकर हमें हमारे सिद्धांतोंकी विस्मृति करा दी. अध्यासका मतलब यह होता है कि जो चीज जैसी है वैसी नहीं दिखकर कुछ और दीखना. जैस यहां अंधेरा हो और एक रस्सी पड़ी हो तो हमें रस्सी न दिखकर सांपका दिखना मतलब अध्यास यानि भ्रम. तो मनोरथोंका हमें अध्यास हो गया.

हम जिन्हें मनोरथ समझते थे आज तक, तो श्यामुबाबाकी वाणीसे हमें यह प्राप्त हुवा कि ये मनोरथ ही नहीं है, परन्तु कुछ और हैं, जो हमें अहंता और ममताकी ओर धकेल रहे हैं. जिन्हें आज तक हम प्रसाद समझ रहे थे और एक रुपयेमें खरीदते थे, वे केवल घसीटाराम हलवाईके लड्डू हैं, और कुछ नहीं, ये हमने श्यामुदादाके वचनामृतोंसे समझा. यानि हम केवल लड्डू ही खरीदकर लाते हैं, पर उनमें हमें प्रसादका भ्रम हो गया है. जहां हम दौड़दौड़ कर सत्संग करने जारहे थे, जिन्हें हम सत्संग समझते थे, वो दुसंग था, वह महाप्रभुजीकी वाणी नहीं थी. जिन भगवद्दर्शनोंको हम हमारी अहंताममता निचोड़कर भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जानेवाले समझते थे वही व्यवसायिक प्रयोजनवश कराये जाते भगवद्दर्शन हमारेलिये अपसिद्धांतका फंदा है यह आज जाना. पूतनाका अर्थ श्रीमहाप्रभुजी सुबोधिनीमें करते हैं **पूतां नयति इति पूतना**. जो पुत्रोंको ले जाये, हमारी पवित्र वस्तुओंको हमारे यहांसे ले जाये उसे हम पूतना कहते हैं. तो यह जो लोकेषणा और वित्तेषणा रूपी पूतनायें हैं वो हमारे **ब्रज भयो महरि के पूत** को कब यहांसे उठाकर ले गयीं, हमने कब उसे धनलिप्साके तृणावर्तको सौंप दिया यह हमें पता ही नहीं चला.

परन्तु फिर भी इन आठ दिनोंके प्रवचनको सुनकर मुझे दमलाकी वार्ता याद आ रही है. महाप्रभुजोने जब पूछा कि **श्रीनाथजीकी आज्ञा तूने सुनी**? तो दमलाने कहा **सुनी, पर समझी नहीं**. अगर

हम भी दमलाकी तरह श्यामुदादाकी आज्ञा सुनकर बाहर चले जायें कि **सुनी, पर समझी नहीं**. और फिरसे मनोरथाध्यास, प्रसादाध्यास और भगवत्प्रदर्शनाध्यासमें लग गये तो हम महाप्रभुजीकी निगाहामें गद्दार होंगे, और महाप्रभुजीके वल्लभ पीनल कोडमें **यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथंचन तदा कालप्रवाहस्था देह चित्तादयोप्युतः सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्** के अधिकारी होंगे और श्यामुदादाके शब्दोंमें पतितताका हम पर चार्ज होगा. केवल सुन लिया प्रवचन तो हमने दमलाकी वार्ता पूरी पढ़ी नहीं कहलायेगी. संपूर्ण वार्ता पर दृष्टिपात करें तो हमें दिखता है कि बादमें उन्होंने महाप्रभुजीकी वाणीसे महाप्रभुजीके सिद्धांत समझे और गुसांईजीको भी उनके घर सिद्धांत समझने पधारना पड़ा. और श्रीगुसांईजी एक बार हांसीखेल कर रहे थे तो दमलाने टोक दिया जाकर अपनी पुष्टिकी प्रौढी से कि महाराज यह हांसी खेलको मारग नाहीं, यह तापक्लेशको मारग है. आज अगर हमारेमें महाप्रभुजी बिराजमान हैं तो आपमें भी दमला बिराजमान हैं. और जिसदिन आपके भीतर हमला प्रकट होगा उस दिन हमारे भीतर महाप्रभुजो प्रकट होंगे. इसलिये आप अगर बाहर जाकर यह कह दें कि सुने पर समझे नहीं तो आपमें दमलाका नहीं पतितताका प्राकटय है. आप जैसे प्रकट करो, बाहर जाकर गुरुसे कहो कि महाराज, यह हांसीखेलको मारग नाहीं, मनोरथ और प्रदर्शनको मारग नाहीं, ये **नीके राख यशोदा मैया नारायण घर आयो**, को गुप्त रखनेका मार्ग है.

(१) जो कटोरी (गहने धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याकेलिये गोअन्कों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो (यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे)

{श्रीमहाप्रभु:घरुवार्ता - ३}.

(२) धनादिकी कामनापूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन- अर्चन आदि किये जावे हैं उनकुं कर्ममार्गीय समझने. उदरपोषणार्थ आजीविकाके उपार्जनके रूपमें जो श्रवण-कीर्तन-अर्चन आदि किये जावें उनकुं तो खेतीबारीकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहनो चहिये. मलप्रक्षालानार्थ गंगाजलकुं प्रयोगमें लावे जेसो वो निषिद्धाचरण हे; ओर एसो दुष्कृत्य करवेवालो पापभागी ही होवे है.

{श्रीप्रभुचरण : भक्तिहंस}.

(३) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

{श्रीगोकुलनाथजी-चतुर्थेश : २४ वचनामृत}

(४) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों राखे और श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते चौबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते. सो श्रीठाकुरजीकी पूंजीमेंते तो कासिदको दियो न जाई सो कमाईको टका दिये. तब इनकी मजूरीको राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, और नित्यको नेग बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो! या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई - आपुनी सेवा न भई - राजभोगको नागा माने. धैय यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्य खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये - दु:खक्लेश न पाये.

{श्रीहरिरायजी-द्वितीयेश:भावप्रकाश ८४
वैष्णवनकी वार्ता-७६}

(५) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोइ दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अंहकार तो बढ़े परन्तु वो भगवान्‌म कभी चोंट नहीं सके. भगवत्सेवार्थ कोइ दूसरेसूं पारिश्रमिक धन लिये जावेपे तो, जेसे पंडा-पुरोहितनकुं यज्ञयागादिको फल नहीं मिले परन्तु यजमानन्‌कुं ही मिले, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाय हे. यजमान, जेसे, दक्षिणा दे के पुरोहितन्‌के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे, वेसे ही भगवत्सेवा (आजकल जेसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्‌में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरहः अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई? वहां कर्ममार्गमे ंवो विहित होवेसे पुरोहितन्‌सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं हे. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध न होवेसूं, कोइ दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकार (निज घरमें निजपरिजनन्‌के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चाहिये.

{सुरतस्थ ३/२ गृहाधिपति श्रीपुरुषोत्तमजी:सिद्धा. मुक्ता.विवृ.प्रका.२}

(६) "अत्र गृहस्थानविधानेन, स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन -परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति, इति सूचितं भवति" अर्थात् यहां सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होवेसूं, अपने घरमें बिराजत ठाकुरजीकी सेवा छोड़ के कोइ दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्‌में, जेसे आजकल, भेंट-सामग्री चढ़ा के नित्य या मनोरथों की झांकी कर लेनो

वैष्णवन्‌ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वेसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्‌कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हा सके हे.
{श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी:भक्तिवर्धिनीव्याख्या २}.

(७) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू लाभके लिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे एसी रीतिसूं 'मेरो लौकिक सिद्ध होय' एसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय.
{श्रीनृसिंहलालजी महाराज:सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक १६-१७}

(८) श्रीउदयपुर दरबारकुं आर्शीवाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्वकी व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्‌की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्‌में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो ओर समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो एसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी हे ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्‌के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे. या ही तरह

आय-व्ययकुं भी उन-उन बहीखातान्में लिख्यो जायेगो जेसे कि हालमें लिख्यो जा रह्यो हे.

{नि.ली.गोस्वामितिलकायित श्रीगोवर्धनलालजी महाराज:डिक्लॅरेशन मिति भाद्रशुक्ला पंचमी सं.१९४८ ता.५/९/१८९३}

(९) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीकेलिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें.

{नि.ली.अमरेलीवाले गो.वागीशलालजीके आम-मुखत्यार : "अमरेलीहवेली व्यक्तिगत हे या सार्वजनिक" मुद्देपर सन् १९०९-१० में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी}

(१०) जेसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यथार्थ उपदेश लोगन्कुं देते हते; ओर मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने

बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

{नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्य-पंचमेश द्वारा मुंबईके वैष्णवन्कुं लिखित पत्र : 'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित}

(११) वकील: यदि कोइ भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोग केलिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो, "मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होव" ऐसे आपको कहनो हे?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्केलिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवे की कोई प्रक्रिया नहीं हे, ओर एसी सेवा की जाती होय तो वाकुं 'साम्प्रदायिक मन्दिर' नहीं कह्यो जा सके.

{सुरतस्थ ३/२ गृहाधिपति नि.ली.पू.पा.गो. श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराज : "नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक" विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी}.

(१२) ...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; ओर वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाये. श्रीगोकुलनाथजी

और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा हे. दूसरा कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित हे... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हें, वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हें, फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे हे, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवे में बहोत अनाचार होवे हे. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे... वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे.

{नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज राजनगर : वचनामृत-४८४-८७}.

(१३/क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ हे वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी हे. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगावशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हें, सो वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे ह. मोकुं तो श्रद्धा हे कि या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो हे.

(१३/ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा.

कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरण-दीक्षा' कहें हें तथा दूसरी दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हें. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने हे तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकर मिले हे. ब्रह्मसम्बन्धवालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के 'घर' ही कहलावे हें ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे हे.

{नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजो महाराज तृतीयेश: (१३/क) : श्रीमत्प्रभुचरणप्राकट्योत्सव ता. २४/१२/४८के दिन मुंबइके पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. (१३/ख) बयान: मूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या. १/४/६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७/११/६५}.

(१४/क) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यांग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ हे. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक हे. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य हे परन्तु सार्वजनिक नहीं. "करत कृपा निज दैवी जीवनपर" या उक्तिमें 'निज' शब्दको प्रयोग कियो गयो हे. दैवी जीव कहीं भी हो

सके हें परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि' को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हें! अपने मन्दिर कहां हें! आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकु जिवानो चाहें हे? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहते हौ तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं पामसेवापे भार रखो. .. भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहन्में सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं हे, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी हे; ओर जहां द्रव्य इकट्ठो होय हे वहीं अनर्थ हो जावे हे. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप यासूं ही हे.

{ नि.ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई-मद्रास: 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५ नि.लो. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई-मद्रास: 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५ नि.ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज मुंबई-मद्रास: 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५}

(१४/ख) हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाका पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां हे? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ हे? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा हे ''कृष्णसेवा सदा कार्या'' यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरिधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो कि घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार

जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत '१४/क' वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरश: सत्य हे. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ ओर सेवा करो.

(१४/ग) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं हे. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी हे "गृहे स्थित्वा स्वधर्मत:" (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचारण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हें. अत: आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य हे... अत: मेरो तो माननो यही हे कि आचार्यचरणक सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये ओर धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं कि मन्दिरन्में जाके... ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होनेवाली बात नहीं बल्कि अपनी प्रणाली भग करवेवाली बात हे.

{दहिसरमें श्रीगोवर्धननाथ हवेली ट्रस्टके संस्थापक पू. पा.नि.ली. गो. श्रीव्रजाधीशजीमहाराज : (१४/ख) 'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६५, (१४/ग) 'नवप्रकाश' अंक ८ वर्ष ८}

(१५/क) ओर जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट हे तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हें. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे हे, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो हे. देवद्रव्यको उपभोग

करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे हे. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग आरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारो को सारो प्रसाद गायनकुं खवा दियो. ये हे साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्त्को जा प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित हे.

(१५/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति हे. आचार सेवाको अंग हे, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार - पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं हे. भगवत्सेवा जेसे भी बने करो... गुरुघरन्में मत भेजो... यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध हे. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.

{नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज मुंबई-किशनगढ़ : (१५/क) "आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति" लेख पृष्ठ ७. (१५/ख) 'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५ में प्रकाशित वक्तव्य}.

(१६/क) जेसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश ओर लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी

आज्ञा हे, वसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हें... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय (दोष) लगे हे. जेसे गंगाजमुनाजलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(१६/ख) तन ओर वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य लगे ही हे. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो हे कि "तत्सिद्धयै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा हे वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक हे. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके हे. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यावसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे हे परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे हे. अतएव बजारके भावन्‌की घटबढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं... कोइ बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके बादमें समझ ले हे कि बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्तजा दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें: एक दुकनदार दुकान और मालकी खरीदीमें पूंजी लगा के व्यापार शुरु करे सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रह के जब तन भी व्यापारमें लगावे हे तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके विचार आते रहें: अच्छी तरह व्यापार केसे करूं - केसे व्यापार बढ़े... अत: पुष्टिमार्गें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

समझायी गयी हे कि भावपूर्वक भक्तक, तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.

{पू.पा.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज पोरबन्दर : (१६/क) 'सुधाधारा' पृ.११४. (१६/ख) 'सुधाबिन्दु' पृ. ७३}

(१७) वल्लभमतमें ये सिद्धान्ततः गलत हे ओर ऐसे देवस्थानन्‌के चढ़ावाको प्रसाद भी खायो नहीं जा सके हे, क्योंकि वहां देवलकत्व ही प्रधान हे. आजके युगकुं देखते भये जहां न्यास करनो आवश्यक हे वहां उपर्युक्त सिद्धान्तन्‌कुं ध्यानमें रखके ही न्यास करनो आवश्यक हे, जासूं देवलकवृत्तिसूं बच्यो जा सके. यदि एसी व्यवस्था नहीं की गइ तो देवद्रव्य होवेगो, जाके सेवन करवेसूं आचार्य स्पष्ट कहें हें कि नर्कपात होयगो.

{नि.ली.गो.श्रीरणछोड़ाचार्यजी प्रथमेश : "हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन (दि.२५/२/८१) पृ.१२}

(१८) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हें किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेके तकके अधिकारो नहीं हे. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत हे. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार हे. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन हे... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो

गयो हे, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध हे. अपने सम्प्रदायकी प्रणाली के अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हें, उनको ही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके हे. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय हे; ओर कदाचित् कहीं कियो जाता होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवे के कारण बन्द कर देनो चहिये.

{पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी-सप्तमेश : ''श्रीनाथद्वारा ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना (ता.१-२-५६)''}

(१९/क) प्रश्नः 'देवद्रव्य' कायकुं कहें हें? 'देवद्रव्य'को मतलब, देवको द्रव्य. एसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकु ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होय वाकुं 'देवद्रव्य' कहें हें. याही प्रकार गुरुकुं उद्देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय हे. प्रभुकी प्रसादी वस्तुकुं 'महाप्रसाद' कहें हें. या प्रकारके मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुख भेट धरे जाते द्रव्यकुं ओर ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके हे; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे हे परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही हे. याही कारण वैष्णवन्कु ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेनेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही हे.

(१९/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजी ने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं हे. यामें व्यक्तिगत स्वरूप, निजी स्वरूप, की ही बात हे; ओर याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जेसो नहीं हे. मन्दिरको निर्माण भी घर जेसो होवे हे. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे हें तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहें हें...

{'सेवा-देवद्रव्य-विमर्श' ग्रन्थके सहलेखक पू.पा. गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय सूरतस्थ ३/२ गृहाधीश : (१९/क) 'वैष्णववाणी' अंक३, वर्ष मार्च १९८३. (१९/ख) 'गुजरात समाचार' अंक २५/५/९३में प्रकाशित}.

(२०) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे हे... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हें. सेवा अपनकुं अपने घरन्में करनी हे.

{पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी संस्थापक - श्रीगोवर्धननाथजी मन्दिर, होलिवुड्.एन्.वाय्.अमेरिका: 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५}

(२१) प्रश्न: अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे हे?

उत्तरः सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे हे परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जेसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं हे. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने मांथे जो प्रभु पधराये जावें हें वे प्रभुस्वरूप ओर उनकी सेवा हरेकको व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हें. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण हे. पुष्टिमार्गीय सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय ह. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माताको पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व ओर अधिकार होवे हे. वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हें वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति हे... अतः इतनर हवेलीन्‌की तरह जेसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे हे. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती होय एसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जेसो वो मन्दिर नहीं हे.

{'सेवा-द्रेवद्रव्य-विमर्श' ग्रन्थके लेखक अ.सो.वा.पू. पा.गो.श्रीवल्लभरायजी सुरतस्थ ३/२ गृहगोस्वामी : 'पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं. १५७-१५८}.

(२२) श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्‌की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्‌गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती: प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोइ मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे हे. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घन्टानाद सुनाई पड़े हें. सेवा करवेकुं बैठी भइ वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती कि आरती घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय हे.

{श्रीमद्‌भागवततत्त्वमर्मज्ञा श्रीगिरिराजजीहवेली (बड़ौदा) संचालिका, अमेरिकामें सार्वजनिक मन्दिरार्थ स्वयंके सेव्य श्रीगोवर्धननाथजीके स्वरूप पधराके वहां नवपुष्टिचेतनाको संचार करवेवाली पू.पा.गो. सुश्रीइन्दिराबेटीजी: 'वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०}

(२३) "अति धन्यवादार्ह हे कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्‌कूं कोर्टमें समझाये"-- हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तनमनधनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हें".

{पू.पा.गो.चि.श्रीहरिरायजी(जाम.) के सिद्धान्तनिष्ठ पितृचरण नि.ली.गो.

श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज : मोकुं (प्रस्तत-सम्पादकको) भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रन्में}.

(२४) मैं तो एक बात कहनी चाहूंगो कि समाजके भीतर ओर अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो हे कि गुजरातके एक गांवमें... पुष्टिमार्गके ही, अपने सम्प्रदायके ही, दो मन्दिर हें ओर मन्दिरन्को दीवाल भी एक ही हें; परन्तु... ऐसी जबरदस्त प्रतिस्पर्धा वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई हे कि मानों एकदूसरेके साथ स्पर्धा करते होंय ऐसे. ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमे उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके हे! .. .जो शॉ-बिजनेस सम्प्रदायमें चल रह्यो हे वाको निवारण होय एतदर्थ एक सुन्दर चर्चासभाको आयोजन भयो हे... मेरी सविशेष विनंती ये हे कि एसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फजीहत जो सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे हे. भागवतमें भी लिख्यो भयो हे कि "गुर्जरे क्षीणतां गता"... अत: सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा कहीं साधनी होय तो... ओर श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तन्के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता होय तो... गुजरातमें एसी सभान्को आयोजन होनो चहिये...

{पू.पा.गो.चि.श्रीद्रुमिलकुमारजीमहोदय : "पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (दि.१०-१३ जनवरी, ९२. पार्ले-मुंबई) विस्तृतविवरण" पृ.३१७-३१८}.

(२५) पुष्टिमार्ग गुप्त हे, दिखावाकेलिये तो हे ही नहीं, भक्त ओर भगवानके आन्तरिक सम्बन्ध दृढ़ करवेको मार्ग हे... दोनोंके संबंध एसे होने चहिंये कि कोइ तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्‌के साथ क्या सम्बन्ध हे याकुं दूसरे कोइ व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या हे? प्रशंसा पावेकुं? स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं? ये तो सभी कुछ बाधक हें.

{पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी महोदय (श्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यपीठ अमरेली-कांदीवली-चम्पारण्य-सूरत) : 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२}

oooooooooooo

क्या आप पुष्टिमार्गीय नहीं है!

असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्।
निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थिति:।। (सिद्धान्त रहस्य)

ब्रह्मसंबंधके बिना सर्वदोषोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं अत: असमर्पित वस्तुका त्याग करना चाहिये. अतएव परिवानजनोंको भगवत्सेवामें सहयोगी बनाना चाहिये. इसी तरह अचेतन वस्तु गृह वित्त वस्त्र आभूषण आदिको भी उचित रीतिसे भगवत्सेवामें काममें

लाकर फिर अपने काममें लाना चाहिये. यह अपने भक्तिमार्गकी निर्दुष्ट मर्यादा है (उपरोक्त श्लोक ४–५ की श्रीपुरुषोत्तमजीकी व्याख्याका हिन्दी–अनुवाद).

बीजदाढर्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा......कृष्णं भजेत

(भक्तिवर्धिनी)

अपने मार्गमें भगवद्भजन घरमें रहे बिना सम्भव नहीं है. घरमें रह कर किये जाते भगवद्भजनके प्रकारके अलावा भगवद्भजनका अन्य कोई प्रकार है ही नहीं. अतः भगवद्भजनानुकूल गृहमें रहकर स्वधर्मतः श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये (उपरोक्त श्लोककी श्रीगोकुलनाथजी कृत व्याख्या).

कृष्ण सेवा सदा कार्या ......तत्सिद्धयै तनुवित्तजा

(सिद्धान्त मुक्तावली)

भगवद्सेवार्थ दूसरेका धन लेना या दूसरे किसीको धन देना भगवत्सेवा करनेकी उचित रीति नहीं है. अतएव श्रीमहाप्रभु **तनुजा सेवा** या **वित्तजा सेवा** यों दो तरहकी अलग अलग सेवा करनेका उपदेश देते नहीं हैं. परन्तु **तनुवित्तजा** पदके प्रयोग द्वारा एक ही प्रकारकी सेवा करनेका उपदेश दे रहे हैं (उपरोक्त श्लोककी श्रीप्रभुचरणकृत विवृति)

सेवा करनेकेलिये किसी दूसरेको धन देनेसे अंहकार बढ़ जाता है. सेवा करनकेलिये दूसरे किसीका धन लेनेसे सेवा निष्फल बन जाती है। (उपरोक्त विवृतिकी श्रीपुरुषोत्तमजीकृत व्याख्या)

दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने

(श्रीप्रभुचरणकृत नवरत्न प्रथम श्लोककी विवृति)

प्रभुको दानरूपेण अर्थात् भेंटके रूपमें कुछ भी धरा जाता हो वह देवद्रव्य बन जाता है. अत: अपने उपयोगमें आ नहीं सकता, परन्तु हम स्वयं जो अपने माथे बिराजते प्रभुकी सेवामें निवेदित समर्पित–विनियुक्त करते हैं वह देवद्रव्य नहीं बनता अत: पुन: अपने काममें भी लाया जा सकता है (उक्त विधानकी व्याख्या).

तब एक वैष्णवने शंका कीनी जो महाराज ! वा दिन आपुने राजभोग ताईंको प्रसाद गोअनको खवायो और श्रीयमुनाजीमें पधरायो ताको कारण कहा? तब आप कहे जो कटोरी (गिरवी) धरिके सामिग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यको आरोगे सो तो आपही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नांहि अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमें ते भोजन करवेको अपनो अधिकार न हतो. वाके लियें गोअनकों खवायो अरु श्रीयमुनाजीमें पधरायो.

कौण्डिन्यो गोपिका प्रोक्ता गुरव: साधनं च तद्भावो भावनया सिद्ध: साधनं नान्यदिष्यते।। (सन्यास निर्णय)

गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत्.... एतेन यावद् अन्त:करणे साक्षात् प्रभो: प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहि: आविष्करणं भवति. प्राकट्ये तु तथा न सम्भवति. (अणुभाष्य ३/४/४९).

पुष्टिभक्ति ब्रजभक्तोंके भावोंकी भावनाके साथ करनी चाहिये, दूसरे किसी साधनकी अपेक्षाकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी भाव यदि गुप्त रहता है तभी वृद्धिगत हो सकता है. अत: आश्रम धर्मोंकी ओटमें अपने भगवद्भावको छिपाये रखना चाहिय. जिसके हृदयमें भगवान् बिराजते नहीं हैं वही व्यक्ति अपने भावोंको जनतामें प्रदर्शित कर सकता है. प्रभु, यदि, हृदयमें बिराजते हों तब बहिराविष्करण सम्भव नहीं (पूर्वोदाहृत दोनों वचनोंकी एक वाक्यताके साथ अनुवाद).

कृष्णसेवापरंवीक्ष्यदम्भादिरहितंनरम्। श्रीभागवततत्वज्ञंभजेत् जिज्ञासुरादरात्।। तदभावे स्वयं वापि मूर्ति कृत्वा हरेः क्वचित्। परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्ररूपं तत्रा च स्थितम्।। (सर्वनिर्णय २२७)

जो गुरु भगवत्सेवाको उत्तम मानकर अन्योंको सेवाका उपदेश देता हो तो स्वयं भगवत्सेवामें तत्पर क्यों नहीं रह सकता? अत: भगवत्सेवाम तत्पर पुरुषको ही गुरु बनाना चाहिये. वह भगवत्सेवा दम्भ (धनसंग्रहार्थ शिष्यजनसंग्रहार्थ संगठन संग्रहार्थ अथवा कीर्तिसंग्रहार्थ) आदि हेतुसे प्रेरित नहीं होनी चाहिये. क्योंकि सिद्धान्तके अनुसारकी जाती सेवा ही पुरुषार्थरूपा होती है. मनमें कुछ प्रयोजन रखकर बाहरसे सेवापरायणताका दिखावा करनेपर सेवा सफल नहीं होती. गुरु जिसे बनना हो उसे यह आवश्यक है कि वह भागवतके प्रमुख सिद्धान्त या तत्वोंका जानकार भी हो. ऐसा यदि गुरु न मिलता हो तो कहीं रह कर स्वयमेव भगवत्स्वरूपकी सेवामें तत्पर हो जाना चाहिये

(उपरोक्त कारिकाओंकी श्रीमहाप्रभुकृत व्याख्याका अनुवाद).

...तेन गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति. युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. किञ्च ऋतोत्तरम् अमृताख्याया: उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य तु एवं संकोचे तस्यामपि प्रशस्तत्वसि)% (श्रीपुरुषोत्तमजी कृत स्ववृत्तिवाद)

...इससे यह सिद्ध होता है कि गुरुके रूपमें हमें दी जाती चरणभेंट द्वारा ही हमें हमारा निर्वाह चलाना चाहिये, यही उचित रीति है. अन्यथा कुछ भी उपकार किये बिना किसी दूसरेका धन लेना तो ऋणकी तरह होता जिसे न चुकाने पर पाप लगता है, बिना मांगे जो मिलता हो उसमें भी शिष्यके द्वारा गुरुभावनाके साथ जो दिया जाता हो उसीसे निर्वाह चलानेका व्रत लेना और भी प्रशंसनीय है (उपरोक्त स्ववृत्तिवाद का अनुवाद).

चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चण्डालमेव। स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद्।। देर्वाचन परो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्। स वै देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हित: ।। (श्रीपुरुषोत्तमजी कृत द्रव्यशुद्धि)

शव, शवदाहार्थ प्रयुक्त काष्ठ, रुधिर आदि अपवित्र वस्तु, मरे जानवरकी खाल निकालकर बेचनेवाला तथा देवलकका स्पर्श होने पर सवस्त्र स्नान करके ही घरमें प्रविष्ट होना चाहिये. धन कमानेकेलिये अर्थात् आजीविकाके रूपमें जो तीन वर्ष पर्यन्त देवपूजा करे उसे अपवित्र देवलक समझना चाहिये (उपरोक्त कारिकाओंका अनुवाद).

ततो भागवतं कृतम्, एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेनुपजीवनात्...पठनीयं प्रयत्नेन सर्व हेतु विवर्जितं, वृत्त्यिर्थं नैव युंजीत प्राणैः कण्ठगतैरपि, तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेद~ (सर्वनिर्णय)

श्रीमद्भागवतके अभ्याससे सब कुछ सिद्ध होता है, किन्तु शर्त यही है कि भागवतका उपयोग आजीविकार्जन हेतु नहीं होना चाहिये. भागवतका पाठ सर्वथा प्रयोजन रहित ही करना चाहिये (अर्थात् चन्दा एकत्रित करना बिगेरे हेतुवश भी नहीं). आजीविकार्जनार्थ तो प्राण आकर गलेमें अटके हों तब भी भागवतका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये (उपरोक्त कारिकाओंका अनुवाद)

इस तरहके श्रीमहाप्रभुके इन सिद्धान्तोंसे सर्वथा विपरीति सार्वजनिक न्यास अथवा सावंजनिक निजी मन्दिरोंमें चलती भगवत्सेवाके मखौलमें सम्मिलित होकर, वहां नित्य नियमके साथ दर्शन करने जानेके दुराग्रहके कारण, धनोपार्जनके हेतु किये जाते मनोरथोंकी झांकीके धरमधक्केको आर्थिक या सक्रिय प्रोत्साहन देकर, देवद्रव्यसे धरनेमें आती भोग सामग्री, कि जिसे लेनेपर श्रीमहाप्रभु हमें **महापतित** गिनते हों, उसे मोहवश लेकर, चन्दा एकत्रित करनेको की जाती भागवत सप्ताहोंको आर्थिक या अन्य रीतिसे प्रोत्साहन देकर हमने अपने श्रीमदाचार्यचरणके साथ जबरदस्त विश्वासघात किया है.

इसके परिणामस्वरूप अपने देशके उच्चतम न्यायालयने अपने सिद्धान्तोंकी अवगणना करके तीन–तीन फैसले अपने विरुद्ध दिये हैं. अपने आपको

वैष्णव कहनेवाले सम्प्रदायद्वेषियोंकी हलकी बातें न्यायाधीशोंके गले उतर जाती हैं परन्तु अपने दिव्य सिद्धान्त उनके गलेमें उतरते नहीं हैं. पारिवारिक भावनासे पहले दी गई वैष्णव जनताको अपने सेव्य प्रभुके दर्शन करनेकी छूट के दुष्परिणामतया आज अपने सम्प्रदायके धर्मगुरुओंको पूजारिपनके निम्न स्तरपर फेंक देनेके सम्प्रदाय विरोधी षडयन्त्र सफल होने जा रहे हैं. अन्तमें इन षडयन्त्रोंके शिकार हुये हताश गोस्वामि महानुभाव एक दिन स्वयंको देवलक पूजारि ही मान लनेकी हीनताग्रन्थीसे बंध जायेंगे. अपने दिव्य सम्प्रदायकी ऐसी दुर्गति करनेके अपराधी अनुयायी वैष्णव लोग हैं कि धर्माचार्य महाराजश्री इस विवादका समय बीत गया है.

आईये ! हम श्रीमहाप्रभुसे अपने दुष्कृत्य की क्षमायाचना करें और शपथ लें कि :--

(१) जो अपने माथे न बिराजते हों ऐसे श्रीठाकुरजी के दर्शन करनेका नित्यनियम नहीं लेगें कि जिससे कोई भी पुष्टिप्रभुको नन्दालय छोड़कर सार्वजनिक अनाथालयमें बिराजनेका परिश्रम पड़े कयोंकि अपने इस तरहके दुष्कृत्यसे आम जनताका कानूनी अधिकार पैदा होता है.

(२) जो मनोरथ मनोरथीके स्वयंके धनसे स्वयं अपने माथे बिराजते सेव्य स्वरूपका तथा अपने निजजनोंके साथ न मनाया जा रहा हो ऐसे मनोरथोंमें, भेंट सामिग्री देकर अथवा दर्शन करने जा कर श्रीमहाप्रभु आदिके सर्वस्व निधि स्वरूपों, सम्प्रदाय या सिद्धान्तके साथ अब हम कभी विश्वासघात नहीं करेंगे.

(३) सार्वजनिक मन्दिरोंमें श्रीमहाप्रभुके सिद्धान्तसे विपरीत देवद्रव्यसे अथवा गैरब्रह्मसंबंधी दर्शनार्थिओंके द्रव्यसे धरनेमें आती भोग–सामिग्री श्रीपुष्टिप्रभु या तो आरोगते ही नहीं हैं या फिर देवद्रव्यसे आरोगी हुई सामग्रीका प्रसाद लेना श्रीमहाप्रभुने पातित्यकारी माना है, अतएव किसी भी सूरतमें प्रसाद लेना ही नहीं चाहिये. अतः सार्वजनिक मन्दिरका प्रसाद हम कभी लेंगे नहीं.

(४) चन्दा एकत्रित करनेकेलिये आयोजित किये जाते भगवन्मनोरथ या भागवत सप्ताहमें दर्शन–श्रवण करनेके हेतु हम कभी जायेंगे नहीं, ताकि साक्षात् भगवत्स्वरूप या भगवद्प भागवत पुराणके क्रय या विक्रयके हम अपराधी बन जायें.

आज दिन तक जो हमसे श्रीमहाप्रभुकी आज्ञाका उल्लंघन, चाहे अज्ञानवश या मोहवश प्रमादवश, हुवा हमारे ऐसे सभी अपराधोंको श्रीपुष्टिप्रभु श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण क्षमा करें; और पुष्टि सृष्टिके सभी जीवोंको पुष्टिपथकी यात्रामें सिद्धान्ताभिमत दिशामें अग्रसर होनेकी मति रति तथा क्रिया शक्ति प्रदान करें !

बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पाद पद्मं प्रसीदतु !

....